दीवान-ए-सराय 01

मीडिया विमर्श://हिन्दी जनपद

दीवान-ए-सराय 01

मीडिया विमर्श://हिंदी जनपद

सराय: नव संचार पहल
विकासशील समाज अध्ययन पीठ का कार्यक्रम
29, राजपुर रोड, दिल्ली - 110054, भारत

वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2

2002

दीवान-ए-सराय 01: मीडिया विमर्शः// हिन्दी जनपद

डिज़ाइन और प्रस्तुतिः सराय मीडिया लैब, सराय, दिल्ली

संपादन:
श्रृंखला संपादकः रविकान्त
इस दीवान के संपादकः रविकान्त + संजय शर्मा

पुस्तक सज्जा:
डिज़ाइनः मृत्युंजय चैटर्जी + रेणु अय्यर
कवर डिज़ाइनः मृत्युंजय चैटर्जी
डिज़ाइन संयोजक + फ़ोटॉग्रफ़ीः मॉनिका नरूला

उत्पादन:
अनुवादः योगेन्द्र दत्त, अनिल कुमार, भास्कर जुयाल, प्रभात कुमार, देवानंद, सारिन, संजय शर्मा, रविकान्त
कॉपी संपादनः श्वेता, योगेन्द्र दत्त, सोहन पाल
सहयोगः सोहन पाल, आर. एस. आनंद

प्रकाशक:
सरायः नव संचार पहल
विकासशील समाज अध्ययन पीठ का कार्यक्रम
29, राजपुर रोड, दिल्ली - 110054, भारत
फ़ोनः (+91) 11-396 0040, फ़ैक्सः (+91) 11-392 8391
ई-मेलः dak@sarai.net
वेबसाइटः http://hindi.sarai.net & www.sarai.net

वाणी प्रकाशन
21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली - 110 002

दिल्ली, 2002

इस किताब के किसी भी हिस्से के शैक्षिक और ग़ैर-व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए प्रकाशक से इजाज़त लेने की ज़रूरत नहीं है. अलबत्ता लेखकों और प्रकाशकों को इत्तला कर दें तो उन्हें बेहद खुशी होगी.

मुद्रकः नागरी प्रिंटर्स, दिल्ली - 110 032

ISBN - 81-901429-2-5

दीवान-ए-सराय वेब पताः http://hindi.sarai.net/deewan/deewan01.html

अनुक्रम

भूमिका iv

विरासत: प्रिंट/रेडियो/टीवी

हिन्दी पत्रकारिताः प्रिंट संस्कृति के बदलते परिदृश्य (1900-1940) *अविनाश कुमार* 1
हिन्दी पब्लिक स्फ़ियरः हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया *फ्रंचेस्का ओरसीनी* 15
'बाज़ारू' साहित्यः औपनिवेशिक उत्तर भारत में अश्लीलता विवाद *चारु गुप्ता* 30
ओड़िया बनाम बांग्लाः भाषा विवाद और ओड़िया सांस्कृतिक पहचान *प्रगति महापात्र* 49
हिन्दी में कवर ड्राइवः भूमंडलीकरण के दौर में युयुत्सु क्रिकेटीय राष्ट्रवाद *अभय कुमार दुबे* 56
मास मीडिया और साहित्य *मनोहर श्याम जोशी* 71
'लुगदी' साहित्य के अँधेरे-उजाले *प्रभात रंजन* 82
इस प्रपंच में सिर्फ़ स्त्री न थी *सुधीश पचौरी* 92
बीबीसी तरंगों पर उड़ते-उड़ाते *संजय शर्मा* 98
टेलीविज़न सत्याग्रह के वे दिन *बापसी सिध्वा* 103
एसटीडी/आईएसडी *मॉनिका नरूला* 106

भाषा के बोल:

ये ख़लिश कहाँ से होती... *आलोक राय >< संजय शर्मा >< शाहिद अमीन* 112
...जो जिगर के पार होता *शाहिद अमीन >< आलोक राय >< पलाश कृष्ण मेहरोत्रा* 119
शहर के निशां *सदन झा/प्रभाष रंजन* 134

संचार के नवाचार: संदर्भ और विकल्प

भारत में मीडिया और राज्यः कालक्रम *जीवेश बागची* 138
इंटरनेट का संक्षिप्त इतिहास *ब्रूस स्टर्लिंग* 146
आधुनिकता के पुनर्संस्करणः भारत की दो नंबरी इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति *रवि सुन्दरम* 153
चारदीवारी के भीतरः आईटी उद्योग में काम का निजी तजुर्बा *मृत्युंजय चैटर्जी* 162
हिन्दी वेब जगतः भविष्य का इतिहास *रविकान्त* 172
कॉपीलेफ़्ट क्या है? 183
आग का कॉपीराइट! *इयान क्लार्क* 185
सॉफ़्टवेयर किसी की मिल्कियत नहीं होनी चाहिएः क्यों? *रिचर्ड स्टॉलमैन* 187
कुछ भ्रामक/द्विअर्थी शब्द और जुमले... जिनसे बचना चाहिए 192
पायरेसी आपकी दोस्त है *जैरोन लैनियर* 195
हैकर नैतिकता 197
कॉपीराइट का पुनर्मूल्यांकनः केंद्र में जनता ही रहे *रिचर्ड स्टॉलमैन* 198
टैक्टिकल मीडियाः एक अंतरंग निर्देशिका *गीयर्ट लोविंक* 205
डिजिटल युग में पुस्तक का भविष्य 220

रॉजर शार्तिए > हॉवर्ड राइनगोल्ड > उएनो चिजुको > थेन्स वोन्नायान्नावा

भूमिका

विचार को तंग लिबास पसंद नहीं
- उम्बर्तो इको

अपनी देखन में छोटन लगत किताब *हिन्दी नैशनलिज़्म* में आलोक राय एक बड़ी मारक बात कहते हैं कि हिन्दी में गुज़िश्ता दिन और आने वाले दिन के लिए एक ही शब्द का होना अकारण नहीं हैः बीता हुआ 'कल' हिन्दी जनपद को कल नहीं पड़ने देता है।

लिहाज़ा, बात 'विरासत' से ही शुरु करने में विवेक है। लेकिन पाठक शायद महसूस करें कि विरासत इस दीवान का प्रस्थान बिन्दु भले हो, उसकी क़ैद नहीं है। विरासत वह वैचारिक धरोहर का अरक्षित अक्षयवट भी नहीं है जहाँ से हम अपनी तमाम मौजूदा परेशानियों का मर्ज़ी-मुताबिक़ हल तोड़ लाएं। जो परंपरा को मन्दिर मानते हैं, वे वहां हृदय-भर आस्था लेकर जाते हैं, मत्थे टेकते हैं और चुटकी-भर प्रसाद लेकर परम प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं। काश, विरासत डॉ राही रज़ा का वह मासूम गाँव होती जहाँ मन्नतें मन्नतों से टकराती तो रहती हैं पर उस दुनिया में कोई तूफ़ान नहीं आता — किसी की मन्नत पूरी नहीं होती है तो वह अपने ही भक्ति-भाव में खोट ढूँढ़ लेता है और जोशो-ख़रोश से अगली मन्नत की तैयारी करने लगता है। काश, विरासत से लेन-देन का ऐसा कोई सहज-सुलभ रिश्ता बन पाता। लेकिन एक दूसरे अर्थ में, विरासत में हमें आधे गाँव ही मिलते हैं; विरासत अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी.... की बाँट में ही मिलती है, परंपराएं अगर उपलब्ध हैं तो खंडित रूप में ही। और यह दीवान भी विरासत को सम्पूर्णता में न देखकर चंद खंडित रूपों पर चर्चा का एक खंडित आयोजन है।

'हिन्दी जनपद' से हमारी मुराद क्या है? हिन्दी साहित्य का जनपद? यहाँ साहित्य लगभग सिरे से ग़ायब है, आता भी है तो मीडिया का सन्दर्भ-बिन्दु बनकर। लेकिन यह बात अब उत्तरोत्तर बढ़ती शिद्दत के साथ महसूस की जा रही है कि उत्कृष्ट साहित्य की अदभुत सम्पदा के बावजूद उसके प्रति अतिरिक्त मोह ने हिन्दी को एकांगी बनाया है, उसकी वैचारिक संभावनाओं के विकास को कुंद किया है। इतिहास यह भी बताता है कि हमेशा से ऐसा नहीं था। लेकिन काफ़ी समय से तो ऐसा चल ही रहा है। हिन्दी बौद्धिकों का शुचितावादी आग्रह, जो साहित्येतर अनुशासनों/विधाओं को हेठ समझता है, एक गंभीर समस्या है। नैतिक दुराग्रहों में लिपटा यह विमर्श आमतौर पर प्रिंटोत्तर मीडिया को गहरे शक की निगाह से देखता है। साम्प्रतिक साहित्य-केन्द्रित छप-मीडिया को पढ़ते हुए कई बार ऐसा लगता है जैसे कलिकाल आ धमका है, अपनी जानी-पहचानी दुनिया ध्वंस के कगार पर है, नैतिक वज्रपात हो रहे हैं, दैनदिन 'नंगई' हो रही है, अपसंस्कृति फैल रही है और न जाने क्या-क्या। कुल मिलाकर लगता है कि 'विश्वायन' या वैश्वीकरण के रूप में सर्वथा शत्रु-जीवी हिन्दी को एक नया शत्रु, सर्वशक्तिमान, सर्वोपस्थित खलनायक मिल गया है। इस विचार दृष्टि के प्रभुत्व का एक साफ़ घाटा यह हुआ है कि संचार के अभिनव रूप भी अविच्छिन्न तौर पर विश्वायन-जन्य दीगर हिंसाओं से जुड़कर एकमुश्त निंदा के शिकार हो गए हैं।

अब ज़ाहिर सी बात है कि किसी भी भाषा के कई दीवान या रजिस्टर होते हैं, सब उतने ही समृद्ध हों ज़रूरी नहीं और हिन्दी के एकलहू या एकनिष्ठ होने के दोष को सिर्फ़ साहित्य या सहित्यकारों के पाले में डाल देना अपनी ज़िम्मेदारियों से आज़ाद होने की एक चालाक कोशिश है। दोष सच पूछिये तो इस इलाक़े के हम जैसे दुभाषियों का ज़्यादा है, जो सत्ता की भाषा सीख कर सिर्फ़ उसी में लेखन करते हैं, संघर्ष की भाषा में नहीं। संघर्ष की भाषा इसलिए भी कि उभयचरों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी अकर्मण्यता के बाद एक दुष्चक्र तो बन ही चुका है। साहित्य सब के बस की बात नहीं और हिन्दी में साहित्य के अलावा कुछ भी कर पाना एक मुसीबत हैः शब्द नहीं मिलते, संन्दर्भ स्रोत नहीं मिलते अवधारणाएं नहीं मिलतीं, वैचारिक स्फुरण नहीं मिलता। पूर्व-पीठिका नहीं है। दूसरी मुसीबत है हिन्दी जनपद का सरकार-मुखापेक्षी होना, जिसकी जड़ में बतौर राजभाषा के इसकी अहम्मन्यता है। एक ऐसी अहम्मन्यता जो इसको अपनी जड़ों से ही दूर ले जाती है, इसे कर्णकटु और रूखी बनाती है। एक बार फिर इतिहास गवाह है कि भाषा का बहता-नीर स्वरूप तब-तब बाधित हुआ है, जब-जब उसे विचारों से ज़्यादा अस्मिताओं का बोझ ढोना पड़ा है। और यह सब सिर्फ़ हिन्दी में हुआ हो, ऐसा नहीं है (प्रगति महापात्र)।

लेकिन, इतना सब कह लेने के बाद हिन्दी जनपद सिर्फ़ वही नहीं है जिसे हम कोस रहे हैं। साहित्य के बाहर

भी जीवन था, है और रहेगा। वह उन गानों में आबाद है जो रेडियो सीलॉन से लेकर नेपाल रेडियो और विविध भारती तक फैला है। उन समाचारों में जीता है जिनसे राजनीतिक तौर पर सचेत किसान लगभग रोज़ाना जूझते हैं। मसलन, जब बिहार में कोई अनन्त कुमार कहता है कि प्रादेशिक समाचार सुनिए तो बड़े-बूढ़े बाक़ायदा कहते हैं — सुनाइए। और अनन्त कुमार के प्रति यही श्रद्धा-भाव अगले पन्द्रह मिनटों तक बना रहेगा कि नहीं यह इस पर निर्भर करेगा कि उनके पास सुनाने को अच्छी ख़बरें हैं कि नहीं। अगर नहीं तो उन्हें गालियाँ भी सुननी पड़ सकती हैं — शायद उन्हें भी जिनके समाचार वे सुना रहे हैं। जी हाँ, यह वही दुनिया है जहाँ सात समन्दर पार से आती बीबीसी हिन्दी सेवा की उबड़-खाबड़ तरंगों को पकड़ने के लिए लोग अथक श्रम करते हैं क्योंकि बामुक़ाबले साड्डा आकाशवाणी उसकी प्रामाणिकता और सहजता परंपरा-सिद्ध है (संजय शर्मा)। यह वह जनपद है जहाँ टेलीविज़न चढ़ कर बोलने वाला सिनेमा का जादू अमृतसर से एलओसी पार कर लाहौर में तहलका मचा देता है; नौकर सत्याग्रह पर उतारू हो जाते हैं, मालिक की उच्च-भ्रू बौद्धिकता घुटने टेक देती है (बाप्सी सिध्वा)। अख़बारों की बात करें तो हिन्दी को पिछले सौ-सवा सौ सालों में बड़े जतन से सजाया-संवारा और संस्कारित किया गया है लेकिन संस्कारों की तमाम पुलिसिया पहरेदारी के बावजूद तथाकथित पटरी साहित्य में, या विज्ञापनों से, कामनाएँ छलक ही जाती हैं। संस्कृतियों की तमाम वर्जनाओं को लांघकर महिलाएं सहसा अपनी विविध उपस्थितियों से पुरुषों को एक साथ अवाक और असुरक्षित कर देती हैं। अपनी खोई हुई ताक़त और जवानी पाने के लिए उन्हें विवेक-अविवेक से परे नाना प्रकार के उपाय करने पड़ते हैं (चारु गुप्ता)।

तो परंपरा में यह एक तरह से हिन्दी का निर्वासित जनपद है। और इसका साहित्यिक जनपद से एक अनिश्चित-सा, तनाव भरा रिश्ता रहा है। लेकिन इतिहास के टटका शोधों ने हमें ग़ैर-पारंपरिक स्रोतों के प्रति आगाह किया है और इस तनाव-भरे रिश्ते की गहराइयों में जाने के लिए प्रेरित किया है। चूंकि साहित्येतर अभिव्यक्तियां संचार के बदलते संसार में अब पहले-से ज़्यादा अहम होती जाएंगी, इसलिए उन्हें महज़ भाषिक शुचिता की कसौटी पर देखना या अनुवाद को कोसना नाकाफ़ी होगा। एक मीडिया अगर दूसरे की ओर तवज्जो दे, आलोचना भी करे तो दोनों के चौतरफ़ा विकास के रास्ते खुलते हैं। लेकिन अगर प्रिंट के वैचारिक महंत अपने सुपरिचित अखाड़े का इस्तेमाल सिर्फ़ पुराने पड़ चुके दाँव-पेंच के प्रदर्शन के लिए करेंगे तो अगला वार तो खाली ही जाना है। चूंकि अखाड़ों के टर्फ़ बदल गए हैं, इसलिए रणनीति में बदलाव की ज़रूरत वक़्त की व्यावहारिक माँग है।

लिहाज़ा, पेश है हमारे खिचड़ी-फ़रोश ज़माने का एक खिचड़ी दीवान। तीन हिस्सों में बँटे इस दीवान के पहले खंड 'विरासत' में बातें कुछ पुरानी, पूर्व-प्रकाशित (मनोहर श्याम जोशी, सुधीश पचौरी), जिनमें नए संदर्भों में शायद नए अर्थ कौंध जाएँ। कुछ सीधे हिन्दी में लिखे (अविनाश कुमार, फ़्रंचेस्का ओरसीनी) तो कुछ अंग्रेज़ी से अनूदित ऐसे शोधपरक लेख जिनमें इतिहास के एक बौद्धिक विषय के रूप में हिन्दी जनपद को एक नई और समग्र पहचान मिलती है, तो कुछ अलग-अलग शैलियों में लिखित निहायत दिलचस्प यात्राएँ (अभय कुमार दुबे, प्रभात रंजन)। दूसरे में *हिन्दी नैशनलिज़्म* के बहाने भाषा के कल और आज पर बातचीत का एक पूरा सिलसिला है, जो पहले लेखक के साथ, फिर इतिहासकार शाहिद अमीन के साथ संजय शर्मा के साक्षात्कारों से शुरु होकर तहलका.कॉम के तिनतरफ़ा संवाद में जाकर संपन्न होता है। तीसरे हिस्से में कम्प्यूटर और नेट के डिजिटल संसार के लगभग अछूते विषय पर कई चीज़ें हैं, ज़्यादातर अंग्रेज़ी से अनूदित। यहाँ सामग्री के लिए अनुवाद के अलावा कोई चारा नहीं था और अनुवाद की मुश्किलें शायद अभी-भी ज़ाहिर होंगी। पाठक इसे रक्षात्मक दलील न समझें। हम उन्हें वाद-विवाद-संवाद के साथ निर्मम आलोचना की दावत देते हैं।

अगर आपने हौसला अफ़्ज़ाई की तो सराय के सरोकारों के इर्द-गिर्द ऐसी प्रस्तुतियों का सिलसिला जारी रहेगा।

रविकान्त + संजय शर्मा

विरासत: प्रिंट/रेडियो/टीवी

हिन्दी पत्रकारिता

प्रिंट संस्कृति के बदलते परिदृश्य (1900–1940)

अविनाश कुमार

इस आलेख का उद्देश्य तत्कालीन हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के विस्तृत फ़लक के एक सामान्य सर्वेक्षण द्वारा हिन्दी प्रदेश में बनते-बदलते छपाई के परिदृश्य की पड़ताल करना है। जब हम इन पत्रिकाओं को तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों से जोड़कर देखते हैं तो यह प्रिंट-परिदृश्य और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। विभिन्न तरह के उद्देश्यों से प्रेरित लोगों (जिनमें प्रचार और शिक्षा दोनों शामिल थे) ने इन पत्रिकाओं के माध्यम से तत्कालीन बहसों को ठोस रूप दिया, पर जल्दी ही उन्हें उन लोगों की चुनौती का सामना करना पड़ा, जो अकादमिक संस्थानों, स्कूलों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों आदि के भीतर से बतौर 'विशेषज्ञ' अपनी पहचान बना रहे थे। उनकी डिग्रियाँ (चाहे वे सरकारी शिक्षण संस्थानों से हों या फिर आर्य समाज द्वारा चलाए जा रहे संस्थानों से) उनके नामों के साथ लेखों में, उनके उस विषय पर 'अधिकारी' होने के सबूत में छापी जाती थीं। पर साथ ही, इन्हीं पत्रिकाओं में सामान्य पाठक और सामान्य लेखक भी लगातार लिखते रहे। इस प्रक्रिया में न सिर्फ़ उनके आपसी संघर्ष तेज़ हुए, बल्कि उन्होंने एक-दूसरे को भी बदला, और पत्रिकाओं के स्वरूप को भी। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण विचारणीय बिंदु यह होगा कि किस प्रकार 'बाहरी दुनिया' हिन्दी पाठकों के सामने परोसी जा रही थी और साथ ही किस प्रकार इस 'हिन्दी विश्व' की आकांक्षाओं को 'बाहरी दुनिया' के बरक्स स्वर देने की कोशिशें चल रही थीं। यह उस वक़्त हो रहा था जब 'हिन्दी जगत', बतौर एक विचार, ख़ुद अपनी शक्ल अख़्तियार करने की प्रक्रिया में था। एक उच्च भारतीय/हिन्दी संस्कृति की स्थापना की प्रक्रिया में शुरुआती कोशिश यह थी कि अधिक से अधिक विषयों पर नज़र डाली जाय, उन पर विचार किया जाय। पर एक ओर जहाँ एक ऐसी अभिजात संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा थी तो दूसरी ओर एक धीरे-धीरे पर निरंतर फैलते पत्रिकाओं के बाज़ार में अपनी पैठ बनाने की कोशिश भी थी। इस तनाव से निकली प्रक्रिया की परिणति आगे चलकर 'साहित्य' की संकुचित किन्तु वर्चस्वकारी परिभाषा में हुई।

पत्रिकाओं के सर्वेक्षण के क्रम में इस निबंध के केंद्र में मुख्यतः तीन बिन्दु होंगेः भौगोलिक विस्तार, वैचारिक-सैद्धान्तिक रुझान और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों की प्रकृति। आख़िरी बिन्दु इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि अक्सर उनमें छपने वाले विज्ञापनों और उन पत्रिकाओं की अभिजात संस्कृति के निर्माण की आकांक्षाओं के बीच एक खाई-सी बनती दीखती है। एक ओर व्यावसायिक दबाव थे तो दूसरी ओर संपादक से लेकर सामान्य पाठकों तक की अपनी बौद्धिक आकांक्षाएँ थीं।

प्रतिभाका मूल्य !

लेखक—रात-रात भर जाग लिखी है पुस्तक बड़े परिश्रमसे ।
शब्द-शब्दमें रक्त-बिन्दु है खपा, देखिये तो मनसे ॥
नयी कल्पना, नयी सूझ है, घटना भी है क्रान्तिमयी ।
भाषा गद्यकाव्य-सी सुन्दर, बरसोंमें है लिखी गयी ॥
प्रकाशक—पुस्तकमें कुछ तत्त्व नहीं है, पुरस्कारकी करो न बात ।
सात फार्मकी पुस्तक होगी, काफी हैं रुपये छः-सात ॥
सुन्दर जिल्द, सुनहले अक्षर, रंग-बिरंगे चित्र सजा ।
ठाट-बाटसे छापूँगा, हो जाओगे विख्यात महा ॥

बीसवीं सदी की शुरुआत में हिन्दी जगत की छापे की संस्कृति 'भारतेन्दु-युग' के बाद के दौर में प्रवेश कर चुकी थी, जिसके तहत महत्वपूर्ण सांस्थानिक बदलाव हो रहे थे। एक ओर 1885 में बंगाली प्रवासी चिंतामणि घोष ने इलाहाबाद में इंडियन प्रेस की स्थापना की तो दूसरी ओर छात्रों के एक छोटे गुट ने श्याम सुंदर दास की अगुआई में 'पेनी रीडिंग क्लब' की तर्ज़ पर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना 1893 में की। 1900 में ही संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड एंथनी मैकडॉनल ने नागरी को सरकारी अदालतों में प्रयोग की इजाज़त दी। कुछ ही वर्षों के भीतर 1910 में इलाहाबाद में ही 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना और फिर 1916 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना ने एक निरंतर फैलते सार्वजनिक क्षेत्र को ठोस रूप देने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाईं। इन सभी संस्थानों से जुड़ी बहसें भी तत्कालीन पत्रिकाओं के माध्यम से खुलकर सामने आईं।

पत्रिकाओं की रूपरेखा

इंडियन प्रेस द्वारा 1900 में *सरस्वती* के प्रकाशन से सामान्यतया हिन्दी प्रकाशन के एक नए युग की शुरुआत मानी जाती है। इसके पहले अंक में प्रकाशक ने अपने वक्तव्य में हिन्दी भाषा के विकास और शिक्षितों की 'सौंदर्यशास्त्रीय' आकांक्षाओं के बीच एक संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया:

> इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथार्थपूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भावभरित ग्रंथराजि को प्रसव करै।[1]

पर साथ ही *सरस्वती* ने हिन्दी पत्रकारिता में विषय के स्तर पर काफ़ी विस्तृत फ़लक को सामने रखा। समाज सुधार से लेकर वैज्ञानिक प्रयोग, इतिहास, पुरातत्व, स्त्री विमर्श, शिक्षा से लेकर यात्रा वृत्तांत तक इसकी ज़द में शामिल थे।[2] द्विवेदी ने खुद पश्चिमी दर्शन और राजनीतिक विचार (बेकन और मिल के लेख इसमें शामिल थे) आदि पर कई निबंध अनूदित किए। द्विवेदी इन अर्थों में एक क्लासिक *मैन ऑफ़ लेटर्स* की भूमिका निभा रहे थे।[3] शुरुआती दौर में हिन्दी के गद्य लेखक इतने कम थे कि द्विवेदी को खुद ही अनेक उपनामों से लेख लिखने पड़े। 1903 में, जो कि उनके संपादन का पहला साल था, *सरस्वती* में द्विवेदी के पचपन प्रकाशित लेखों के मुक़ाबले बाक़ी लेखकों के कुल लेखों की संख्या केवल 19 थी।[4] *सरस्वती* के ही कुछ अंकों की विषय-वस्तु को ध्यान से देखने पर तत्कालीन पत्रिकाओं के बदलते स्वरूप का जायज़ा लिया जा सकता है। इसके पहले ही अंक (जनवरी 1900) में पं. किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी *इंदुमती* छपी थी, एक ऐतिहासिक कहानी, जो मोटे तौर पर शेक्सपियर के *टेम्पेस्ट* पर आधारित थी और इसे हिन्दी की पहली कहानियों में गिना जाता है। उसी अंक में एक दूसरी कहानी *चंद्रलोक की यात्रा* भी छपी थी जो स्पष्टतया किसी विदेशी वैज्ञानिक कहानी पर आधारित थी। ग़ौरतलब यह है कि खड़ी बोली गद्य के उन शुरुआती दिनों में ही विषय-वस्तु के स्तर पर अनेक प्रयोग हो रहे थे, भले ही छायानुवादों या छायाकृतियों के माध्यम से। प्रकाशन के अपने पहले साल में ही *सरस्वती* में दो महत्वपूर्ण आलोचनात्मक लेख भी छपे, 'हम्मीर हठ' और 'पं. श्रीधर पाठक की कविता'।

एलिज़ाबेथ आइज़ेंस्टाइन ने कहा है कि "पाठकों के विचार पुस्तकों की विषय-वस्तु के क्रमवार नियोजन और प्रस्तुति के आधार पर ही निर्देशित होते हैं"।[5] शायद यही विचार उस वक़्त के संपादकों के भीतर भी कहीं था। *सरस्वती* के पहले दो आमने-सामने के पृष्ठ ऊपरी तौर पर सामान्य, पर महत्वपूर्ण विषयों पर केन्द्रित थे। बाईं ओर किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की तस्वीर छपी होती थी, जिस के बारे में एक संक्षिप्त नोट अंक में कहीं और दिया होता था। इन फ़ोटोग्राफ़ों में तत्कालीन वायसरॉय, इंग्लैण्ड के शासक आदि शामिल थे (पत्रिका के राजभक्त रुख़ की ओर इशारा करते हुए), पर ज़्यादातर वे ऐसे लोगों के होते जिन्होंने भारत के लिए या फिर अपनी जाति या समुदाय के लिए या फिर पूरी 'हिन्दी जाति' के लिए कुछ 'महत्वपूर्ण योगदान' दिया हो। दूसरी तरफ़ के पृष्ठ पर पत्रिका का

स्थायी स्तंभ 'विविध विषय' छपता था, जिसमें ज़्यादातर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं या विदेशी समाचार-पत्रों से ली गईं छोटी-छोटी ख़बरों के साथ उन पर संपादकीय टिप्पणियाँ छपती थीं। 'स्थानीय समुदाय' के बरक्स ज़्यादा 'विस्तृत समुदाय' (जो कि भारत के अन्य क्षेत्रों से लेकर पूरे विश्व तक फैला हुआ था) के प्रश्न पर यह सचेत ध्यान शायद संपादक से लेकर पाठकों तक के भीतर था। मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित और संपादित *मर्यादा* के भी एक अंक पर निगाह दौड़ाने से तत्कालीन पत्रिकाओं का स्वरूप ज़्यादा स्पष्ट होगा। जनवरी 1916 के अंक में मुखपृष्ठ पर अंग्रेज़ी वर्ष के साथ-साथ विक्रमी सन् भी दिया हुआ था, और साथ ही पत्रिका का वार्षिक मूल्य रु. 3 और एक अंक का डेढ़ आना भी छपा था। भीतर पहले पृष्ठ पर विषय-सूची और पत्रिका की नियमावली दी हुई थी। नियमावली पत्रिकाओं को भेजे जाने वाली रचनाओं और विज्ञापनों से संबंधित थी। विषय-सूची के कुल 15 विषयों में 6 कविताएँ थीं, जो कि तत्कालीन परिदृश्य में इस साहित्यिक विधा के महत्व की ओर इशारा करता है। दिलचस्प बात है कि इसमें कोई कहानी नहीं थी, पर तब चल रहे प्रथम विश्वयुद्ध पर दो निबंध और दो यात्रा-वृत्तांत थे। दोनों यात्रा वृत्तांत अंतर्राष्ट्रीय थे जिनमें से एक जापान पर केंद्रित था जिसका शीर्षक 'स्वाधीन एशिया की राजधानी' था, जो ज़ाहिर तौर पर इस लेख के मूल उद्देश्य की तरफ़ इशारा करता है। भगवान कृष्ण पर एक धार्मिक-दार्शनिक लेख जो कि उस वक़्त उन विषयों पर प्रचुरता से लिखने वालों में से एक लाला कन्नोमल, एम.ए. द्वारा लिखा गया था। दो निबंध तब की प्रसिद्ध अंग्रेज़ी पत्रिका *मॉडर्न रिव्यू* से लिए गए थे और शिक्षित हिन्दुओं के भविष्य पर केंद्रित थे। एक शुरुआती नोट 'हमारा नूतन वर्ष' पर लिखा गया था, जिसमें पत्रिका द्वारा झेले जा रहे अनेक संकटों का ज़िक्र था, पर साथ ही यह आशा भी कि चूँकि इसका प्रकाशक अभ्युदय प्रेस अब एक 'लिमिटेड कंपनी' बन चुका था, इसलिए इसका पुनरुद्धार संभव था। साथ ही साथ इसमें चिर-परिचित नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्थान की बात थी (ताकि अपनी जड़ें जमा चुकी अवांछित 'मर्यादा' को नष्ट कर जनता की 'मर्यादा' को सुरक्षित रखा जा सके)। यहाँ यह तथ्य नोट करने लायक है कि जहाँ संपादकों द्वारा झेली जा रही वित्तीय/आर्थिक मुसीबतों का सार्वजनिक ज़िक्र एक प्रचलित परिपाटी के रूप में स्थापित हो चुका था, वहीं दूसरी ओर बाद के कुछ संपादकों, जैसे माखनलाल चतुर्वेदी और प्रेमचंद ने यह 'सार्वजनिक' नीति अपनाई थी कि वे ऐसी मुसीबतों के बारे में ज़िक्र नहीं करेंगे। पर इस पक्ष पर विचार थोड़ा बाद में।

मूलभूत उद्देश्य

इतिहासकार क्रिस बेली के अनुसार, "जहाँ एक स्वार्थ आधारित समुदाय विकसित हुआ, चाहे वो औपचारिक रूप से 'जाति' हो, या फिर धार्मिक या ग़ैर-धार्मिक मुद्दों पर निर्मित संगठन, यह चार महत्वपूर्ण तत्वों के संयोजन को प्रतिबिम्बित करता था: एक सक्षम विचारधारा, प्रचारक, छापेख़ाने और सहायक, समर्थक"।[6]

दो साल के अपने संपादकत्व के बाद पत्रिका का सालाना मूल्यांकन करते हुए द्विवेदी ने जहाँ पत्रिका की खपत में हुई दोगुनी बढ़त पर संतोष जताया, वहीं उन्होंने इसके आगे के सुधार के कुछ मुख्य क्षेत्र रेखांकित किए। कुछ पाठकों द्वारा पत्रिका की भाषा के क्लिष्ट होने की शिकायत का ज़िक्र करते हुए उन्होंने आगे सुधार का वादा किया, क्योंकि उनके अनुसार कोई भी भाषा मात्र कुछ लोगों की होकर समाज के लिए उपयोगी नहीं हो सकती थी।[7] पर साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि चूँकि यह प्रस्ताव सबको एक रूप से मान्य नहीं था, यह जानना ज़रूरी है कि विषयों की गंभीरता के अनुरूप ही भाषा बनती-बदलती है और इसलिए पूरी भाषा को एक जैसा सहज और सुबोध नहीं बनाया जा सकता। संप्रेषण की इस तकनीक के इन शुरुआती दिनों में भी जहाँ यह माध्यम इस तरह नए पाठकों को जोड़ रहा था, वहीं ग़ौरतलब यह भी है कि किन आधारों पर इसी माध्यम में बदलाव की वकालत की जा रही थी। मुख्य रूप से इसका आधार वर्तमान समाज के लिए उसकी उपयोगिता या सीधा लाभ था जो कि 19वीं सदी के उपयोगितावाद के सिद्धान्त से काफ़ी हद तक जुड़ा हुआ था। उपयोगितावाद के इसी सिद्धान्त के आधार पर द्विवेदी ने उन लेखों के प्रकाशन पर ज़ोर दिया जो 'उपयोगी और समझ आने लायक' हों। इसके लिए उन्होंने लेखकों से 'लाभदायक और रोचक' लेख भेजने की अपील की। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पत्रिका के चित्रों की ख़राब छपाई की आलोचना का जवाब देते हुए उन्होंने पाठकों से उनके साथ लिखे गए संक्षिप्त नोट पर ज़्यादा ध्यान देने को कहा, चूँकि 'चित्र कम महत्व के' थे। पर द्विवेदी के भीतर का द्वंद्व ख़ुद उभर आता है जब उसी सांस में वह

हिन्दी को अंग्रेज़ी और संस्कृत के बरक्स स्थापित करते हुए उसे एक ऐसी अभिजात भाषा के रूप में देखना चाहते हैं जो जटिल और संश्लिष्ट विचारों को सम्प्रेषित कर सके। बावजूद इस सबके अख़बारी पत्रकारिता की अपेक्षाकृत ताज़ा शुरुआत के प्रति सजगता और संपादकीय कौशल, इन दोनों ही बातों ने तत्कालीन परिदृश्य को ख़ास शक्ल देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्हीं कारणों से द्विवेदी ने पश्चिम के प्रसिद्ध अख़बारों और पत्रिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर ज़ोर देते हुए उनके माध्यम से पत्रकारिता की तकनीकों, उनके माध्यम से आ रहे नए विचारों और उनमें छपे निबंधों के स्वरूप की जानकारी पर ध्यान देने की बात की। इस काम के लिए ख़ुद उन्होंने *द टाइम्स* जैसे पश्चिम के प्रसिद्ध अख़बारों पर परिचयात्मक लेख लिखे और सेंट निहाल सिंह जैसे लोगों के लेख छापे जो पश्चिम और जापान की अख़बारी दुनिया में काफ़ी नाम कमा चुके थे।[8]

इस सन्दर्भ में यह दिलचस्प है कि एक पत्रिका को निकालने का काम नैतिक और सामाजिक ज़िम्मेदारी का काम समझा जाता था। इन्हीं विचारों के प्रभाव में द्विवेदी ने उस वक़्त रेलवे की अपनी बढ़िया नौकरी (रु. 150/- मासिक) छोड़कर यह काम मात्र रु. 20/- मासिक + रु. 3/- डाक ख़र्च पर स्वीकार कर लिया। पत्रकारों की समाज सुधारक और जनमत निर्माता की यह छवि ही थी जिसके कारण द्विवेदीजी जैसे लोगों ने ख़ुद अपने लिए एक नैतिक आचार संहिता तैयार की। अपने संस्मरण में द्विवेदी जी ने इनमें से प्रमुख चार को गिनाया है: 'समय की पाबन्दी, मालिकों का विश्वासभाजन बनने का प्रयत्न करना, अपना नहीं बल्कि पाठकों के हितों का ख़याल करना और सत्य पर अटल रहना'।[9] 'मालिकों का विश्वासभाजन' बने रहने की अपनी नीति के अनुसार जहाँ द्विवेदी राज्य सत्ता के सख़्त नियंत्रण के उस दौर में राजनीतिक रूप से विवादास्पद और ख़तरनाक मुद्दों को उठाने से बचते रहे वहीं वह पत्रिकाओं की 'प्रचारक और प्रोपैगैण्डा' क्षमता से भी परिचित थे। *कर्मवीर* के लेखक-संपादक माखनलाल चतुर्वेदी ने भी अपने लिए ऐसी ही आचार संहिता बना रखी थी जो पत्रकारिता के प्रति उनकी आदर्शवादी और मिशनरी रुख़ को प्रतिबिंबित करता है।[10]

प्रेमचंद ने ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए लिखा था कि पत्रकारिता का निर्णय उनका अपना था और इसलिए उन्हें पाठकों से आर्थिक सहायता मांगने का कोई हक़ नहीं था। यह उनका धर्म था कि वह इसके प्रति अटल रहें और धर्म कभी अर्थ से नहीं जोड़ा जा सकता।[11] द्विवेदी जी ने ख़ुद ऐसे अनेक प्रलोभनों का ज़िक्र किया था जो उन्हें समय-समय पर स्थानीय, प्रांतीय नेताओं आदि के जीवन-वृत्त, राजनैतिक साहित्यिक भाषण आदि प्रकाशित करने के एवज़ में दिए गए थे। यह तथ्य इस ओर भी इशारा करता है कि तब तक न सिर्फ़ प्रकाशन की दुनिया ने अपनी एक हैसियत बना ली थी बल्कि पत्रकारिता और छपाई के माध्यम से राजनैतिक, सामाजिक संभावनाओं को लोग तेज़ी से पहचान रहे थे।[12] ख़ास वर्गों, समूहों की राजनैतिक-सामाजिक महत्वाकांक्षाओं को स्वर दे सकने की इन्हीं संभावनाओं ने बाद के वर्षों में नए मोड़ लिए जिसके तहत 'राजनैतिक पत्रकारिता' एक अलग विधा के तौर पर विकसित हुई और जिसने एक साथ कई व्यक्तियों के राजनैतिक करियर को स्थापित किया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चूँकि अधिकांश पत्रिकाएँ छपाई के नए स्वरूप से तब भी दो-चार होने की कोशिश कर रही थीं, उनमें से अधिकतर काफ़ी बड़े फ़लक पर फैले विषयों को अपने कलेवर में समेटने का यत्न कर रही थीं। यह बाद में जाकर हुआ कि कई सांस्थानिक बदलावों के साथ-साथ उनमें से कई ने कुछ ख़ास विषयों, पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना शुरु किया। 1930 के दशक तक भी स्थिति यह थी कि पत्रिकाएँ स्थानीय समाचार, दैनंदिन की ख़बरें भी, एक अख़बार की तरह नियमित रूप से छापती थीं। छपाई की

ताक़त को इसी संदर्भ में रेखांकित कर उसकी पहचान की गई थी। द्विवेदी ने ऐसे संदर्भ में पत्रकारिता की ख़तरनाक प्रवृत्तियों की ओर इशारा करते हुए एक लंबा व्यंग्यात्मक प्रहसन लिखा था। 'अख़बारों के विशाल रूप' की तुलना *गीता* में अर्जुन को दिखाए गए कृष्ण के विशाल रूप से करते हुए उन्होंने समाचार पत्रों के कई रूपों, 'वृत्तपत्र, वर्तमान पत्र, समाचार पत्र, गज़ट' आदि का हवाला दिया। संपादक के कार्य पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा कि उसका प्रमुख कार्य अंग्रेज़ी समाचारपत्रों से नक़ल मारना है, किसी भी तरीक़े से पैसे कमाना है, जिनमें नशीले पदार्थ, घड़ियों, किताबों आदि को बेचना तक शामिल है, संस्थान खोलना शामिल है, वग़ैरह। इस तरह उस की 'पॉलिसी' घनघोर अंधकार में रहना है भले ही वह दूसरों को 'प्रकाश में खींच लाने' का दावा हमेशा करता रहे।[13]

अतः जहाँ एक ओर पत्रकारिता की छवि पूरी तरह नैतिक उत्तरदायित्व से लैस थी, वहीं दूसरी ओर इसकी 'व्यावहारिक, व्यावसायिक', क्षमताओं का पक्ष भी समकालीन बुद्धिजीवियों के ध्यान से बाहर नहीं था। अंग्रेज़ी के पद 'पॉलिसी' और उसका प्रयोग तत्कालीन पत्रकारिता के संदर्भ में उन दिनों बड़े पैमाने पर ख़ास अर्थों में ही हो रहा था। उस वक़्त के एक और प्रसिद्ध पत्रकार-लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907) जो *भारतमित्र* (1899-1907, कलकत्ता) दैनिक के संपादक थे, ने उर्दू और हिन्दी पत्रकारिता पर कई धारावाहिक निबंध लिखे जिनमें उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि किसी भी अख़बार की एक 'पॉलिसी' होनी ज़रूरी है। *फ़िसाना-ए-आज़ाद* के प्रसिद्ध लेखक और उस समय के प्रसिद्ध उर्दू अख़बार *अवध अख़बार* (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित) के संपादक पं. रतननाथ सरशार की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा, "साहित्य की दृष्टि से यह लेख बुरे नहीं थे पर एक दैनिक पत्र में प्रकाशित होने की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य थे। संभव है कि वह एक अख़बार में लिखने के क़ाबिल नहीं क्योंकि मैंने किसी भी सामाजिक अथवा राजनीतिक विषय पर उनका लिखा कोई गंभीर लेख कभी भी नहीं पढ़ा।"[14] महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि गुप्त साहित्यिक उद्देश्य के तहत किए गए लेखन और समाचार पत्रों के लिए किए गए लेखन में फ़र्क़ कर रहे थे और यह फ़र्क़ किसी तकनीकी कारण से नहीं किया जा रहा था, बल्कि तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों और उनके संप्रेषण की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए किया जा रहा था। इसी तरह लाहौर से प्रकाशित होने वाले उर्दू अख़बार *कोहेनूर* के बारे में उन्होंने लिखा, "इसकी कोई 'पॉलिसी' नहीं थी। अगर वैसा कुछ कह सकते हैं तो यह कि किसी को छेड़ो मत। इसकी 'पॉलिसी' अलग-अलग संपादकों की अलग-अलग रुचियों के अनुसार बदलती रही। सच तो यह है कि उस वक़्त देसी अख़बारों की कोई तय 'पॉलिसी' ही नहीं होती थी।"[15] गुप्त की राजनीतिक, सामाजिक पक्षों के प्रति सजगता, जो उनके अख़बारों के पूरे स्वरूप के प्रति ख़ास दृष्टिकोण से जुड़ी हुई थी, ने उन्हें अपने अख़बारी जीवन के शुरुआती दौर में ही क़ीमत चुकाने को विवश किया। *दैनिक हिन्दोस्तान* के संपादकीय मण्डल ने (जिसमें मदन मोहन मालवीय, प्रताप नारायण मिश्र और अमृतलाल चक्रवर्ती, जो बाद में बंबई से प्रकाशित *वेंकटेश्वर समाचार* के संपादक बने, जैसे विशिष्ट लोग शामिल थे) तब गुप्त जी को (फ़रवरी, 1891) अख़बार से निकालने का फ़ैसला किया जब इसके मालिक कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह व्यक्तिगत कार्य से कुछ दिनों के लिए बाहर जा रहे थे और उन्हें आशंका थी कि उनके पीछे गुप्त पता नहीं क्या कर बैठें।[16]

बतौर *भारतमित्र* के संपादक, अपने अख़बारी जीवन के अगले और सबसे महत्वपूर्ण दौर तक गुप्त ने यह सबक़ सीख लिया था कि खुलकर यह मान सकें कि मालिकों के हितों की रक्षा करना संपादकों की विवशता है। जहाँ एक ओर उन्होंने यह दावा किया कि अख़बार अपने स्वरूप में राजनीतिक है और हिन्दी प्रचार तथा राजनीतिक चर्चा इसके मुख्य उद्देश्य हैं, वहीं दूसरी ओर उन्होंने स्वीकारा कि "चूँकि सनातनी हिन्दू इसके मालिक हैं, ज़रूरत पड़ने पर उनका पक्ष लेना इसकी नीति शुरु से रही है"।[17]

दूसरी तरफ़ *विशाल भारत* के संपादक बनारसी दास चतुर्वेदी ने इसके मालिक रामानंद चटर्जी (जो कि साथ ही प्रसिद्ध बांग्ला पत्रिका *प्रवासी* और अंग्रेज़ी शोधपत्रिका *मॉडर्न रिव्यू* के संपादक, प्रकाशक दोनों ही थे) से अपने संबंध खुले तौर पर एक 'महत्वपूर्ण सूचना' के अंतर्गत शुरु में ही साफ़ कर दियेः "अगले अंक से श्री रामानंद चट्टोपाध्याय की राजनीतिक टिप्पणियाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित की जाएंगी। परन्तु वह अन्य समादृत लेखकों की हैसियत से ही इसमें लिखेंगे और अपने विचारों के लिए ज़िम्मेवार भी स्वयं ही होंगे। *विशाल भारत* के दिशा-निर्देश

संबंधी नीतियों के लिए उन्होंने हमें पूरी स्वतंत्रता दी है"।[18]

मारियोला ऑफ़रेदी के अनुसार, उस दौर में जिस 'हिन्दी बुद्धिजीवी' की भूमिका ठोस शक्ल अख़्तियार कर रही थी वह ऐसे लोगों की थी जो शुरुआत में राजनीतिक गतिविधियों के माध्यम से अपनी पहचान बना चुके थे, और इसी के माध्यम से 'प्रगतिशील पत्रकारिता' के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी वैधता स्थापित कर रहे थे।[19] उस वक़्त के प्रसिद्ध दैनिक *आज* के संपादक बाबूराम विष्णु पराड़कर का उल्लेख वह इस संदर्भ में करती हैं। पर यह प्रक्रिया एकतरफ़ा नहीं थी। मदन मोहन मालवीय, पुरुषोत्तम दास टण्डन, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे कई लोग थे जिन्होंने पहले अपनी पहचान पत्रकारिता के माध्यम से बनाई और उसके बाद ही सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्त्ता बने। इस संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे कथित रूप से 'ग़ैर-राजनीतिक' लोग जो 'सामाजिक-साहित्यिक' सवालों पर अपना ध्यान केंद्रित कर रहे थे, उन्हें भी अराजनीतिक या 'पिछड़ा' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ओर तो इन्हीं विषयों पर ध्यान केंद्रित कर वह राजनीतिक हस्तक्षेप कर रहे थे, तो दूसरी ओर द्विवेदी अवध के किसानों की हालत, भारतीय अर्थव्यवस्था पर 'संपत्ति शास्त्र' जैसी किताबें लिखकर ब्रिटिश व्यवस्था की आलोचना ही कर रहे थे। दूसरी तरफ़ यह समझ कि 'राजनीतिक ट्रेनिंग', बुद्धिजीवियों को प्रगतिकामी बना रही थी, अधूरी ही नहीं, ग़लत भी है। इसका उदाहरण हिन्दी प्रदेश के तत्कालीन कई बुद्धिजीवी थे। इन मायनों में परस्पर विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ उस युग की एक पहचान-बिन्दु थीं।

लेकिन भारतेन्दु से द्विवेदी तक चली आई इस परम्परा ने बीसवीं सदी के दूसरे दशक से एक निर्णायक मोड़ तब लिया जब मुख्य रूप से राजनीतिक पत्रिकाओं का दौर शुरु हुआ, जिनमें *अभ्युदय, प्रताप, मर्यादा, कर्मयोगी, कर्मवीर* और *सैनिक* शामिल थीं। माखनलाल चतुर्वेदी — जो माधवराव सप्रे और विष्णुदत्त शुक्ल द्वारा स्थापित *कर्मवीर* (1920, जबलपुर, फिर खण्डवा) के पहले संपादक थे, ने पत्रकारिता के मिशन को राजनीति से जोड़कर ख़ुद पत्रकारिता को भी नए आयाम दिए।

इन नए आयामों में कांग्रेस पार्टी के पक्ष में जनमत तैयार करना भी एक महत्वपूर्ण पक्ष था। यह अकस्मात् नहीं है कि सुभाष चन्द्र बोस जैसा व्यक्ति भी इन पत्रिकाओं की सार्वजनिक भूमिका को स्वीकार करता था।[20] उधर प्रांतीय स्तर पर कई प्रतिष्ठित संपादक कांग्रेस के स्थानीय प्रतिनिधि भी बने। माखनलाल मध्य भारत के कांग्रेस संसदीय दल के अध्यक्ष चुने गए और 1937 के चुनावों में उनकी ही अध्यक्षता में कांग्रेस को जीत भी मिली। इसी प्रकार, विद्यार्थी भी विभिन्न पदों पर रहे, जैसे अखिल भारतीय कांग्रेस स्वागत समिति के सचिव, प्रांतीय परिषद के सदस्य, प्रांतीय कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष इत्यादि। *सैनिक* के सम्पादक श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल भी उत्तर प्रदेश प्रांतीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे थे। मदन मोहन मालवीय का राजनीतिक जीवन मुख्यतः हिन्दू महासभा और कांग्रेस के इर्द-गिर्द केन्द्रित रहा, जिसकी वजह से उन्हें अपना सम्पादकीय काम छोड़ना पड़ा। उसी तरह सम्पूर्णानन्द, जो कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रसिद्ध नेता थे और बाद में उ.प्र. के मुख्यमंत्री भी बने, ने कुछ दिनों तक *मर्यादा* का सम्पादन भी किया था।

लेकिन गुप्त के मुताबिक़ हिन्दी अख़बारों की धीमी प्रगति का कारण निम्न प्रसार-संख्या रही जो कि साक्षरता के निम्न स्तर के कारण थी। साथ ही देशी अख़बारों में प्रकाशित ज़्यादातर सामग्री अंग्रेज़ी समाचार पत्रों से 'उड़ाई हुई होती थी' और हिन्दी पाठक-वर्ग तब तक नहीं बढ़ सकता था जब तक हिन्दी अख़बारों में उन्हें पढ़ने को कुछ अलग न मिले। इस अर्थ में हिन्दी दैनिक तो आज भी स्वावलंबी नहीं कहे जा सकते।[21] द्विवेदी भी उसी तरह अपने लेखकों के नक़लची होने का रोना रोते दिखाई देते हैं। उनके लेखक अंग्रेज़ी के अलावा बांग्ला, मराठी इत्यादि भाषाओं से भी नक़ल कर रहे होते हैं। यानी उन भाषाओं से, जो अधिक विकसित हैं।

धीरे-धीरे हम पाते हैं कि अधिक विशिष्ट प्रकाशनों का दौर शुरु होता है। *सरस्वती* विशिष्ट साहित्यिक रूपाकार लेने लगी। उसमें आधी से ज़्यादा सामग्री साहित्यिक होने लगी। इसी प्रकार बाद की पत्रिकाओं यथा *प्रभा, माधुरी, चाँद, विज्ञान* इत्यादि के अलग-अलग रुझान थे। *प्रभा* (पहले खण्डवा, फिर कानपुर से प्रकाशित) का ही उदाहरण लें, तो उसने स्पष्ट तौर पर यह नीति बना ली थी कि उसमें धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से 'विवादास्पद' लेखों के लिए कोई जगह नहीं होगी।[22] यह जानना रोचक रहेगा कि किस प्रकार *विज्ञान* ने अपने आरंभिक वर्षों में अर्थशास्त्र, इतिहास, ललित कला और यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषयों पर भी प्रमुखता से लेख छापे। लेकिन पाँच वर्षों की

अवधि में वह मूलतः विज्ञान-केन्द्रित पत्रिका बन गयी जिसमें रसायन शास्त्र, वैज्ञानिक आविष्कारों, गणित के सूत्र इत्यादि से संबंधित सामग्री छपने लगी थी। तो भी यह अलगाव पूरी तरह नहीं हुआ था। बहुत दिनों तक इन पत्रिकाओं को समाचार पत्रों की भूमिका निभानी पड़ी। पत्रिकाओं के कई पृष्ठ दैनंदिन की राजनीतिक, सामाजिक घटनाओं पर आधारित सनसनीख़ेज़ ख़बरों को समर्पित होते थे। भौगोलिक आधार पर भी इन पत्रिकाओं का फैलाव विस्तृत था। *मतवाला, विशाल भारत* इत्यादि कलकत्ता से निकलते थे, *ज्योति* लाहौर से छपती थी तो *हिन्दी चित्रमय जगत* का प्रकाशन पुणे से होता था। उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रांत हालाँकि इन प्रकाशनों के केन्द्र बने रहे।

जो गुणात्मक विभाजन आनेवाले वर्षों में स्पष्टतया पहचाना जाने लगा वह था सांस्कृतिक-साहित्यिक और विशुद्धतः राजनीति का, परन्तु थोड़ा-बहुत आदान-प्रदान फिर भी जारी रहा।

अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद

उथल-पुथल भरे हिन्दी-प्रकाशनों के सामान्य परिदृश्य का एक अंदाज़ा प्रसिद्ध पत्रकार-लेखक शिवपूजन सहाय के इस पत्र से लगता हैः

> *प्रभा* बंद हो गयी। *प्रणवीर* भी बंद हो गया। *कर्मवीर* खण्डवा से निकाला चतुर्वेदी जी ने। पालीवाल जी ने आगरा से *सैनिक* अच्छा निकाला। बम्बई से *भगीरथ* भी अच्छा निकला। *प्रताप* ख़ूब बढ़िया निकल रहा है। *गोलमाल, मौजी* बंद। *भूत* जारी है। दिल्ली से मासिक *महारथी* निकलेगा। *अर्जुन* साप्ताहिक हो गया। *सत्यवादी* लाहौर चला गया। *माधुरी* का मूल्य 1/- बढ़ गया। कुछ मैटर बढ़ गया। *चाँद* का शिशु अंक, वेश्या अंक निकला। प्रवासी अंक निकलेगा। सती अंक भी। शिशु अंक के एक लेख पर टिप्पणी लिखने से रूठकर *प्रताप* पर *चाँद* ने पाँच हजार रुपए का नोटिस जारी किया था। मामला सम्मेलन (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) ने लिया है। देखा चाहिए।[23]

उद्धरण से उस दौर के उथल-पुथल का पता चलता है कि एक तरफ़ कई नई पत्रिकाएँ परिदृश्य पर आ रही थीं तो दूसरी ओर कई बंद हो रही थीं। *चाँद* पत्रिका द्वारा विशेष तौर पर प्रकाशित शिशु अंक, सती अंक, वेश्या अंक यह बताता है कि अपनी बिक्री को बढ़ाने के लिए उन पत्रिकाओं द्वारा क्या-क्या तरीक़े अपनाए जाते थे। किसी पत्रिका की जीवित रहने की ताकत और उसकी विषय-वस्तु के विस्तार की क्षमता इस बात से आंकी जाती थी कि किस तरह का सांस्थानिक समर्थन उसे प्राप्त है। हालाँकि इसकी वजह से संपादकों और प्रकाशकों में अक्सर तनाव बनने की गुंजाइश रहती थी।

जब इंडियन प्रेस के समर्थन से *सरस्वती* का प्रकाशन हो रहा था तो *मॉडर्न रिव्यू* के प्रकाशक-संपादक रामानंद चटर्जी ने *विशाल भारत* शुरु किया। दूसरी तरफ़ एक धार्मिक संस्था भारत-धर्म-महामंडल *निगमागम चंद्रिका* नाम से एक पत्रिका प्रकाशित करती थी। *वीणा, ज्योति* आदि पत्रिकाएँ ट्रस्ट द्वारा संचालित होती थीं जिसके सदस्य कई रजवाड़ों के राजकुमार, ज़मींदार जैसे लोग होते थे। *वीणा* में तो पन्ने-के-पन्ने स्थानीय राजकुमारों की चरितावलियों को समर्पित होते थे। बाक़ायदा तस्वीरों के साथ। किसी स्व. डुंगरपुर नरेश के पूर्व सचिव सर विजय सिंहजी ने लिखा, "मेयो कॉलेज में पढ़ाई के दौरान आपने अंग्रेज़ी भाषा में वह महारत हासिल की कि आपके लेखों को पढ़कर या आपके भाषणों को सुनकर यह बता पाना मुश्किल ही था कि कोई भारतीय अंग्रेज़ी बोल रहा है। जिह्वा पर सरस्वती विराजती थीं।"[24] आगे देहरादून सैनिक अकादमी छोड़ने की उनकी इच्छा की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, "उनसे बातचीत की गयी। लेकिन एक न चली। उस मौक़े पर अपनी राजपूती आन दिखाते हुए आपने अपने भविष्य के एक और रूप का संकेत दिया।"[25]

अपने संस्मरण में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस बात का उल्लेख किया है कि उनकी पत्रिका में इस तरह की बातों के लिए कोई जगह नहीं थीं। हालाँकि उनसे ऐसा कहा गया था। बतौर *सरस्वती* के संपादक के जो लक्ष्य उन्हें दिए गए थे उसमें

"1. वक़्त की पाबंदी करना,

2. मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करना,

3. अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख़याल रखना और

4. न्यायपथ से कभी विचलित न होना" शामिल था।[26]

विशाल भारत के प्राथमिक उद्देश्यों में भारतीयता की विराट पहचान को भारत के बाहर ले जाना भी शामिल था। इसलिए उसमें प्रवासी भारतीयों से संबंधित मुद्दे भी होते थे। बनारसीदास चतुर्वेदी (संपादक), सी.एफ. ऐंड्रयूज़ इत्यादि लेखकों ने दक्षिण अफ़्रीका, फ़िजी, वेस्ट इंडीज़ में बसे भारतीय मज़दूरों की समस्याओं पर लगातार लेख लिखे। इसके प्रथम अंक में ही इस मुद्दे को लेकर एक ट्रस्ट बनाए जाने की घोषणा छपी थी जिसके प्रधान टैगोर थे और जदुनाथ सरकार, ऐंड्रयूज़ और चतुर्वेदी कार्यकारी परिषद में। असल में, प्रवासियों की पीड़ा का बखान अन्य पत्रिकाओं में भी होता था। प्रवासी अंक जैसे विशेषांक अक्सर निकाले जाते थे।

तस्वीरें और विज्ञापन

चर्चा का एक और महत्वपूर्ण बिन्दु है इन पत्रिकाओं में चित्रों और विज्ञापनों का प्रकाशन। इन पत्र-पत्रिकाओं में केवल लेख ही आकर्षण का केन्द्र नहीं होते थे। छपाई की अपेक्षाकृत ख़राब अवस्था के बावजूद चित्रों का प्रकाशन भी दर्शकों को आकर्षित करने का एक माध्यम था। *सरस्वती* के एक वार्षिक लेखा-जोखा में द्विवेदी जी ने हालिया क़ीमत-वृद्धि का कारण रंगीन चित्रों के प्रकाशन का बढ़ा ख़र्च बताया है। उनके अनुसार पूरे वर्ष (1908) के 564 पृष्ठों (पिछले वर्ष से पचास पृष्ठ ज़्यादा) में 91 बड़े आकार की तस्वीरों का प्रकाशन हुआ। जिनमें छह रंगीन थे और जिनकी छपाई का ख़र्च एक हज़ार वार्षिक सदस्यों के शुल्क के बराबर आया क्योंकि उनके ब्लॉक अमेरिका और इंग्लैंड से बनवाकर मंगवाए गए थे।[27] *सरस्वती* प्रतिष्ठित चित्रकार राजा रवि वर्मा और ग़ुलाम ख़स्तगीर के चित्रों का मुद्रण भी करती थी। द्विवेदी रंगीन चित्रों के प्रकाशन के मामले में अपने को अगुआ मानते हैं। अन्य पत्रिकाओं का मामला वे यह कहते हुए ख़ारिज कर देते हैं कि वे तकनीकी परिभाषा के मुताबिक़ रंगीन चित्र थे ही नहीं।

हालाँकि हिन्दी के छोटे बाज़ार में अव्वल रहने के बावजूद वह एक महंगी सफलता ही रही। कुछ तस्वीरें समाज-सुधार के मुद्दों से संबद्ध होती थीं, सो ज़्यादातर औरतों के सवाल को लेकर, उदाहरणार्थ — सधवा सास और विधवा बहू, बेमेल विवाह, अपने शराबी पति को पीटती शिक्षित युवती (स्पष्टतः अंग्रेज़ी पत्रिकाओं से प्रभावित), इत्यादि। दूसरी तरफ़ राजनीतिक कार्टूनों का प्रकाशन होता था जिनमें ज़्यादातर अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य की पत्रिका *पंच* से लिए जाते थे। कुछ तस्वीरें और रेखाचित्र सुधार-विरोधी भी होते थे, विशेषकर स्त्रियों और अंग्रेजी शिक्षा को लेकर। स्त्रियों की प्रसिद्ध पत्रिका *चाँद* में पेंटिंग-शृंखला छपी थी जिसमें शिक्षा के कारण स्त्रियों में बढ़ती बेपरवाही और उनके पतियों की दुर्दशा का चित्रण था। प्रसंगवश, इस तरह के सारे प्रसंग कार्टून या रेखाचित्र की ही शक्ल में छपते थे जबकि दूसरी तरफ़ पाठकों की सौंदर्याभिरुचि को ध्यान में रखकर छापी गई तस्वीरों को लेकर एक दुविधा की स्थिति लगती थी। हालाँकि तत्कालीन पत्रिकाएँ उच्च-नैतिकता और राष्ट्रीयता की भावना के बोझ से ओत-प्रोत होती थीं, तो भी कुछ चित्र रीतिकालीन सौन्दर्याभिरुचि के अनुसार

होते थे जिसमें जंगल में घूमती स्त्री होती थी, या नदी-किनारे बैठी स्त्री या फिर खिड़की पर बैठी युवती होती थी और ब्रजभाषा में उसकी विरह-विह्वलता का वर्णन करता दोहा होता था। इस तरह के विषयों की (खिड़की पर बैठी युवती अपने विजेता पति की बाट जोह रही है) विविध छटा इन पत्रिकाओं का आवश्यक हिस्सा होते थे। इस तरह की तस्वीरें श्वेत-श्याम और रंगीन दोनों ही रूपों में छपती थीं। यह ध्यान देने की बात है कि उसी वक़्त महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं अन्य बौद्धिकों के नेतृत्व में रीतिकालीन कविता के विरुद्ध एक बड़ा आन्दोलन चल रहा था। जब *माधुरी* पर ऐसा आरोप लगा तो जवाब में उसने अश्लीलता एवं सौन्दर्याभिरुचि के बीच भेद किए जाने पर बल दिया। देवी सरस्वती सहित अन्य देवी-देवताओं की तस्वीरें उसके मुख्य पृष्ठ पर छपती थीं। जवा कुसुम तैल, काजल, रति रहस्य, अद्भुत अंगूठी इत्यादि के विज्ञापनों से इस दुविधा को और बल मिलता था। तथाकथित अश्लील चित्रों के प्रकाशन की तत्कालीन अवस्था का ज़िक्र महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी किया हैः

> विज्ञापन की छपाई और अपने मूल्य आदि के नियम आपके बाहु स्थान में हैं, क्योंकि उनकी घोषणा आप सबसे पहले ऊर्ध्व बाहु होकर करते हैं। ...अपने प्रेस की पुस्तकों के विज्ञापन आपके नेत्र स्थान में हैं क्योंकि उनकी तरफ आपकी हमेशा निगाह रहती है। ...अन्नदाता! आपके लुधियाना, लाहौर, अलीगढ़, मुरादाबाद और झाँसी आदि के मित्र, गुप्त और प्रसुप्त इत्यादि प्रकट, अप्रकट और प्रकटाप्रकट नामधारी विज्ञापनबाज हैं। इन कोकशास्त्रों, रतिशास्त्रीय और कामशास्त्री जीवों के दर्शन अंधी खोपड़ी के आदमियों को बहुत ही दुर्लभ हैं। ...जीवनी शक्ति आपकी सैकड़ों तरह के ताम्बूल विहार के, हज़ारों तरह के उपदंशहारक, प्रमेहमारक, शुक्रकारक दवाओं के, लाखों तरह के बीसा, पच्चीसा, तीसा यंत्र और उड्डीस, साबर, बृहत् साबर, महाबृहत् साबर, तंत्रों के अजीब-अजीब विज्ञापन हैं।[28]

ज़्यादातर पत्रिकाओं में विज्ञापन प्रकाशित करने के नियम और दर सुपरिभाषित होते थे। उदाहरणार्थ, *मर्यादा* पत्रिका में अलग-अलग पृष्ठों के अलग विज्ञापन-दर के अलावा तीन नियम भी उल्लिखित थे:

(1) बिना जाँच किए किसी विज्ञापन का प्रकाशन नहीं होगा,
(2) कम-से-कम एक कॉलम का विज्ञापन भेजने वालों को ही *मर्यादा* की मुफ़्त प्रति भेजी जाएगी, अन्यथा नहीं,
(3) विज्ञापन का भुगतान अग्रिम करना होगा।[29]

इस प्रवृत्ति को बाज़ार के दबाव के संदर्भ में समझना उपयुक्त रहेगा, क्योंकि प्रसार-संख्या अब भी चिन्तनीय ही थी। उसी प्रकार, नयी प्रकार की इन पत्रिकाओं के विज्ञापनदाता व्यावसायिक फ़ायदा उठाने का प्रयास भी कर रहे थे। अन्य चीज़ों के अलावा द्विवेदीजी समीक्षा स्तंभ के लिए जिस तरह की सामग्री प्राप्त कर रहे थे, उसमें *आस्ट्रिया की अंगूठी* और *हाथरस के चाकू* जैसी सामग्री भी होती थी।[30] *हंस* के सम्पादक प्रेमचंद ने इस तरह की दुविधा का वर्णन करते हुए लिखा है:

> प्रतियोगिता के इस युग में पत्र-पत्रिकाएँ भी अपने मालिकों और व्यवस्थापकों के हित में लाभ बढ़ाने के लिए दूसरे व्यवसायों के द्वारा कई हथकंडे इस्तेमाल करते हैं। ... कभी किसी प्रकार का विवाद छेड़ दिया जाता है या फिर कला के नाम पर अर्द्ध नग्न तस्वीरें छापी जाती हैं। प्रशासकों को अदालती नोटिसों द्वारा ख़ुश किया जाता है, लोगों को उनके गुप्त भेद बताने की धमकी देकर उनसे पैसे ऐंठे जाते हैं या फिर लोगों का ध्यान खींचने के लिए कोई सनसनीख़ेज़ समाचार प्रकाशित किया जाता है।[31]

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से बनते हुए एक सार्वजनिक क्षेत्र की हिन्दी परिभाषा 20वीं सदी की शुरुआत से नए मोड़ लेने लगी थी। इसमें बदलते हुए राजनीतिक संदर्भों का भी उतना ही हाथ था जितना कि बढ़ती हुई साक्षरता

की दर का, भले ही वह कितनी ही कम क्यों न रही हो। जहाँ पत्रिकाओं के फ़लक के विस्तार से एक बड़े फ़लक पर मुद्दों को समेटने की कोशिशें हुईं, वहीं दूसरी ओर बाज़ार में अपना अस्तित्व बनाए रखने की चिंता ने कई प्रयोगों को भी जन्म दिया। पर सफलता के फ़ार्मूले अभी भी इतने कम थे कि अधिकांश पत्रिकाएँ अपने रुख़ में सीमित ही रहीं। वहीं दूसरी ओर कुछ पत्रिकाओं की विषय-वस्तु में विविधता ने भी एक खिचड़ी क़िस्म की पत्रकारिता को जन्म दिया जो एक साथ साहित्यिक विवादों को भी जगह दे सके और रोज़-ब-रोज़ की सनसनीख़ेज़ ख़बरों को भी।

लेकिन सुधारवादी एजेंडा के तहत विज्ञापनों में भी सुधार की कोशिश की जाती थी। बनारसी दास चतुर्वेदी ने उग्र को लिखे एक पत्र में उनके एक उपन्यास के विज्ञापन को अस्वीकृत करने का कारण बताते हुए लिखा है:

> *चुम्बन* नामक ब्लॉक भेज रहा हूँ। *मॉडर्न रिव्यू* वाले मॉडर्न हैं और मैं कुछ पुराने ख़यालात का हूँ। आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि मॉडर्न रिव्यू वालों का विशाल भारत के लिए लेखकों या चित्रों के अलावा विज्ञापनों के चुनाव पर कुछ दख़ल नहीं है। मार्च के अंक में प्रथम स्थान पर — A Harem Scene — छपा है जिसमें टुंडी को खोले हुए और कुचों को उकसाये हुए एक स्त्री खड़ी है। मैंने कह दिया कि मैं उस चित्र को नहीं दूँगा। ... आप स्त्री पुरुष के चुम्बन के बजाय माता और पुत्र के चुम्बन का ब्लॉक बनवाइए। मेरी यह serious सलाह है।[32]

चतुर्वेदी की पत्रिका में प्रकाशित होनेवाले ज़्यादातर विज्ञापन बंगाल केमिकल्स की आयुर्वेदिक दवाइयों के होते थे और चित्तरंजन दास और पी सी राय द्वारा अनुमोदित होते थे। पुस्तकों के विज्ञापन भी इसी दुविधा का शिकार लगते थे। हालाँकि इन पत्रिकाओं का उद्देश्य सद्साहित्य का प्रचार-प्रसार था, लेकिन बाज़ार के दबाव की वजह से चालू साहित्य के विज्ञापनों को उन्हें अपने काफ़ी पृष्ठ देने पड़ते थे। जैसे कि *मर्यादा* में 'उपन्यास बहार ऑफिस, काशी' के विज्ञापनों का लगातार प्रकाशन होता था। उनके विज्ञापन 10-12 पृष्ठों के होते थे, जिसमें *सफ़ेद खून, पैशाचिक कांड* जैसे जासूसी उपन्यासों के अलावा पारसी थिएटर के नाटकों के टाइटल्स होते थे जिनमें शेक्सपियर के नाटकों के रूपांतर किए हुए सनसनीख़ेज़ शीर्षक होते थे — जैसे कि *काली नागिन* (जूलियस सीज़र), *ख़ूने नाहक* (हैमलेट), इत्यादि।

प्रसार संख्या और पाठकवर्ग

विज्ञापनों और बिक्री के लिए अपनाए जाने वाले तमाम हथकंडों के पीछे मुख्यतः इन पत्रिकाओं का अनिश्चित पाठक वर्ग था। 1911 के संयुक्त प्रांत की जनगणना रिपोर्ट के लेखक ने लिखा था, "किसी साक्षर भारतीय के बारे में सबसे पहले किसी यूरोपीय का जो चीज ध्यान खींचती हैं वह यह कि वह अपनी साक्षरता के साथ कुछ ख़ास करता दिखाई नहीं देता और सबसे कम तो अपने मनोरंजन के उद्देश्य से"।[33] बावजूद इसके यदि हम बाद के वर्षों में निरंतर फैलते पाठक वर्ग पर ध्यान केंद्रित करें तो यह टिप्पणी ग़लत साबित होती दिखाई देती है। यह ज़रूर है कि इन पत्रिकाओं के पाठकवर्ग को चिह्नित करना, ख़ासकर न्यूनतम साक्षरता के उस दौर में, ख़ासा मुश्किल काम है। पर लोगों में बढ़ती राजनैतिक जागरूकता, एक नई प्रकार की संचार विधा के प्रति निरंतर बढ़ती उत्सुकता आदि ने मिलकर लोगों को इन पत्रिकाओं की तरफ़ ध्यान देने को विवश किया। ज़ाहिर है कि उस छोटे से बाज़ार में ज़रूरत से ज़्यादा प्रतियोगियों का होना उनमें से अनेकों को असमय ही समाप्त कर देता था। पर साथ ही साथ इस पाठक वर्ग की बदलती रुचियों के हिसाब से पत्रिकाओं की विषयवस्तु में भी परिवर्तन आता गया। जहाँ इसका पाठकवर्ग अधिकांशतः शहरी और क़स्बाई क्षेत्रों से निकले हुए शिक्षक, वकील, पेशेवर वर्ग के लोग, ज़मींदार और समाज सुधारक जैसे लोग थे, वहीं दूसरी ओर बहुत सी पत्रिकाओं के ख़ास उद्देश्य से संचालित होने के कारण वे ख़ास वर्गों को ही संबोधित करते थे।

पत्रकारिता की उपयोगिता के संदर्भ में निरंतर बनी हुई अनिश्चितता तत्कालीन सरकारी रिपोर्टों से भी ज़ाहिर होती है। बिहार में *सर्चलाइट* के एकमात्र दैनिक होने के कारणों पर विचार करते हुए एक अधिकारी ने लिखा था, "यह तथ्य कि पूरे प्रदेश में एक अख़बार है ज़ाहिर करता है कि सामान्य जन ख़बरों के लिए दूसरे माध्यमों पर अभी भी निर्भर हैं और स्थानीय पत्रिकाओं को तत्कालीन घटनाओं पर उनकी टिप्पणी जानने के लिए ही ख़रीदते हैं"।[34]

जल्दी ही बदलते हुए राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के मद्देनज़र पत्रिकाओं का विस्तार तेज़ी से बढ़ा। 1921 के आते-आते गांधी के असहयोग आंदोलन और ख़िलाफ़त आंदोलन का प्रभाव इतना ज़बरदस्त था कि मात्र संयुक्त प्रांत में, जहाँ 1918 में पत्रों की संख्या 18 थी, वह 1921 में बढ़कर 93 हो गई और उनकी प्रसार संख्या 24,000 से बढ़कर 82,000 हो गई।[35] वैसे प्रदेश की लगभग साढ़े चार करोड़ की जनसंख्या के मुक़ाबले यह संख्या बहुत कम थी। दूसरी तरफ़ 1921 तक पत्रिकाओं का विस्तार इतना हो चुका था कि केवल यू.पी. में इनकी संख्या बढ़कर 525 हो चुकी थी और 1927 तक आते-आते 641 हो गई थी। इनमें से 17 दैनिक थे, 197 साप्ताहिक, 284 मासिक और शेष अनिश्चिकालीन पत्र-पत्रिकाएँ थीं। इनमें 265 हिन्दी में थीं, 89 अंग्रेज़ी में, 82 उर्दू में। कुछ ख़ास पत्रिकाओं की प्रसार संख्या देखें तो 1923 में *प्रताप* की प्रसार संख्या 14,000 — *माधुरी* 6,000 — *प्रभा* की 3,000 और *अभ्युदय* की 3,000 थी।[36] 1940 तक आते-आते मात्र उत्तर प्रदेश में 14 पत्रिकाओं की कुल प्रसार संख्या बढ़कर 62,000 तक पहुँच गयी थी, जिसमें से *अभ्युदय* 4,000 — *चाँद* 3,000 — *माधुरी* 2,000 — *माया* (इलाहाबाद से प्रकाशित मासिक) 5,000 — *प्रताप* (इसके संस्थापक-संपादक — गणेश शंकर विद्यार्थी के निधन के बावजूद) 7,000 और *सरस्वती* की 5,000 हो चुकी थी।[37]

इन पत्रिकाओं के प्रसार-विस्तार पर एक संक्षिप्त नज़र डालने से यह भी दिखता है कि उनकी प्रकृति के अनुरूप ही उनकी प्रसार संख्या नियत थी। इस नाते जो ख़ास उग्र राजनीतिक विचार की पोषक थीं वे उन पत्रिकाओं के मुक़ाबले ज़्यादा बिकती थीं जो किसी ख़ास विषय पर ही केंद्रित हों, जैसे कि साहित्यिक। किन्तु इनका महत्व तब भी कम करके नहीं आँका जा सकता, ख़ासकर एक ऐसे समाज में जहाँ विचारों के प्रसार के तंत्र काफ़ी विविध और संश्लिष्ट थे।

संदर्भ

1. प्रकाशकीय वक्तव्य, *सरस्वती*, जनवरी 1900. जल्दी ही, 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा इसका संपादकीय भार संभालने के साथ-साथ 'मनोरंजन' पक्ष को हाशिए पर ढकेलने के प्रयास तेज़ हो गए.
2. *सरस्वती* के आरंभिक प्रकाशकीय वक्तव्य में ही विषयों का वर्णन इस प्रकार था, "गद्य, पद्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवनी, हास्य, परिहास, पुरातत्व, विद्रूप, विज्ञान, शिल्प, कला आदि और नई पुस्तकों की समीक्षाएँ", 'भूमिका', *सरस्वती*, इलाहाबाद, जनवरी 1900.
3. टेरी ईगल्टन के अनुसार, "*मैन ऑफ़ लेटर्स* एक सामान्य वैचारिक बौद्धिकता का वाहक होता है. बजाय एक ख़ास बौद्धिक विशेषज्ञता के वह अपने दौर के पूरे सांस्कृतिक और बौद्धिक परिदृश्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने वाला होता है" और "उसका काम वैचारिक तौर पर उखड़े हुए, अव्यवस्थित पाठक वर्ग को तत्कालीन विचारों, भौगोलिक खोजों से लेकर अभिजात

आलोचना तक की सामान्य और लोकप्रिय समझ प्रस्तुत करना है — इस बारे में उन्हें शिक्षा देना है, उस समझ के आधार को ठोस रूप प्रदान करना है". *द फ़ंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्मः फ्रॉम द स्पेक्टेटर टू पोस्ट-स्ट्रक्चरलिज़्म*, टेरी ईगल्टन, वर्सो, लंदन, 1984, पृ. 45, 48.

4. श्रीनारायण चतुर्वेदी, *सरस्वती की कहानी*, श्री नारायण चतुर्वेदी (संपा.), *सरस्वती*, हीरक जयंती अंक (1900-1950), इलाहाबाद, 1961, पृ. 13.
5. एलिज़ाबेथ आइज़ेंस्टाइन, *द प्रिंटिंग प्रेस ऐज़ एन एजेंट ऑफ़ चेंज*, केंब्रिज, 1979, पृ. 89.
6. सी ए बेली, *लोकल रूट्स ऑफ़ इंडियन पॉलिटिक्सः इलाहाबाद (1882-1920)*, क्लैरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, 1975, पृ. 20. बेली ने 19वीं सदी के इलाहाबाद के प्रचारकों की सूची दी है जिनमें 14 स्थानीय पत्रों से जुड़े थे, ऐसे वकील और शिक्षक जो बहुत सफल नहीं हो पाए थे — 9 पुराने संगठनों से जुड़े धर्म प्रचारक थे; दूसरे छह 'जाति' या 'गो-रक्षा आंदोलन' से जुड़े संगठनों आदि द्वारा जोड़े गए थे. उनके अनुसार, "उनमें सभी, दोनों ही प्रचार के 'पारंपरिक' और 'नए' मुहावरों के इस्तेमाल में सिद्धहस्त थे और दोनों ही तरह के, नए सार्वजनिक संगठनों और शहरों और साथ-साथ ज़मींदारों के पुराने सामाजिक सत्ता-तंत्र को जोड़ने में सफल भी".
7. यहाँ यह तथ्य ध्यान देने लायक है कि इंडियन प्रेस के द्वारा छापी गई एक स्कूली पाठ्य-पुस्तक 'तृतीय रीडर' की भाषा की आलोचना के बाद ही उन्हें प्रेस के मालिक चिंतामणि घोष ने *सरस्वती* का संपादक बनने को आमंत्रित किया था.
8. 'साम्वत्सरिक सिंहावलोकन', म.प्र. द्विवेदी, *सरस्वती*, दिसम्बर 1904, *म.प्र. द्विवेदी रचनावली खण्ड-5* में पुनः प्रकाशित, पृ. 488-91, संपा. भारत यायावर, किताबघर, नई दिल्ली, 1995.
9. 'आत्मनिवेदन', म.प्र. द्विवेदी, *द्विवेदी रचनावली*-5, पृ. 518-27. द्विवेदीजी का यह वक्तव्य उनके 70वें जन्मदिवस के सम्मान समारोह में दिया गया था और इसका आयोजन काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने मई 1933 में किया था और यह उसी महीने की *सरस्वती* में प्रकाशित हुआ था. इस अवसर पर प्रकाशित 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' का लोकार्पण ओरछा नरेश वीर सिंह जू देव के हाथों हुआ था. यह तथ्य दिलचस्प है कि 1930 के दशक में भी पत्रकारिता और हिन्दी समाज के रिश्ते तत्कालीन राजा-महाराजाओं से काफ़ी गहरे थे.
10. इनमें, *कर्मवीर* में कर्मवीर परिवार की समस्याओं का कभी उल्लेख न करना, कभी आर्थिक सहायता की अपील न करना, कभी सनसनीख़ेज़ ख़बरें प्रकाशित न करना आदि शामिल हैं. *हिन्दी पत्रकारिता के कीर्तिमान*, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1993, पृ. 194-205.
11. 'कुछ अपने विषय में', प्रेमचंद, *हंस*, बनारस, जून 1931. देखें, अमृत राय (संपा.), *विविध प्रसंग-3*, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 493-4.
12. द्विवेदी, *पूर्वोक्त*, पृ. 518-27.
13. द्विवेदी 'कमल किशोर त्रिपाठी' के छद्मनाम से, 'समाचार पत्रों का विराट रूप', *सरस्वती*, नवंबर 1904, *द्विवेदी रचनावली-2*, पृ. 408-10.
14. बालमुकुंद गुप्त, 'संवाद पत्रों का इतिहास', *भारतमित्र*, दैनिक, कलकत्ता, झाबरमल्ल शर्मा और बनारसी दास चतुर्वेदी (संपा.), *बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग* में प्रकाशित, गुप्त स्मारक ग्रन्थ प्रकाशन समिति, कलकत्ता, संवत 2007, पृ. 255-7.
15. *वही*, पृ. 262-4.
16. रामलाल मिश्र, *बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ* से उद्धृत. देखें जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी *हिन्दी पत्रकारिता के कीर्तिमान*, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1993, पृ. 105-13.
17. बालमुकुन्द गुप्त, 'अपनी बात', *गुप्त निबन्धावली-भाग 1*, पूर्वोक्त, पृ. 396.
18. बनारसीदास चतुर्वेदी, 'सम्पादकीय विचार', *विशाल भारत*, संवत 1984, वर्ष 1, सं. 1, कलकत्ता.
19. मारियोला ऑफ़रेदी, 'द सर्च फ़ॉर नैशनल आइडेंटिटी ऐज़ रिफ़्लेक्टेड इन द हिन्दी प्रेस', मॉरियोला ऑफ़रेदी (संपा.), *लिट्रेचर लैंग्वेज एण्ड द मीडिया इन इण्डिया*, मनोहर, नई दिल्ली 1992, पृ. 246.
20. कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए बोस ने *कर्मवीर* की प्रशंसा राष्ट्रीय महासभा अर्थात राष्ट्रीय कांग्रेस का झंडा फहराये रखने और हर हफ़्ते देशभक्तिपूर्ण संदेशों द्वारा लोगों को प्रेरणा देने के लिए की थी. देखें जगदीश प्रसाद, *उपरोक्त*, पृ. 194-205.

21. *गुप्त निबंधावली*, उपरोक्त, पृ. 340.
22. 'प्रभा के नियम', *प्रभा*, चैत्र 1970 विक्रमी, वर्ष-1, संख्या-1, खण्डवा, मध्य प्रांत.
23. शिवपूजन सहाय का पत्र पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र के नाम, ता. 19-8-1925, *फ़ाइल और प्रोफ़ाइल*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 362.
24. *वीणा*, जबलपुर, मई 1912, पृ. 6.
25. *उपरोक्त*.
26. महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'आत्म निवेदन', द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ के लोकार्पण के अवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा में दिया गया भाषण. देखें *सरस्वती*, मई 1933.
27. 'वात्सरिक विज्ञप्ति', *सरस्वती*, दिसंबर 1908. देखें *द्विवेदी रचनावली-5*, पूर्वोक्त.
28. द्विवेदी, 'समाचार पत्रों की महिमा', पूर्वोक्त.
29. प्रथम पृष्ठ, *मर्यादा*, जनवरी 1916, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग.
30. द्विवेदी, 'सम्पादकीय', *सरस्वती*, जनवरी-फ़रवरी 1908.
31. प्रेमचंद, 'साहित्यिक गुंडापन', *हंस*, अगस्त 1933. अमृत राय (संपा.) *विविध प्रसंग-3*, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 102.
32. उग्र के नाम बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र, *फ़ाइल और प्रोफ़ाइल*, पूर्वोक्त, पृ. 225.
33. *सेंसस ऑफ़ इण्डियाः 1911*, यू.पी. ऑफ़ आगरा ऐण्ड अवध.
34. *'बिहार एवं उड़ीसा पर रिपोर्ट'*, 1923 की पत्र-पत्रिकाओं पर वार्षिक रिपोर्ट, होम (पॉलिटिकल) (कॉन्फ़िडेंशियल), फ़ाइल नं. 284/24, 1924.
35. *रिपोर्ट ऑन द वर्किंग ऑफ़ द सिस्टम ऑफ़ गवर्नमेंट ऑफ़ यूनाइटेड प्रॉविन्सेज़ ऑफ़ आगरा ऐण्ड अवध, 1921-1928*, सुपरिन्टेडेंट ऑफ़ गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, यू.पी., 1928, पृ. 239-45.
36. वार्षिक रिपोर्ट, *पूर्वोक्त*, फ़ाइल संख्या 284.
37. *वार्षिक रिपोर्ट*, 1940. होम (पॉलिटिकल) (कॉन्फ़िडेशियल), फ़ाइल संख्या 33/2/41—पॉलिटिकल (आई.), जनवरी 1941.

हिन्दी पब्लिक स्फ़ियर

हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया

फ्रंचेस्का ओरसीनी

जब *सरस्वती* के संपादक देवीदत्त शुक्ल (1888-1970) दफ़्तर जाने के लिए मिर्ज़ई-लुंगी उतारकर धोती-कुरता पहनते, जब साहित्यिक सभाओं में हिन्दी साहित्यकार गपशप छोड़कर शुद्ध हिन्दी में भाषण देने लगते, जब मैथिलीशरण गुप्त (1889-1964) वैदिक कालीन भारतवासियों को 'हमारे पूर्वजों' के नाम से पुकारते, और जब हर विषय और हर कार्य के सामने 'जातीय' या 'राष्ट्रीय' विशेषण जोड़ा जाता — जातीय साहित्य, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय शिक्षा, जातीय इतिहास — तब एक ही प्रक्रिया के अलग-अलग पहलू नज़र आते हैं।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में युरोपीय विचार तथा सार्वजनिक जीवन से प्रेरित होकर कई शिक्षित हिन्दुस्तानियों ने कुछ उसी ढंग की भाषा, रहन-सहन और समाज की कल्पना करना शुरु किया था, जिसके माध्यम से वे अपने नए आदर्श — एकता, उन्नति, स्वर्णिम अतीत तथा उज्ज्वल भविष्य के आदर्श — सबके सामने व्यक्त करने लगे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते, और ख़ासकर 1857 के बाद, उत्तर भारत के शहर और क़स्बों में जगह-जगह सभा-समितियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ तथा स्कूल-कॉलेज स्थापित होने लगे। उन सबकी एक विशेषता अनोखी ही कही जाएगी — कम से कम सिद्धांततः वहाँ सबको आने और भाग लेने की अनुमति थी, इस शर्त पर कि सब शिष्टाचार के पाबन्द रहें। मगर कैसा शिष्टाचार? पुराने शिष्टाचार से उसका क्या और कैसा फ़र्क़ था? और ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं का 'सर्वजन' कौन था? तब और अब के बीच कोई रिश्ता है?

आज के हिन्दी जगत में कई ऐसी बातें हैं जो उस सुदूर अतीत से जुड़ी नज़र आती हैं। जैसे, 1990 के दशक तक हिन्दी में एक भी दलित लेखक क्यों नहीं हुआ था? आजकल हिन्दी साहित्यिक संस्थाएँ प्रायः सवर्णों के हाथों क्यों हैं? हिन्दी आलोचना में अब तक रामचन्द्र शुक्ल का इतना बोलबाला क्यों है, वग़ैरह। ये सारे सवाल एक-दूसरे से क्यों जुड़े हैं, यह भी समझने के लिए हमको पीछे मुड़कर 1920 के आसपास की विकसित होती हुई सार्वजनिक दुनिया की छान-बीन करनी पड़ेगी। 'सार्वजनिक दुनिया' यहाँ 'पब्लिक स्फ़ियर' का बेढब अनुवाद है, इसके लिए हिन्दी के विद्वान मुझे माफ़ करें। इससे मेरा मतलब 'सराय' का 'पब्लिक डोमेन' उतना नहीं है जितना युर्गन हाबरमास की परिभाषा में वे सारी गतिविधियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्यिक संस्थाएँ तथा अन्य सार्वजनिक सभाएँ हैं जहां लोग ऐसे मामलों पर वाद-विवाद करते थे, जिनका संबंध निजी सरोकारों से नहीं, सर्वसाधारण से है। पब्लिक स्फ़ियर सरकार, बाज़ार (अर्थ-व्यवस्था) तथा घर-परिवार के बीच का वह क्षेत्र है जहाँ लोग वाद-विवाद ही नहीं, योजनाएं बनाकर उन पर अमल भी करते हैं। यहाँ मेरा सरोकार केवल हिन्दी की दुनिया से ही है, यानी उस दुनिया से जहाँ हिन्दी का प्रयोग संपर्क भाषा के रूप में ही नहीं, जाति और राष्ट्र के प्रतीक के रूप में भी होने लगा था।

अपने ढेर सारे समकालीनों की तरह, देवीदत्त शुक्ल ने इस दुनिया में स्कूल तथा समाचारपत्रों द्वारा प्रवेश पाया था। छठी कक्षा और सोलह साल की उम्र में वे अपने मामा के यहां कलकत्ते से छपने वाले साप्ताहिक *भारतमित्र* के

संपर्क में आ गए थे। थोड़े ही दिन के बाद उनकी मित्र-मंडली को भी अख़बार पढ़ने का चस्का लग गया। आपस में बंग-भंग की चर्चा करने लगे। शुक्ल जी ख़ुद आगे चलकर इंडियन प्रेस में नौकरी करके इस दुनिया का हिस्सा बन गए तथा उन्होंने इसमें बड़ा नाम भी कमाया। लेकिन हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया कहने से मेरा अभिप्राय कुछ और भी है। उत्तर भारत की विकसित हो रही सार्वजनिक दुनिया में भाषा की क्या भूमिका थी, सार्वजनिक दुनिया को भाषा के आधार पर विभाजित करना मुनासिब है, ये सवाल पब्लिक स्फ़ियर को समझने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। मिसाल के तौर पर समाचारपत्रों को ही ले लें। अपनी आत्मकथा में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था कि जो ऐंग्लो-इंडियन अख़बार अंग्रेज़ों के हाथ में थे, उनमें बड़े-बड़े अधिकारियों की ख़बरें भरी हुई रहती थीं। बड़े शहरों तथा हिल स्टेशन में अंग्रेज़ लोगों की पार्टियाँ, फ़ैंसी-ड्रेस बॉल, नाटक मंडलियाँ, इन सबकी चर्चा बहुत विस्तार से छपती थी।[1]

हिन्दुस्तानी मालिकों के अख़बार उनसे अलग थे मगर उनमें भी भाषा के आधार पर कुछ रोचक अंतर दिखाई देते हैं। 2 जनवरी 1924 के इलाहाबाद के दैनिक *लीडर* को देखें, जिनके संपादक उदारपंथी नेता वाई सी चिन्तामणि थे, तो उसकी मुख्य ख़बरें थीं अधिकारियों का तबादला, राष्ट्रीय राजनीतिक सम्मेलनों के संवाद, सरकारी क़ानून और बाज़ार की ख़बरें। संपादकीय संसद की विशुद्ध भाषा में लिखा हुआ था, जबकि स्थानीय समाचार 'मुफ़स्सल' के स्तंभ के अंतर्गत थे। विज्ञापन को देखने से पता चलता है कि वे ऐसे पाठकों को लुभाने की कोशिश कर रहे थे जिनके पास बैंक बैलेंस होगा; अंग्रेज़ी कोर्स के विज्ञापन को देखने से यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इस अख़बार के पाठक समाज में तरक़्क़ी करना चाहते थे। *लीडर* के रूबरू अगर उसी दिन के हिन्दी दैनिक *वर्तमान* को रखें, जो रमाशंकर अवस्थी के संपादन में कानपुर से छपता था, तो पहले ही पन्ने से बड़ा स्पष्ट अंतर दिखाई देता है: 'चीन में बॉलशेविकों की सरकार', 'जज पर रंडियों ने जादू किया', यानी बड़े-बड़े अक्षरों में सनसनीख़ेज़ ख़बरें। अंदर के पन्नों पर अंतर्राष्ट्रीय मज़दूरों के आंदोलन से लेकर कानपुर की साम्यवादी पार्टी की गतिविधि तथा सांप्रदायिक दंगे तक, सारे लेख कानपुर के कारख़ानों के मज़दूरों को लक्षित करके थे। एक स्तर पर इसका जवाब आसान है — उच्च और मध्यवर्ग की भाषा अंग्रेज़ी थी, जनता की भाषा हिंदी। लेकिन जवाब फिर भी इतना आसान नहीं, क्योंकि उसी दौर में हिन्दी ने संपूर्ण समाज की भाषा होने का दावा किया था। तो फिर?

1857 के बाद

पुरुषोत्तम अग्रवाल और वसुधा डालमिया[2] हमको दिखा चुके हैं कि 1857 के बाद के दौर में उत्तर भारत के शहरों में हिन्दी को लेकर एक नई चेतना उभरने लगी थी जिसने कुछ ही सालों में अच्छे-ख़ासे आन्दोलन का रूप ले लिया था। उसके अगुआ थे अग्रवाल-खत्री सेठ-व्यापारी, छोटे ज़मींदार, बड़े किसान, पटवारी, क़ानूनगो और पण्डित जिनके बच्चे स्कूलों, अदालतों, सरकारी विभागों और फ़ौज में नौकरी करने लगे थे। इन्हीं वर्गों से एक ऐसा हिन्दी मध्यवर्ग उपजने लगा, जो अक्सर उच्च जाति का था मगर आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर था। उसको एलीट (विशिष्ट वर्ग) कहना कुछ ही मायनों में सही होगा। इन्हीं वर्गों के हाथ में हिन्दी, साहित्य-सुधार तथा जातीय धर्म के सवाल मूर्त रूप लेने लगे। चाहे सवाल पुरानी पण्डुलिपियों की खोज का रहा हो या सरकारी स्कूलों में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा, अदालतों में देवनागरी का प्रयोग या आधुनिक हिन्दी शब्दकोश को तैयार करने का — इन सब मामलों में इनके द्वारा स्थापित हिन्दी संस्थाएँ सक्रिय तथा काफ़ी हद तक सफल होने लगीं।

जो अंतर 1880 और 1920 की हिन्दी दुनिया के बीच नज़र आता है वह अनुमाप का है। हिन्दी शिक्षा का विस्तार, अख़बार-पत्रिकाओं का प्रसार, गाँधी के व्यापक जनान्दोलन, जिसमें औरतें और किसान भी बड़े पैमाने पर हिस्सा लेने लगे थे — इन सब कारणों से 1920 के बाद की हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया सचमुच बहुत बड़ी हो गई। एक मायने में हिन्दी का यह दावा सही होने लगा कि वह 'असली जनता' की भाषा है, जबकि अंग्रेज़ी 'कृत्रिम समाज' की और उर्दू पतनोन्मुख वर्गों की। मगर उसी दौरान इस विस्तृत हिन्दी दुनिया के अंदर नई आवाज़ों के उठने के साथ-साथ मतभेद भी बढ़ने लगा। उसमें कुछ ऐसे लोग थे जो चाहते थे कि हिन्दी 19वीं सदी की हिन्दी-हिन्दू

वेदना
उच्छ्वास

उन्नति वाली परिपाटी पर ही चलती रहे, जो उर्दू-विरोध के दौर में उपजी थी। मगर बहुत ऐसे भी लोग थे जो मानते थे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा, स्वराज और सामाजिक क्रान्ति एक ही लक्ष्य के अलग-अलग पहलू हैं। 'पब्लिक' और 'पब्लिक स्फ़ियर' को लेकर इन दोनों का नज़रिया भी काफ़ी हद तक एक दूसरे का उल्टा था — पहले वाले के नज़रिये को मैंने 'एकमतपसंद' का नाम दिया है, दूसरे को 'बहुमतपसंद' कहा है। इसके निहितार्थों में विस्तार से जाने की इजाज़त चाहूंगी।

हिन्दी की विविधता-भरी दुनिया की वजह से हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य के विकास के लिए 1920 और 1930 के दशक अत्यंत रोचक और निर्णायक साबित हुए। आख़िर इन्हीं दशकों में प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, निराला, प्रसाद और महादेवी जैसे मौलिक साहित्यकार और चिंतक प्रकट हुए — एक दूसरे से इतने क़रीब होते हुए भी कितने भिन्न। और इन्हीं दशकों में अवध का किसान आन्दोलन तथा बिहार की किसान सभा जैसे संघर्ष हुए जिनका हिन्दी की दुनिया पर गहरा प्रभाव अंकित हो चुका है।[3] ऐसी विविधता, विस्तार और आपसी मतभेद के बावजूद हिन्दी का संस्कार इतना रूढ़िवादी क्यों बना, यह सवाल पूछने लायक़ है।

मेरे ख़याल से इसका जवाब हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया के ढाँचे और उसमें क्रियाशील तथा सफल शक्तियों में खोजना पड़ेगा। तीसरे और चौथे दशक की हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में दो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती हुई दिखती हैं — एक तरफ़ हिन्दी की दुनिया का व्यापक हो जाना, दूसरी तरफ़ सरकारी तथा ग़ैरसरकारी व्यवस्था में शुद्ध हिन्दी का घर बनाना। मेरा मानना है कि हिन्दी की दुनिया में एकमतपसंद शक्तियाँ अंततः प्रबल रहीं — चाहे पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्यिक संस्थाएँ, यहाँ तक कि काँग्रेस ही को क्यों न लें। वहां सबने एक ऐसी हिन्दी को अपना लिया जो शुद्ध तो थी मगर न तो देसी थी न ही हिन्दी दुनिया की विविधता प्रकट करनेवाली। ऐसी शुद्ध हिन्दी के संस्कार की जीत में उस बहुमतपसंद नज़रिये की हार भी हुई। इस लेख के दूसरे हिस्से में औरतों और किसानों के प्रवेश के सवाल को उठाकर हम यह भी पूछेंगे कि क्या वह हार सचमुच की हार हुई?

एकमतपसंद और बहुमतपसंद

हाबरमास की 'पब्लिक स्फ़ियर' की परिभाषा के अनुसार समाचारपत्र तथा सभा-समितियों में आवाज़ उठाने वाले लोगों को लाज़िम है कि वे अपनी बात रखते समय तर्क-वितर्क का प्रयोग करें। क्योंकि बहस-मुबाहसे में अपनी राय सिद्ध करके, उसको दूसरों के खंडन-मंडन से बचाने तथा विपक्ष को हराने के लिए इतना कहना काफ़ी नहीं होता कि 'परंपरा के अनुसार ऐसा होता चला आया है'। अपनी बात को तर्कसंगत दिखाकर दूसरों की दलीलों को कमज़ोर दिखाना ज़रूरी हो जाता है। लिहाज़ा पब्लिक स्फ़ियर की इस परिभाषा में विवाद या बहस की अहम भूमिका रहती है — वाद-विवाद के दौरान हर मौक़े पर अपनी बात को तर्क-वितर्क के सहारे पेश करना पड़ता है। दूसरों को सुनकर जवाब देना पड़ता है। इससे सभी को अहसास होने लगता है कि चाहे किसी विषय पर अपना ही नज़रिया सही क्यों न लगे, और नज़रिये भी होते हैं, संभव होते हैं। नज़रिये, विश्वास, नियम कुछ हद तक नम्र, लचीले और सशंक मालूम होने लगते हैं।

पर कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनको यह बात मंजूर नहीं होती हैः इनको मैंने एकमतपसंद कहा है। हिन्दी की दुनिया में ऐसे कई लोग मिलते हैं, मसलन, मदन मोहन मालवीय (1861-1946)। ज़रा इनके 'विवाद' संबंधी विचार को देखें। अपने 1907 के लेख 'भारतवासी और देशभक्ति' में वे सरकार को यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि सुशासन के लिए प्रजा को विवाद का अधिकार मिलना आवश्यक है। यहाँ प्रजातंत्र से मालवीय जी का मतलब लोकतंत्र नहीं बल्कि एक ऐसे राज्य से है जहाँ की प्रजा राजा के सामने अपनी राय व्यक्त कर सकती है। 'यह सब ख़राबियां उस समय दूर हो जाती हैं जब प्रजा को स्वयं ही उन विषयों पर विचार और विवाद करने का समय दिया जाय।... राजा को प्रजा की असली दशा मालूम हो जावेगी और फिर राज्य के संपूर्ण कार्य न्यायसंगत होंगे।' सरकार से उनकी इतनी ही माँग थी। 'भारतवर्ष, जो आज-कल स्वराज्य के लिए पुकार रहा है, उसका यही मन्तव्य है। स्वराज्य से उसका मतलब यह है कि हमको अपने राज्य-कार्यों पर विचार करने का अधिकार मिले।'[4] यहाँ तक विवाद ठीक है, ज़रूरी भी है। मालवीय जी किसी अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ का हवाला देते हुए हिन्दी में उसके मंतव्य का हूबहू अनुवाद कर देते हैं:

> वाद-विवाद में मुख्य-मुख्य शक्तियाँ (incentives) हैं जो कि उन्नति के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। वाद-विवाद से बुद्धि तीव्र होती है। किसी राजनैतिक कार्य का निश्चय करने के लिए उस पर भली-भाँति अपने बुद्धि-बल के द्वारा बहस करना बुद्धि से बड़ा भारी अभ्यास करना है जो कि उसे बढ़ायेगा। वाद-विवाद द्वारा शासन करना मनुष्य जाति की उन्नति करने के मुख्य उपाय हैं। (*वही*, पृ. 106)

वाद-विवाद की इतनी तारीफ़ करने के बाद लेकिन उनको यह बात सूझती है कि "परंतु वाद-विवाद करना अत्यंत नाज़ुक विषय है। जिस प्रकार कि उसको रीति के अनुसार करने से महान् लाभ है, *उसी प्रकार इसमें तनिक भी ख़राबी आने से बड़ी-बड़ी हानियां पहुँच सकती हैं*"। (*वही*, ज़ोर हमारा।) "वाद-विवाद वालों को सहिष्णु होना चाहिए तथा उनको 'शक्तियुक्त शांति' का प्रदर्शन करना चाहिए।" बाद में मालवीय जी ये भी लिखते हैं कि "जापान की उन्नति का कारण भी समस्त जापानियों का एकमत होना ही है" (*वही*, पृ. 109)। इतने ऊँचे आदर्श, इतनी भारी शर्त रखने का परिणाम वाद-विवाद के मूल्य को ही नकारना होगा। वाद-विवाद सिर्फ़ राज सरकार के साथ ही ठीक रहता है, जब वह भारतीय समाज के अंदर होता है तो "बड़ी-बड़ी हानियाँ पहुँच सकती हैं"। एकमतपसंद से मेरा यही मतलब है: एक ऐसे नज़रिये से जो पब्लिक स्फ़ियर में एक ही मत, एक ही विधान को स्वीकार करने को तैयार है — चाहे सवाल राजभाषा का हो या जातीय संस्कृति का, भारतीय नारी या राष्ट्रीय आन्दोलन का। इस दृष्टिकोण से 'पब्लिक' के लिए अक्सर 'जाति' प्रयोग में आया करता है। 1921 में, 10वें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर, सम्मेलन के कर्त्ता-धर्त्ता पुरुषोत्तमदास टंडन के शब्दों में:

> हमको आगे जो स्वराज्य मिलेगा, उसकी भाषा हिन्दी ही होनी चाहिये, न कि अंग्रेज़ी। हमारा स्वराज्य Democracy के सिद्धान्तों के आधार पर न होगा, वरन् हमारे स्वराज्य में हमारी पुरानी सभ्यता, भाषा तथा अन्य राष्ट्रीय अंगों की रक्षा होगी। यह बात सिद्ध ही है।[5]

पब्लिक स्फ़ियर को लेकर दूसरा नज़रिया, जो कि हाबरमास की परिकल्पना के ज़्यादा क़रीब है, कुछ इस तरह था: चाहे हिन्दू समाज, अंग्रेज़ी राज्य, वर्ण-व्यवस्था या हिन्दी साहित्य की बात क्यों न हो, जो स्थिति अब तक चली आई है वह किसी-न-किसी तरीक़े से बेजा है, प्रतिकूल है, इस देश-काल के लिए अनुचित, अप्रासंगिक या असंगत हो चुकी है। और हमें किसी न किसी तरह बदलना पड़ेगा। अख़बारों में आलोचना करके, जनसाधारण की आवाज़ को सुनकर-सुनाकर अपनी-अपनी ज़िंदगी में भी ज़रूरी परिवर्तन लाने होंगे। इस व्यापक परिवर्तन को लाने के लिए यह भी ज़रूरी समझा जाने लगा कि राजनीति की बात शिक्षित मध्यवर्ग की सीमित परिधि को छोड़कर जनसाधारण तक, उसकी अपनी ज़बान में, पहुँचाई जाए। *प्रताप* के संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी के शब्दों में:

> अब समय आ गया है कि हमारे राजनैतिक विचार और आन्दोलन अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमाबद्ध न रहें, किन्तु सामान्य जनता में भी फैलें और भारतीय लोकमत इने-गिने पढ़े-लिखे लोगों का मत नहीं, किन्तु देश के सब वर्गों के विचारों का प्रतिबिम्ब हो। जब हम स्वराज्य के लिए आन्दोलन कर रहे हैं तब हमें एक प्रख्यात राजनीतिशास्त्र-विशारद के इस सिद्धान्त को न भूलना चाहिए कि प्रजा सत्तात्मक शासन वास्तव में लोकमत का शासन है। विस्तृत सुविज्ञ लोकमत की सृष्टि का बड़ा भारी साधन यह है कि हमारे राजनैतिक वार्तालाप और विवाद में अंग्रेज़ी के साथ-साथ देशी भाषाओं का भी प्रयोग हो।[6]

हिन्दी दुनिया की संस्थाएँ

हाबरमास की एक ख़ूबी यह है कि वे केवल 'डिस्कोर्स' का अध्ययन नहीं करते बल्कि उन सब जगहों की तरफ़ इशारा भी करते हैं जहाँ संस्कार, विचार-विमर्श तथा सार्वजनिक मिलना-जुलना हुआ करता है। जगहों से मेरा

मतलब ठोस और वैचारिक दोनों क़िस्म की जगहों से है — शिक्षा की मिसाल लें, तो ठोस जगह का मतलब यानी स्कूल, उनकी इमारतें, कक्षाघर, अहाते, और वैचारिक जगह की बात करें तो पाठ्यपुस्तकें तथा शिक्षा संबंधी वाद-विवाद, जो पत्र-पत्रिकाओं में हुआ करते थे। हिन्दी पब्लिक स्फ़ियर की जगहों से मेरा मतलब मूलतः पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्यिक सभा-सम्मेलन तथा शिक्षा रहा है। कुछ हद तक मैंने काँग्रेस तथा आम लोगों की राजनीति का भी अध्ययन किया है, ख़ासकर किसान आन्दोलन के संदर्भ में। यहाँ मेरा सरोकार इन सब 'जगहों' की एकमतपसंद या बहुमतपसंद भूमिका तक ही सीमित होगा।

वैसे हाबरमास के दृष्टिकोण से देखा जाए तो सिद्धान्त के तौर पर अख़बार अपने में हमेशा बहुमतपसंद ही होने चाहिए — एक तो इसलिए कि हरेक अख़बार में अलग-अलग, कई बार अंतर्विरोधी, मतों को जगह मिलती है। दूसरी बात यह कि निरी ख़बरों को पढ़ने से पाठक की आलोचनात्मक वृत्ति विकसित होती है। अलबत्ता 20वीं सदी की शुरुआत की सबसे महत्त्वपूर्ण हिन्दी पत्रिका, महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) द्वारा संपादित *सरस्वती* काफ़ी हद तक एकमतपसंद ही कही जाएगी। द्विवेदीजी के सामने लक्ष्य था हिन्दी समाज और उसकी भाषा, रुचि, और संस्कार को सुधारने का। उनकी संपादकीय क़लम के निरन्तर प्रयत्नों से हिन्दी का एक मानक रूप स्थापित तो हुआ। पर बात भाषा तक ही सीमित न रही। ब्रज की प्रचलित काव्यभाषा, विषय-वस्तु तथा सौन्दर्यबोध का बहिष्कार करके द्विवेदी जी ने कवियों को प्रकृति, ऐतिहासिक या समसामयिक विषयों पर लिखने को प्रेरित किया। अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए उन्होंने *सरस्वती* में उन्हीं रचनाओं को जगह दी जो उनकी रूचि-मान्यताओं के अनुसार थीं। यानी द्विवेदी जी ने पत्रिका का प्रयोग हिन्दी पब्लिक स्फ़ियर यानी हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में नए और शुद्ध संस्कार को फैलाने के लिए किया। इनके संपादक की भूमिका कुछ-कुछ सरपंच जैसी हो गई। 1920 में उनके *सरस्वती* को छोड़ने के बाद कई लोगों ने अफ़सोस प्रकट किया कि अब हिन्दी में निरंकुशता को रोकने वाला कोई नहीं रहा। इसमें कोई शक नहीं कि राजनीति और धर्म के ख़ुद के लगाए प्रतिबंध के बावजूद द्विवेदीजी ने प्रतिबद्ध नागरिकता की रूपरेखा तैयार करके हिन्दी सभ्य समाज के लिए महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभाई। हर एक सरकारी रिपोर्ट पर टीका-टिप्पणी करके इन्होंने हिन्दी पाठकवर्ग का ध्यान, जो कि मध्य वर्ग बनने की प्रक्रिया में था, लोकमत के कर्तव्य और अधिकार की ओर आकर्षित किया। फिर भी *सरस्वती* की भूमिका हिन्दी भाषी संसार में एकमतपसन्द ही कही जानी चाहिए।

तीसरे दशक की सबसे सफल हिन्दी पत्रिका *माधुरी* (1922) से *सरस्वती* की तुलना करें तो यह प्रकट हो जाएगा कि विचारों तथा रुचियों की उदारता से ही कितना अंतर पड़ सकता है। *सरस्वती* से प्रेरित और गेटप तथा आकाँक्षा में उससे मिलती-जुलती *माधुरी* साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक वाद-विवाद की दृष्टि से हिन्दी का प्रमुख कार्य-स्थल बन गई। वहाँ छायावाद के पक्ष और विपक्ष, ब्रजभाषा और खड़ीबोली, रूढ़िवादी तथा उग्रवादी, हिन्दूमहासभा तथा समाजवाद के समर्थक, सब प्रकार के मत-संस्कार वाले लोगों को जगह मिली। उससे एक और क़दम आगे, मासिक पत्रिका *चाँद* ने स्त्री-उपयोगी साहित्य का पूरा ढाँचा तोड़कर स्त्रियों के सामने हर तरह की ख़बरें और मसले रखकर उनको स्वराज्य के संघर्ष में बराबरी का दर्जा दे दिया। जबकि पहले की स्त्री-उपयोगी पत्रिकाओं ने स्त्रियों के सुधार का बीड़ा उठाया था, *चाँद* का दावा समाज-मात्र को सुधारने का था, स्त्रियों के पक्ष में।

पहले विश्वयुद्ध के बाद और 1920 के जनान्दोलन के साथ-साथ उत्तर भारत के कोने-कोने तक हिन्दी अख़बार फैलने लगे। *लीडर* जैसे उदारपंथी तथा सुधारवादी अख़बारों के परे, उन वर्गों तक पहुँचने लगे जो — अगर गणेश शंकर विद्यार्थी के शब्दों को याद करें — अब तक अंग्रेज़ी तथा हिन्दी की पब्लिक स्फ़ियर के बाहर रह गए थे। हिनदी अख़बार सचेत रूप से 'सर्वसाधारण' से जुड़ने की कोशिश करने लगे, उसका प्रतिनिधित्व करने लगे। "हम जब तक साधारण समाज को न अपनावेंगे और अपने पत्रों को उसके प्रतिबिम्ब न बना सकेंगें तब तक न हमारी उन्नति ही होगी और न हम प्रकृत देश सेवा ही कर सकेंगे", *आज* (1920) के संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर (1890-1944) ने क़ौल कियाः

> आजकल हमारे अच्छे सम्पादक आदर्श की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं, अपने पत्र को समाज का प्रतिबिम्ब बनाने की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते। (...) हमारे पाठक किन-किन

> श्रेणियों के हैं, उनका रहन-सहन कैसा है, उनकी जीविका के साधन क्या हैं, उनको जीवन-संग्राम में किन-किन कठिनाइयों से क्या सामना करना पड़ता है, उनका आमोद-प्रमोद क्या है, उनकी रुचि कैसी है, वे क्या सोचते हैं और क्या चाहते हैं, इन बातों का हम संपादकों को बिलकुल पता नहीं रहता।[7]

भाषा, विषय-वस्तु, काँग्रेस व राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति की दृष्टि से इस हृदय-परिवर्तन के कई पहलू थे। *आज*, *प्रताप*, *वर्तमान* जैसे अख़बारों में मज़दूर-किसान संबंधी ख़बरें नियमित तौर पर और बड़ी मात्रा में छपने लगीं। गणेशशंकर विद्यार्थी का *प्रताप* विशेष तौर पर किसानों का पक्ष लेकर अवध के किसान-आन्दोलन से जुड़ा रहा, यहाँ तक कि विद्यार्थीजी को ख़ुद उसके लिए जेल जाना पड़ा। *प्रताप* और *वर्तमान* दोनों कानपुर के मज़दूरों की समस्याओं को लेकर सक्रिय रहे। साथ ही, *सरस्वती* या *माधुरी* की तटस्थ, गंभीर तथा मर्यादित भाषा की तुलना में इन अख़बारों की भाषा आम बोलचाल की मिली-जुली ज़बान के ज़्यादा नज़दीक आ गई। इन अख़बारों में जनता का पक्ष लेकर काँग्रेस की कड़ी आलोचना भी होने लगी। अगर 'काँग्रेस संयुक्त भारत की आवाज़' होने का दावा करती है, तो "अब काँग्रेस की शक्ति क़ायम रखने के लिए वे दरवाज़े खोल देने पड़ेंगे, जो अभी तक किसी कारण से बंद रखे गये हैं", विद्यार्थी जी ने अपने 11 जनवरी के 'काँग्रेस लीला' नामक संपादकीय में लिखा। काँग्रेस की एलीट नीति की आलोचना के साथ-साथ, इन अख़बारों ने संसदीय राजनीति का भी मूलभूत छिद्रान्वेषण किया। 1936 में लिखते समय आगरा के दैनिक *सैनिक* के संपादक श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने जतलाया कि

> कौंसिल माया के मन्दिर हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष में वे जनता को शासन में योग देने के लिए, शासन के सूत्र उनके प्रतिनिधियों के हाथ में देने के लिए बताई जाती हैं। परन्तु वास्तव में वे हैं सत्ताधारी तथा पूँजीवादी श्रेणियों की स्वार्थसिद्धि के लिए। चुनाव की समस्त प्रथा आदि से अन्त तक एक राक्षसी माया है।[8]

हिन्दी अख़बारों में आए इस परिवर्तन से — यानी शिक्षित मध्यवर्ग के विचारों के माध्यम से साधारण समाज के प्रतिनिधि बन जाने में — क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन दो अलग वर्गों में राष्ट्रीय आन्दोलन की ही बदौलत, कम से कम ऊपरी तौर पर एकता सी होने लगी?

1920-30 के हिन्दी अख़बारों के इस छोटे-से सर्वेक्षण से यह साबित होता है कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में दोनों तरह के नज़रिये मिलते हैं — एकमतपसंद तथा बहुमतपसंद। एकमतपसंद पत्र एक ही क़िस्म के विचार एवं मूल्य को लेकर चलते थे। उनका काम था राष्ट्र के भवन का चित्र बनाकर उसको 'सर्वसाधारण के सामने प्रकाशित करना'।[9] ऐसे पत्रों में भाषा-साहित्य-समाज संबंधी विचार या नियम यूँ प्रकाशित होते थे जैसे वे सर्वमत से उपजे हुए हों। वाद-विवाद, असहमति या विचारों की भिन्नता को हानिकारक मानकर ये उसका मूल्य नकारते। उसको 'अभारतीय' कहा जाता। इसके विपरीत बहुमतपसंद पत्र यह मानकर चलते थे कि किसी भी विषय पर वाद-विवाद होना स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि लाभप्रद होता है। ऐसे पत्र नई आवाज़ों का स्वागत करके अपने को जनसाधारण के साँचे में ढालने की कोशिश करते थे। आज का युग किसान-युग है — ऐसा गणेश शंकर विद्यार्थी ने लिखा था। बिना सामाजिक परिवर्तन का स्वराज्य स्वराज्य ही नहीं होगा, यह इनका मानना था।

एकमतपसंद संस्थाएँ

यह सब कहने के बाद यह बात और भी विलक्षण लगती है कि इस विविधता-भरे माहौल के बावजूद जो हिन्दी संस्कार इन दशकों में विकसित हुआ, वह इतना 'शुद्ध' तथा अनुदार क्यों है? इसका जवाब बहुत हद तक हिन्दी साहित्यिक संस्थाओं की भूमिका को देखने से मिल सकता है। न केवल हिन्दी शिक्षा और पाठ्यक्रम को तय करने में, बल्कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के आन्दोलन में भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा (स्था. 1893) और हिन्दी साहित्य सम्मेलन (स्था. 1910) जैसी संस्थाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा। यहाँ विस्तार की गुंजाइश नहीं है, पर इतना ध्यान दिलाना

कविता-कामिनी

काफ़ी होगा कि नागरी प्रचारिणी सभा जैसी संस्थाएँ 19वीं सदी की हिन्दी-उर्दू वाली लड़ाई के दौरान उभरी थीं। इनका मानना था कि हिन्दी हिन्दू समाज की भाषा तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति की उत्तराधिकारी है। सरकार के सामने उन्नति तथा वैज्ञानिक शोध की बातें करके वे संस्थाएँ बहुत हद तक सरकार के आश्रयभाजन और कृपापात्र बनने में सफल हुई थीं तथा शिक्षा विभाग की सहयोगी बनकर हिन्दी पाठ्यक्रम को बनाने का पूरा अधिकार प्राप्त कर सकीं। जैसे इस *दीवान* के अन्य लेखक ज़िक्र कर चुके हैं, वैसे तो हिन्दी के समर्थक 'कृत्रिम' तथा उच्च वर्ग तक सीमित अंग्रेज़ी शिक्षा की निन्दा करके उसके रूबरू हिन्दी को 'जन-शिक्षा' का माध्यम घोषित करते थे। पर असल में हिन्दी पाठ्यपुस्तकों की भाषा स्वयं कृत्रिम तथा उच्च वर्ग तक सीमित ही थी, जो *सरस्वती* जैसी उच्च कोटि की पत्रिकाओं में छपती थी। वैसे पाठ्यपुस्तकों की सामग्री खुद पर्याप्त मात्रा में *सरस्वती* से उद्धृत होती थी।[10] इसके अलावा पुरस्कारों के वितरक होने की हैसियत से इन संस्थाओं का प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में भी बढ़ता गया। हर साल नागरी प्रचारिणी सभा मंगलाप्रसाद पारितोषिक (स्था. 1921) तथा देव पुरस्कार (स्था. 1927) बाँट देती, हर साल हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने वार्षिक सम्मेलन के सभापति चुनकर किसी साहित्यकार को परम सम्मान देता – इससे भी दोनों संस्थाएँ हिन्दी साहित्य संसार में मान्यता की मोहर-सी बन गईं। काँग्रेसी नेताओं को भी लगने लगा कि हिन्दी समाज की नाड़ी पर पकड़ के लिए इन संस्थाओं से जुड़े रहना ज़रूरी है। 1930 के दशक में काँग्रेसी नेता अक्सर साहित्य सम्मेलन

के सभापति बनने की कोशिश में रहे। यह वह दौर था जब स्वतंत्र लेखक रोज़ी-रोटी तथा ऊँचे आदर्शों के बीच तालमेल बिठाने के कठिन प्रयत्न में लगे हुए थे। उनके सामने यह कठोर सत्य प्रकट होता जा रहा था कि जो साहित्यिक तथा नैतिक पूँजी वे लेखन से अर्जित कर पाए थे, राजनीति या समाज के व्यापक क्षेत्र में उसका कोई मूल्य नहीं था। निराला की दुःखद कहानी इसी सत्य का साक्षी है।

इन्हीं एकमतपसंद संस्थाओं के प्रयत्न से शिक्षा व्यवस्था में हिन्दी घर बना सकी। और जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पहला हिन्दी विभाग खुला तो उसके अध्यापक सब-के-सब नागरी प्रचारिणी सभा से आ गए, अपने संस्कार लेकर। उनके संस्कार सिर्फ़ उनके तो नहीं थे। जो हिन्दी राजनीतिज्ञ कहला सकते हैं उनके संस्कार भी, चाहे वे मदन मोहन मालवीय रहे हों या पुरुषोत्तमदास टंडन, संपूर्णानन्द या नरेन्द्र देव, यानी चाहे वे हिन्दूमहासभावादी या समाजवादी क्यों न रहे हों, काफ़ी हद तक एक जैसे थे: उन्हें भारतीय संस्कृति के समन्वयवादी धरोहर में अटल आस्था थी, प्राचीन भारत के स्वर्णिम युग से गहरा लगाव था तथा साहित्य के नैतिक गुणों में पूरा विश्वास। इस सांस्कृतिक संवेदना की राजनीति रूढ़िवादी ही रही हो, यह कहना ग़लत होगा। पुरुषोत्तमदास टंडन आज़ादी के बाद दक्षिणपंथ की ओर बढ़ते चले गए, यह सही है, मगर संपूर्णानन्द और नरेंद्र देव को लेकर यह कहना ज़्यादा सही होगा कि उनकी राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि के बीच में एक दरार-सी दिखाई पड़ती है। राजनीति के मामले में वे समाजवादी थे, मगर संस्कृति के मामले में परंपरावादी या समन्वयवादी। समन्वय का आदर्श अपने में बुरा तो नहीं कहा जा सकता है, पर उसकी आड़ में उच्च वर्गों के प्रभुत्व को चुनौती मिलने से रही। रही बात पब्लिक स्फ़ियर में भाषा की भूमिका की, सो इस दौर में चुनाव के नियमों में सुधार आने के कारण हिन्दी भाषी पब्लिक का महत्त्व बढ़ा, और संपूर्णानन्द तथा पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे मामूली पृष्ठभूमि के तथा सड़क की राजनीति से उभरनेवाले लोग विधान सभा की ड्योढ़ी पार कर गए। फिर भी अंग्रेज़ी बोलने की क्षमता उस द्विभाषिकता का मूर्त प्रतीक रहा, जो सफल भारतीय राजनीतिज्ञ का अनिवार्य लक्षण रहा है। वे जनता से हिन्दी में बात करते, राज्य सरकार और राष्ट्रीय स्तर के दूसरे राजनीतिज्ञों से अंग्रेज़ी में।

महिलाएं और किसान

इससे पहले कि यह लेख हिन्दी दुनिया में हिन्दू राष्ट्रवादी संस्कार की विजयपताका में बदल जाए, दो और पहलुओं का ज़िक्र करना ज़रूरी है जिनका 1920-30 की हिन्दी दुनिया में बहुत बड़ा महत्त्व रहा। एक तो औरतों की सक्रियता, दूसरे किसान आन्दोलन की चुनौती। इन दोनों पहलुओं पर ध्यान देने से इस सवाल पर भी विचारने का अवसर मिलेगा कि पब्लिक स्फ़ियर में शिरकत के कौन-कौन से रास्ते खुले थे और हाबरमास की थ्योरी पर भी कुछ सवाल उठाने की गुंजाइश होगी। उनकी परिकल्पना के अनुसार वाद-विवाद शिरकत का मुख्य माध्यम होता है। और तर्क-वितर्क सार्वजनिक वाद-विवाद की आधारभूत कसौटी होती है। क्या औरतों और किसानों के उदाहरण से इन सिद्धान्तों की पुष्टि होती है?

स्त्रियों के लिए सार्वजनिक दुनिया में प्रवेश से जुड़ी ख़ास मुश्किलें भी थीं। विशेष रूप से संभ्रान्त महिलाओं के लिए। न केवल पर्दा-प्रथा की वजह से उनका बाहर जाना या पुरुषों से मिलना-जुलना मना था, क़दम-क़दम पर उनकी ज़िन्दगी कुनबे, बुज़ुर्गों तथा अभिभावकों के नियंत्रण में होती थी। वास्तव में 1920 के दशक तक स्त्री के सवाल पर जितनी बहसें हिन्दी में हुई थीं वे सब महिलाओं के बीच में न होकर महज़ उनको लेकर हुई थीं। भारतीय नारी की परिभाषा क्या है, यह बहस 'नारी' तथा 'भारतीयता' के बीच स्थापित तादात्म्य से प्रभावित हो चुकी थी। भारतीय नारी सहनशील है, सेवाव्रती है, अन्नपूर्णा है, त्यागी है, सदा अपने सत का पालन करनेवाली है — यानी उसमें वे सारे गुण भरे हुए हैं जो भारत की विशिष्टता है और जिनका भौतिकवादी पश्चिमी दुनिया में अभाव रहा है। भारतीय नारी के गुण तय करने में यह बात ज़्यादा अहम थी कि वह भारतीय पुरुष, मुसलमान पुरुष तथा पश्चिमी स्त्री से अलग और कहीं ऊँचे धरातल पर है। नतीजा यह हुआ कि जिन औरतों ने लेखन या पढ़ाई के ज़रिए से, या फिर सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता से हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में क़दम रखा, उनको इन सारी अपेक्षाओं-आदर्शों से जूझना पड़ा। उनसे समझौता करना पड़ा। भारतीय नारी ऐसी है, वैसी नहीं है — उनको हर बात, हर काम में यह सुनना-समझना पड़ा। उसके बावजूद, और उत्तर भारत में स्त्री-शिक्षा के सीमित प्रचार के बावजूद,

1920 से लेकर हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में औरतें बड़े पैमाने पर सक्रिय होने लगीं। 1920 के असहयोग आन्दोलन और विशेषकर 1930 के आन्दोलन में शहरी तथा देहाती औरतों की हिस्सेदारी उल्लेखनीय है।

पहली बात यह है कि इस सक्रियता के प्रमाण हमको स्कूली शिक्षा या स्त्री समितियों के परे जाकर खोजने होंगे क्योंकि तब तक उनकी पहुँच उच्च वर्ग की थोड़ी-सी स्त्रियों तक सीमित रही थी। हिन्दी पत्रिकाओं पर ध्यान देना होगा तथा रोज़मर्रा के कार्यों पर, जैसे चर्खा चलाना, स्वदेशी माल ख़रीदना, और आगे चलकर धरना देना तथा जुलूस निकालना। हाबरमास की पब्लिक स्फ़ियर की परिकल्पना इस अर्थ में उपयोगी है, क्योंकि उसमें लिखना-पढ़ना व ग़ैर-राजनीतिक काम भी राजनीति के व्यापक अर्थ का हिस्सा माने जाते हैं।

आर्य समाज की शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों के उदाहरण से स्पष्ट है कि जिन औरतों को हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में कुछ-कुछ प्रवेश की अनुमति मिली, वे उपलब्ध आलोचनात्मक साधनों का प्रयोग अपने-अपने सवाल उठाने के लिए करने लगीं। समाज से मुख़ातिब होकर वे तर्क-वितर्क के सहारे यह पूछने लगीं कि आजकल जो हमारी दयनीय स्थिति है, वह किन परिस्थितियों की देन हैं? समाज के नियम तथा हमारी भूमिका को किसने निर्धारित किया है? उन स्त्रियों का जवाब स्पष्ट था। *मनुस्मृति* के उस श्लोक के संबंध में, जिसके अनुसार स्त्री को हमेशा किसी और के सुपुर्द रहना चाहिये, एक आर्य-समाज शिक्षित महिला ने यूँ लिखा:

> इस श्लोक से स्त्री की कोमलता का तथा उसके मूल्य का आभास होता है। मूल्यवान वस्तु को ही ख़ूब सुरक्षित, गोप्य रखना पड़ता है परन्तु बड़े-बड़े विद्वानों ने इस वास्तविक अर्थ को न समझकर उसकी पवित्रता का अपमान किया, उसके मूल्य को पैरों से ठुकराया, उसको अविश्वसनीय समझा, उसकी स्वतंत्रता छीन ली, उसे पुरुषों के बराबर अधिकारों के उपयुक्त न समझा। उसके आत्मिक व मानसिक विकास के विशाल द्वार पर ताला ठोंक दिया। उपनयन संस्कार से वंचित रखकर सदा के लिए अविद्या के अनुकूप में ढकेल दिया। 'स्त्री शूद्रो नाधीयताम् इति श्रुतिः' की मन-गढ़न्त रचना वाले वेदों के नाम से भी भ्रम उत्पन्न करने लगे...।[11]

यह भी ध्यान देने योग्य है कि औरतों ने केवल तर्क-वितर्क का सहारा नहीं लिया। पत्रिकाओं के चिट्ठी-पत्री के स्तंभ या कथा-कहानियों द्वारा वे पाठकों को अपील करती हुई नज़र आती हैं। इन चिट्ठियों या आध-कल्पित आध-असली कहानियों (जैसे 'मैं पतित कैसे हुई') की विशेषता यह थी कि उनमें बोलनेवाली 'मैं', पाठक को सीधे संबोधित करके उससे सहानुभूति या एकात्म्य मांगती थी। 'स्त्रियों के सवाल' से संबंधित ढेरों लेखों से ज़्यादा 'आप मेरी जगह होतीं तो क्या करतीं?' जैसे सवाल सशक्त और कारगर साबित हुए। एक ऐसी चिट्ठी का नमूना देखिए:

> संपादक जी,
> मैं गुजराती वणिक हूँ। मेरा सम्बन्ध ग्यारह वर्ष की उम्र में कर दिया गया। मेरे ससुराल वालों का वंश नीचा और कलुषित है। पर उन्होंने चालाकी से विवाह कर लिया। माता-पिता के कुसंस्कार से मेरे पति अशिक्षित नहीं, उद्दण्ड और निरुद्योगी भी हैं। चालचलन भी ख़राब है। मुझे धार्मिक व सदाचारी जीवन अच्छा लगता है। इससे मेरा उनके साथ वैमनस्य ही रहता है। (...) बारह बरस में तीन सन्तानें भी हुईं पर दुर्दैव से एक भी जीवित नहीं रही। इस समय भी मैं माता होने वाली हूँ। इस दशा में भी मुझे इतना मारा गया कि मैं बीमार हो गई। यह दशा देख कर मेरे बड़े भाई मुझे अपने घर लिवा लाये हैं। उस बेचारे पर भी नीच आक्षेप किये जाते हैं। मैं पूछती हूँ कि एक अबला पर इतना अत्याचार क्यों? मेरे पति को मामूली पढ़ना-लिखना भी नहीं आता। तो भी सिर्फ़ वह पति हैं, इसलिए मुझे उनकी हर एक बात माननी चाहिये और मैं अगर कोई नीति की बात भी कहूँ तो उनका अपमान होगा, यह कहाँ का न्याय है? मैं सच्ची बात किससे कहूँ? (...) मेरे जीवन-निर्वाह का कोई साधन नहीं। हिन्दू-समाज और हिन्दू लॉ भी मेरी कुछ सहायता नहीं कर सकते। (...) आर्य संस्कृति और

> वैदिक विवाह-प्रणाली संसार भर में प्रसिद्ध है और पति-सेवा स्त्री का परम धर्म और कर्त्तव्य बतलाया जाता है पर कब? जब पति को अपनी सम्मति से वरण किया हो और वह गुणवान हो। पति के अत्याचारों के कारण मैं कोई समाज सेवा का काम नहीं कर सकती।...
>
> - एक दुःखिनी[12]

ऐसी चिट्ठियों की माँग थी कि भारतीय समाज और हिन्दू परिवार स्त्रियों का शोषण न करके उनको इंसानी दर्जा दे। अब तक स्त्री-सुधार का मतलब रहा था स्त्रियों का सुधार। इन चिट्ठियों और *चाँद* जैसी पत्रिकाओं के प्रयत्न से उसका मतलब बदल गया — अब उसका अर्थ स्त्रियों के ज़रिये और उनके हित में समाज-सुधार हो गया। औरतों की आवाज़ों का उभार कई बार सुधार की दिशा बदलते हुए भी नज़र आता है। विधवाओं के सवाल पर पुरुष सुधारकों ने विधवा-विवाह पर ही अधिक ज़ोर दिया था और विधवाओं के रिश्तेदारों से आग्रह किया था कि वे दया करके उनके साथ अत्याचार न करें। *चाँद* में प्रकाशित चिट्ठियों और वक्तव्यों का आग्रह यह था कि विधवा को अपनी संपत्ति पर तथा कुटुम्ब में सम्मान से रहने का अधिकार मिलना चाहिए। इसके साथ उन्होंने रोज़गार का सवाल भी उठाया, रहने के लिए सुरक्षित जगह की आवश्यकता पर ज़ोर दिया तथा इनको स्त्री-संबंधी दूसरी समस्याओं से जोड़ दिया, जैसे बाल-विवाह, दहेज-प्रथा और अनमेल-विवाह। लिखनेवाली औरतों का मानना था कि ये सब समस्याएँ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और स्त्री को कमज़ोर बनातीं हैं। यह बात भी ध्यान देने लायक़ है कि परिवर्तन की सिफ़ारिश अक्सर सबसे पहले लाचार स्त्रियों के लिए की जाती थी, जैसे विधवाओं के लिए। मगर आशय यह था कि जो परिवर्तन विधवाओं के लिए वांछनीय है वह बाक़ी औरतों के लिए भी मान्य तथा उचित होना चाहिए।

जो औरतें सार्वजनिक दुनिया में सक्रिय होने लगीं उनकी कार्य-परिधि सीमित तो थी ही, उनको भारतीय नारी से अपेक्षित आचार-विचार के अनुसार ही चलना पड़ता था। सबकी नज़रें उन पर गड़ी हुई थीं। स्कूल में पढ़ाने वाली औरतों को पहनावे, आचार-विचार, रहन-सहन, उठने-बैठने में कड़ा अनुशासन रखना पड़ता था। उनकी हर ग़लती सबूत बनकर कि स्त्रियों को बाहर नहीं जाना चाहिए — दूसरी औरतों का रास्ता बन्द कर सकती थी। *चाँद* या दूसरे स्रोतों से यह पता चलता है कि उस दौर में सेवा एक ऐसा झंडा बना जिसके तले बहुत सारी औरतें घर के बाहर बहुत-कुछ करने लगीं। देश-सेवा या समाज-सेवा के नाम पर औरतें स्कूल चलाने लगीं, सार्वजनिक सभाओं में भी भाषण देने लगीं। वे चर्खा चलातीं, लिखतीं, पढ़ती-पढ़ातीं, खान-पान तथा पहनावे में परिवर्तन लातीं, जुलूस में भाग

लेतीं, यहाँ तक कि परिवार को छोड़कर जेल भी चली जातीं। सेवा एक ऐसा मूल्यवान रचनात्मक गुण बन गया जो भारतीय नारी की निःस्वार्थता का साक्षी तो था ही, पर जिसके नाम घर के बाहर के बहुत सारे काम स्त्रियोचित ठहराए जा सकते थे। कुछ उसी तरह का परिवर्तन मर्यादा के मूलभूत स्त्रियोचित विधान को लेकर भी हुआ — वह लक्ष्मणरेखा जिसका तनिक उल्लंघन करके कोई भी स्त्री चाहे वह सीता ही क्यों न हो, अपने पूरे कुटुंब बल्कि संपूर्ण समाज का सत्यानाश कर सकती थी। स्त्रियों के लेख-कहानियों में उस लक्ष्मणरेखा की चर्चा कुछ यूँ होने लगी कि वह दूसरों से या समाज से निर्धारित न होकर आत्मनिर्धारित होनी चाहिए। स्त्रियाँ ही उन्हें खींचेंगी, पालन करेंगी और तय करेंगी कि उसकी सीमा-रेखा क्या है। मर्यादा बाहरी रूप-रंग की बात नहीं, आंतरिक आत्मानुशासन एवं आत्मबल पर आधारित होती है, यह उनका मानना था। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों की नायिकाओं की आश्चर्यजनक लोकप्रियता का कारण मुझे कुछ इसमें दिखाई देता है कि साधारण घरेलू औरतें होते हुए भी उनमें आत्मविश्वास और आत्मबल कूट-कूटकर भरा होता है। अपनी मर्यादा की मालकिन वे खुद हैं।

औरतों की मिसाल से यह स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक दुनिया में प्रवेश पाने का मतलब बराबरी की सदस्यता पाना नहीं था। राजनीतिक पार्टियों के नेतृत्व में स्त्रियों की भागीदारी नाममात्र ही रही — वह भी अक्सर किसी की बहन-पत्नी-बेटी होने के नाते। मगर यह निर्विवाद है कि उस दौर में औरतों को जो हासिल था वह आवाज़ उठाने से कहीं ज़्यादा था। जहाँ अभी तक एक ही पीढ़ी पहले तक बाहर घूमना और काम करना लगभग असंभव-सा था, यह सब बहुत हद तक राष्ट्रीय आंदोलन की वजह से संभव हो गया। बल्कि यह कहना ग़लत न होगा कि बाहर या हाशिए पर खड़े हुए लोगों या वर्गों के लिए सार्वजनिक दुनिया में प्रवेश पाने के लिए वाद-विवाद से अधिक दूसरी शक्तियाँ ज़रूरी होती हैं। महज़ पत्र-पत्रिकाओं में सवाल उठाने से काम नहीं चलता।

ये सारी बातें किसानों के विषय में भी लागू होती हैं। हिन्दी साहित्य के विद्वान वीरभारत तलवार ने यह दिखाया है कि उत्तर प्रदेश जैसे खेती-प्रधान इलाक़े में 1920 के पहले किसानों का सवाल लगभग नदारद है। 1907 की *सम्पत्तिशास्त्र* नामक किताब में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक भाग खेती की अर्थव्यवस्था को समर्पित किया था, बस। वैसे दरिद्र किसान हिन्दी की दुनिया में सबसे पहले काव्य में सहानुभूति के पात्र के रूप में प्रगट हुए, जैसे कि वीरभारत तलवार ने दिखाया है। उन सब कविताओं में किसान कर्त्ता के रूप में नहीं, शहरी मध्यवर्ग की सहानुभूति के कृपापात्र दीखते हैं। वे रोकर पुकारते हैं या मौन होकर रोते ही रोते हैं। कवि उनके लिए, उनकी जगह सवाल पूछता है:

कौन सुनेगा दीन जनों की राम कहानी।
दीनबन्धु भी भूल गए वह बात पुरानी।।
रहे बहुत दिन मौन सही सबकी मनमानी।
आँखों से बह गया धैर्य हो-होकर पानी।।
कल न सही तो काल ही किसी तरह कट जाएगा।
रोएँगे कुछ देर तो कुछ तो दुःख घट जाएगा।।[13]

वीरभारत तलवार ने यह भी दिखाया है कि पहले-पहल 1910 और 1920 के बीच में देहाती हालात के कुछ विश्लेषण हिन्दी पत्रिकाओं में छपने लगे, और इनमें से कुछ लेख किसानों की दुर्दशा पर भी आए।[14] चंपारण में गाँधीजी के हस्तक्षेप के बाद जैसे एक नया दौर शुरु हो गया। रूसी इंक़िलाब ने वह काम पूरा किया। नतीजा यह हुआ कि 1919-1922 तक अवध के किसान आन्दोलन के समाचार कुछ हिन्दी अख़बारों में बराबर छपते रहे। तभी से कुछ हिन्दी अख़बार तथा कुछ कॉंग्रेसी कार्यकर्त्ता तेज़ी से समाजवाद की ओर बढ़ने लगे। वे मज़दूर-किसानों के संगठन बनाने में लग गए तथा 1930 के दशक में विकसित होने वाले कॉंग्रेस समाजवादी पार्टी तथा बिहार किसान सभा में सक्रिय रहे। यहाँ इस पर विस्तार से लिखने की न तो गुंजाइश, न ही ज़रूरत है। इतना कहना काफ़ी होगा कि हिन्दी की दुनिया में किसान आन्दोलन को लेकर तीन तरह की प्रतिक्रियाएँ हुईं। एक तरफ़ तो वे लोग थे जिनका मानना था कि किसान आन्दोलन आने वाले कलियुग का लक्षण है तथा उससे देहाती समाज का सामंजस्यपूर्ण

संतुलन नष्ट होने वाला है। इनमें से रामचन्द्र शुक्ल भी थे, जिनके मुताबिक़, "अंग्रेज़ों से पहले के भारतीय समाज में मुख्यतः दो विभाजन थे, व्यापारिक और अव्यापारिक। अव्यापारिक वर्गों में कृषि और राजकीय सेवाओं से जुड़े लोग थे। हर वर्ग या समुदाय के काम और अधिकार के अपने-अपने क्षेत्र थे, जिनसे वे संतुष्ट थे"।[15] शुक्ल जी के शब्दों में, "इस प्रकार समाज में पूरा सन्तुलन रखा गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रूप में युरोप के घृणित व्यापारवाद ने भारत में क़दम रखा और समाज के स्तरीय विभाजन के आधार पर जो सामंजस्य इतने दिनों से चला आ रहा था उसे अस्तव्यस्त कर दिया"। (वही) अब असहयोग आंदोलन, जिसमें शहरी व्यापारिक हित प्रबल थे, किसानों को भड़काकर तथा कृषक वर्ग में भेदभाव बढ़ाकर कंपनी का काम पूरा करने पर तुला हुआ था। शुक्ल जी के 'कृषक वर्ग' के अंतर्गत ज़मींदार-रैयत-खेतमज़दूर सभी लोग आते थे, जैसे कि सबके हित एक-जैसे रहे हों।

किसान आंदोलन को लेकर दूसरा दृष्टिकोण उन लोगों का था जिनका मानना था कि किसान-मज़दूरों की शिकायतें-माँगें सही तो हैं मगर उनका हल केवल ज़मींदार-किसान के बीच के समझौते से ही हो सकता है। इतिहासकार ज्ञान पाण्डेय के अनुसार, इस दृष्टिकोण का नतीजा यह हुआ कि किसान आन्दोलन राजनीतिक न होकर केवल आर्थिक-सामाजिक आन्दोलन ही समझा गया, जिसका हल राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद तक स्थगित किया गया। तीसरा दृष्टिकोण स्वामी सहजानन्द सरस्वती (1889-1950) जैसे लोगों का था जिनका मानना था कि किसानों की आर्थिक माँगें अपने आप में राजनीतिक हैं। और बिना आर्थिक-सामाजिक इंसाफ़ के स्वराज्य भी सच्चे अर्थ में स्वराज्य नहीं होगा।

हमारे लिए ये बातें ध्यान देने लायक़ हैं कि

(1) किसानों के संघर्ष से संबद्ध कार्यकर्त्ता और बुद्धिजीवी जो कभी-कभी फ़ुलटाइमर भी बन गए, ज़्यादातर हिन्दी पृष्ठभूमि के लोग रहे थे — जैसे वैद्यनाथ मिश्र नागार्जुन या राहुल सांकृत्यायन।

(2) उनकी इसी संबद्धता की वजह से वे यह भी मानने लगे कि किसान-मज़दूरों को पब्लिक स्फ़ियर में बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। वे उस माई-बाप वाली समझ का भी विरोध करने लगे जो उत्तर भारतीय समाज एवं काँग्रेस में काफ़ी व्याप्त थी। स्वामी सहजानन्द सरस्वती की आत्मकथा पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनको यह बोध धीरे-धीरे हुआ कि समझौतावाद का मतलब है किसानों को अपने राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखना।

(3) स्वामी सहजानन्द के नेतृत्व में बिहार की किसान-सभा किसानों की ख़ुद की पब्लिक स्फ़ियर बनाने में काफ़ी हद तक सफल हो गई। जुलूसों, आम सभाओं और स्थानीय संघर्षों में अभिव्यक्त इस व्यापक राजनीति का मूल क्षेत्र ग़ैर-संसदीय ही था। तर्क-वितर्क के अलावा, स्वामी सहजानन्द ने कुछ और तरीक़े भी अख़्तियार किए। जैसे, उनको यह लगने लगा कि किसानों की ताक़त उनकी संख्या में है, तथा उनके बल का प्रदर्शन करने के लिए यह ज़रूरी है कि वे सार्वजनिक जगहों पर बड़ी संख्या में इकट्ठे होकर अपने अधिकारों की सस्वर माँग करें। इसलिए उन्होंने किसान रैलियों का विधान चलाया। कुल मिलाकर संसद की राजनीति के द्वार किसान सभा के लिए बंद ही रहे — बिहार काँग्रेस को यह मंजूर नहीं हुआ कि उसके नेता चुनाव के लिए खड़े हों, यहाँ तक कि 1937 की काँग्रेस सरकार स्थानीय किसान आन्दोलन को दबाने में पीछे नहीं रही। पटना के किसी विशाल प्रदर्शन के बाद बिहार काँग्रेस सरकार के मुख्यमंत्री राजेन्द्र प्रसाद ने स्वामी सहजानन्द से कहा कि "स्वामी जी, इस हंगामे से सजग रहिये"। अपनी आत्मकथा में स्वामी सहजानन्द इसके बारे में यूँ लिखते हैं:

> मैं चुप सुनता रहा। मगर भीतर ही भीतर सोचा कि एक दिन इसी किसान समूह को मास (mass) कहते थे, यही लोग। आज वही माब (mob) हो गया? ये किसान समूह पहले भी 'माब' ही थे। बीच में प्रयोजनवश 'मास' बने। फिर वही 'माब' के 'माब' रह गये। क्योंकि शायद अब इनकी ज़रूरत इन नेताओं को नहीं और जिनकी ज़रूरत न हो उन्हें इसी नाम से स्थित स्वार्थ वाले सदा से पुकारते ही चले आते हैं। सरकार भी इन्हें सदा 'माब' कहती है और अब हमारे मंत्री लोग भी सरकार बने हैं।[16]

औरतों तथा किसानों का उदाहरण देकर मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि जब उपेक्षित समूह या वर्गों ने पब्लिसिटी अख़्तियार की तथा सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय होने की कोशिश की तो कई तरह की दिक़्क़तें, तनाव, प्रतिक्रियाएँ आदि पैदा हुईं, पर साथ ही कई अप्रत्याशित नतीजे भी निकले। जब इन लोगों ने देखा कि नेता संपूर्ण जनता के लिए जिस 'हम' का इस्तेमाल करते हैं वह उनके पक्ष को ठीक से नहीं पेश कर रहा है तो फिर उन्होंने वही सवाल अपने ढंग से उठाया। सार्वजनिक क्षेत्र में उनके पहले क़दम ग़ैर-संसदीय राजनीति में ही पड़े। कुल मिलाकर संसद की राजनीति के द्वार उनके लिए हमेशा बंद ही रहे। उनके प्रति हिन्दी मध्यवर्ग का रवैया प्रोत्साहन से लेकर असमंजस तथा शंका तक का रहा। सामाजिक न्याय के अपने अभीष्ट एवं संघर्ष के मौजूदा यथार्थ के बावजूद कई लोगों के लिए सामाजिक समन्वय के अपने आदर्श को छोड़ देना असंभव-सा रहा। आचार्य नरेन्द्र देव की तरह कई समाजवादी विचारक वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के संघर्षरहित समन्वय में भी विश्वास करते रहे।

इन सारी प्रवृत्तियों को समझने के लिए पब्लिक स्फ़ियर की धारणा हमारे लिए इसलिए उपयोगी हो जाती है क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी तथा अपने अंतर्विरोधी मतों के स्वरित होने की पर्याप्त गुंजाइश होने के अलावा यह दिखाना संभव हो जाता है कि फ़लाने विचार-संस्कार का अंत क्या हुआ, क्या वह कहीं कार्यान्वित भी हुआ या नहीं, उसको किसने कब अख़्तियार किया, वग़ैरह-वग़ैरह।

हिन्दी की दुनिया जो 1920 में बिखरी तथा विविधता से भरी हुई दीखती है वह 1940 तक आते-आते काफ़ी कुछ व्यवस्थित हो चुकी थी। उसकी रूपरेखा आज की हिन्दी की दुनिया से ज़्यादा भिन्न नहीं लगती। खड़ी बोली का मानक रूप आम आदान-प्रदान, साहित्य, शिक्षा तथा राजनीति की भाषा के रूप में स्थापित हो चुका था। यह उत्तर भारत के मंझले एलीट की तथा उभरने वाले निम्न-मध्यवर्ग तथा शहरी श्रमिक-वर्ग की भी भाषा थी। वह भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन पाई, यह अलग बात है। 1920 और 1940 के बीच के दौर में हिन्दी की दुनिया की जो तस्वीर हमारे सामने आती है वह दो अलग-अलग, परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों की है। एक तरफ़ तो हिन्दी की दुनिया का बहुत बड़ा विस्तार हुआ तथा उसमें बहुत सारे नए स्वर सुनाई देने लगे। दूसरी तरफ़, रूढ़िवादी संस्कार वालों की मोर्चाबंदी हुई जो अपनी संस्थागत सत्ता की वजह से दूसरे आलोचनात्मक तथा इंक़िलाबी स्वरों को किनारे करने में सफल रही।

इस रूढ़िवादी हिन्दी संस्कार की लंबी सफलता का एक मुख्य कारण उसकी शिक्षा पर, यानी ज्ञान के व्यवस्थित प्रसारण पर, पकड़ रहा है। यह देखकर हैरानी होती है कि हिन्दी साहित्य का पाठ्यक्रम, या हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक दृष्टि 1930 से लेकर आज तक कितनी कम बदली है। अब जाकर दलित लेखक-आलोचक उस पर प्रश्न चिन्ह लगाने लगे हैं — और प्रतिक्रियाएँ तो देखिए!

हिन्दी संस्कार की सफलता का दूसरा कारण शायद यह भी रहा है कि संकीर्ण होने के बावजूद वह निचले तबक़े के बहुत सारे लोगों के लिए समाज में आगे बढ़ने का माध्यम भी रहा है। आज़ादी के बाद वाले दशकों में शुद्ध हिन्दी की जानकारी सरकारी-ग़ैरसरकारी नौकरी पाने के लिए ज़रूरी हो गई। वही बात सार्वजनिक जीवन में हिस्सेदारी पर भी लागू होती है। फ़र्क़ इतना ही रहा कि 1920-30 के दशकों में जिन नए वर्गों ने हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में हिस्सा लेना चाहा उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से हिन्दी के संस्कार को बदलने की कोशिश की। बाद में नए वर्गों का विरोध राजनीति तक ही सीमित रह गया तथा वे सत्ताधारी ताक़तों का विरोध उसी शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में करते गए जो अपने आप सांस्कृतिक विविधता को नकारने वाली है। अंग्रेज़ी के प्रभुत्व से दुखी हिन्दी ख़ुद अपने ढंग का प्रभुत्व चलाती रही है। हिन्दी भी, हिन्दी मध्यवर्ग की तरह, सांस्कृतिक दृष्टि से आत्मतुष्ट तथा एकमतपसंद सब-एलीट की भाषा बन गई है।[17]

संदर्भ

1. जवाहरलाल नेहरू, *मेरी आत्मकथा* (अंग्रेज़ी में), 1998 (1936) पृ. 48.
2. पुरुषोत्तम अग्रवाल, '1857 और हिन्दी नवजागरण', *हिन्दी नई चाल में ढली एक पुनर्विचार,* (संपा.) पु. अग्रवाल, संजय कुमार, नई दिल्ली, 2000. वसुधा डालमिया, *द नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिन्दू ट्रैडिशनः भारतेन्दु हरिशचन्द्र ऐंड बनारस,* नई दिल्ली, 1997.
3. वीरभारत तलवार, *किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्दः 1918-1922,* नई दिल्ली, 1990.
4. मदन मोहन मालवीय, 'भारतवासी और देश-भक्ति', *अभ्युदय,* भाद्रपद-शुक्ल 14, सं 1964 (1907), *मालवीयजी के लेख*, दिल्ली, 1962, पृ. 105-6.
5. पुरुषोत्तमदास टंडन द्वारा पारित प्रस्ताव, *सम्मेलन पत्रिका*, भाग 7, अंक 8, पृ. 227 पर उद्धृत.
6. गणेश शंकर विद्यार्थी, संपादकीय, 'कॉंग्रेस के आगामी अधिवेशन पर कुछ विचार', *प्रताप,* 3 जुलाई, 1916, *क्रान्ति का उद्घोष*, जिल्द 1, कानपुर 1978, पृ. 240-1.
7. बाबूराव विष्णु पराड़कर, सम्पादक सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण, 16वाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, वृन्दावन, 1924, *सम्मेलन पत्रिका*, भाग 13, अंक 4-5, पृ. 233-5.
8. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, 'कौंसिल द्वारा स्वराज्य', *विशाल भारत,* बैसाख 1996 (अप्रैल, 1936), पृ. 450.
9. मदन मोहन मालवीय, 'राष्ट्र का निर्माण', *अभ्युदय,* मार्गशीष-कृष्ण 9, सं. 1964 (1907), *मालवीय जी के लेख,* दिल्ली, 1962, पृ. 126.
10. देखिए *हिन्दी नई चाल में ढली*, उपरोक्त.
11. श्रीमती सुशीलादेवी विद्यालंकृता, 'आर्य संस्कृति और स्त्रियाँ', *चाँद,* वर्ष 14, खण्ड 2, संख्या 4, सितंबर 1937, पृ. 162.
12. *चाँद,* 'चिट्ठी-पत्री', वर्ष 14, खण्ड 2, संख्या 1, मई 1937, पृ. 85-6.
13. गयाप्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल', *सरस्वती,* अप्रैल 1919.
14. देखिए वीरभारत तलवार, *किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्दः 1918-1922.*
15. वीरभारत तलवार, *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंगः कुछ प्रवृत्तियाँ*, नई दिल्ली, 1993, पृ. 27.
16. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, *मेरा जीवन संघर्ष*, नई दिल्ली 1987, पृ. 299.
17. आलोक राय, *हिन्दी नैशनलिज़्म*, ट्रैक्ट्स फ़ॉर द टाइम्स, 13, नई दिल्ली, 2000.

'बाज़ारू' साहित्य

औपनिवेशिक उत्तर भारत में अश्लीलता विवाद

चारु गुप्ता

इस लेख में बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उत्तर भारत के हिन्दी साहित्य और विज्ञापनों में अश्लीलता और यौन रूपकों की अभिव्यक्ति की पड़ताल की गई है। लेख तब के संयुक्त प्रांत और अब के उत्तर प्रदेश पर केन्द्रित है। प्रिंट माध्यमों के असर और नए साहित्यिक मिज़ाज की जांच-पड़ताल करते हुए लेख में इस अवधि में ब्रिटिश और हिंदू मध्य वर्ग के एक तबक़े में व्याप्त नैतिक घबराहट और इससे नैतिकता के सवालों पर आई ख़ासी बेचैनी पर विशेष ध्यान दिया गया है। एक 'सभ्य' और 'उचित' साहित्य की रचना ने एक नए प्रकार के सौंदर्यबोध का मार्ग प्रशस्त कर दिया और आधुनिक सामूहिक हिंदू पहचान को आकार देने की प्रक्रिया में मदद की। इसके समानांतर, साहित्य से तमाम क़िस्म की अश्लीलता समाप्त करने के प्रयासों को प्रिंट के व्यावसायिक रूपों की तरफ़ से एक गंभीर चुनौती का सामना भी करना पड़ा। कामुक, 'अश्लील' और अर्ध पोर्नोग्राफ़िक प्रकाशनों की बिक्री और अनेक कामोद्दीपक पदार्थों के विज्ञापनों से संकेत मिलता है कि पुरुषों और स्त्रियों की यौनेच्छाओं और भावनाओं को तुष्ट करने के लिए विभिन्न माध्यमों की मांग बढ़ती जा रही थी। ये सब साहित्यिक विविधता दर्शाते हैं और हिन्दी साहित्य की जटिल और आपसी संघर्ष-भरी ज़मीन भी दिखाते हैं।

भाषा, साहित्य और समाचार पत्र आधुनिक युरोप, एशिया और अफ़्रीका में राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और सामुदायिक पहचान के निर्माण, सत्ता की खींच-तान और प्रभुत्वशाली विचारों के प्रसार में बेहद महत्वपूर्ण माने गए हैं। यौनिकता

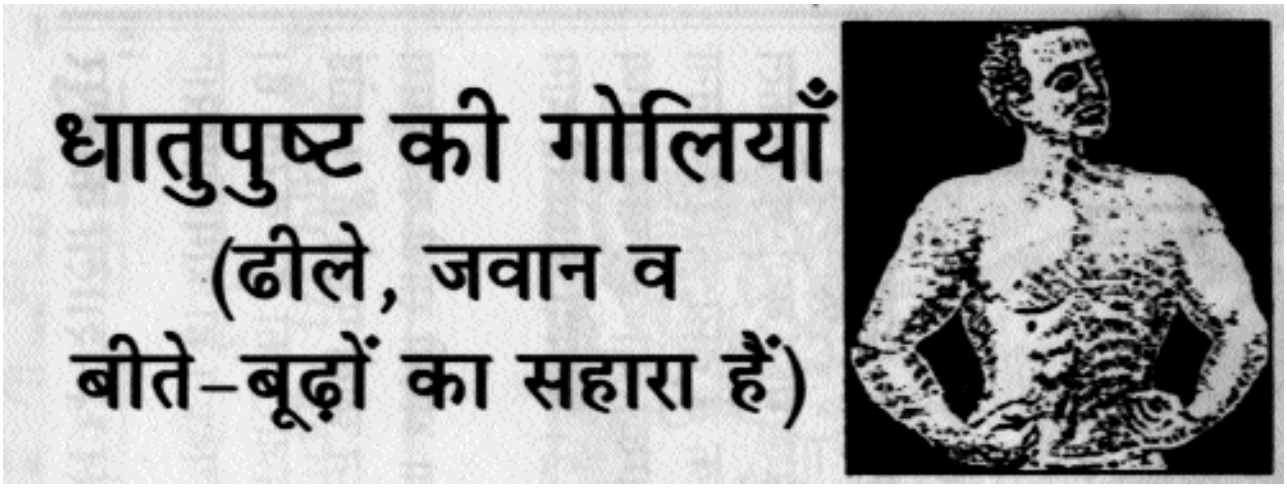

और अश्लीलता के संदर्भ में तर्क दिया जाता है कि आधुनिक जीवन के परिक्षेत्र में पुलिसिया पहरे बैठाने और उसका नियमन करने में वृद्धि हुई और एक लैंगिक नैतिकता उभरी। युरोप में इस बात पर भी ज़ोर दिया जाता है कि इसके पीछे साक्षरता में वृद्धि, समाचारपत्रों के प्रसार और शुचिता के विक्टोरिया-कालीन विचारों का हाथ था।

भारत में अश्लीलता को लेकर सबसे शुरुआती क़ानून उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में सामने आए। भारतीय दंड संहिता की धारा 292, 293 और 294 को ख़ासतौर से किसी भी प्रकार की अश्लीलता का निषेध करने के लिए संहिताबद्ध किया गया था।परंतु विभिन्न नियमों, नियंत्रणों और संधियों के बावजूद 'अश्लीलता' शब्द आज तक भी अस्पष्ट ही बना हुआ है। इसे न केवल 'पोर्नोग्राफ़ी' पर हमला बोलने के लिए इस्तेमाल किया जाता है, बल्कि उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड में इसे जन्म दर पर अंकुश लगाने के लिए छपने वाले प्रकाशनों को ग़ैरक़ानूनी घोषित करने के लिए भी इस्तेमाल किया जाता था। औपनिवेशिक भारत में भी इस शब्द की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं थी और आम बोलचाल और बहसों में उसे विविध अर्थों में प्रयोग किया जा सकता था। इस आलेख में अश्लीलता को इस मोटे अर्थ में ही लिया गया है क्योंकि एक तो इसकी परिभाषाएं अक्सर बहुत धुंधली रही हैं और दूसरे, सर्वथा भिन्न सामग्री को भी अश्लील या अशोभनीय कह कर एक ख़ाने में रखा जा सकता था।

सुज़ी थारू और के. ललिता ने अट्ठारहवीं सदी की तेलुगू कवियत्री और गणिका मुद्दुपालानी की चर्चा की है जिनके कामुक काव्य *राधिका संतवणम* को 1911 में पुनर्प्रकाशित किया गया था। इस क्लासिक रचना के केंद्र में राधा की कामासक्ति का चित्रण है। ब्रिटिश सरकार ने अश्लीलता का आरोप लगाते हुए इस संस्करण पर पाबंदी लगा दी और इस रचना को लेकर यहीं से एक लंबा विवाद शुरु हो गया। थारू और ललिता ने अपने विश्लेषण में ब्रिटिश सरकार की भूमिका पर ज़ोर दिया है परंतु इस कृति की पहली तीखी आलोचना 1887 में तेलुगु समाज सुधारक कंदुकुरी वीरेशलिंगम की तरफ़ से आई। उन्होंने यह कहकर इस रचना की निंदा की कि इसमें सेक्स का बड़े भौंडे ढंग से वर्णन किया गया है। इस प्रकार की देशज चिंताएं केवल विक्टोरियन नैतिकता की नक़ल भर नहीं थीं, बल्कि वास्तविकता यह है कि कई बार स्वयं ब्रिटिश मान्यताएं भी हमारे देशज विचारों के प्रभाव में आकार लेती थीं। दूसरे, थारू और ललिता का अनुमान है कि 'यह कृति इतनी अधिक विवादास्पद इसलिए हुई... क्योंकि इसे एक महिला ने लिखा था'। परंतु अश्लीलता के आक्षेप लैंगिक विभाजनों से बँधे हुए नहीं थे। इतनी ही विवादास्पद कई दूसरी ऐसी रचनाएं भी रहीं जिनको पुरुषों ने लिखा था। संभवतः इससे यही स्पष्ट होता है कि चिंता के केंद्र में 'अश्लीलता' का मुद्दा ही था।

अश्लीलता से संबंधित कोई भी बहस अभिजात और लोकप्रिय साहित्य के बारे में होने वाली बहसों से जुड़ी हुई है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में नई अभिजात साहित्यिक अभिरुचियों ने लोकप्रिय रिवायतों को हाशिए पर धकेल दिया और प्रदर्शन की जगह प्रिंट ने ले ली। मानकीकृत और स्वच्छतापूर्ण साहित्यिक क़ायदे-क़ानून शिक्षित मध्य वर्ग के लिए आधुनिक राष्ट्रीय पहचान और संस्कृति के चिन्ह बन गए। परंतु रोज़र शार्तिए (एवं अन्य) ने पांडुलिपि और छपाई के बीच ज़बर्दस्त निरंतरता की बात कही है। मुद्रित पाठ को शैक्षणिक, मौखिक और प्रदर्शनात्मक पठन और मंचन के ऐसे नाना रूपों में व्यक्त किया जा सकता था जहां प्रत्येक माध्यम में हर पाठ नए अर्थ ग्रहण करता जाता है। इसके अलावा रॉबर्ट डार्नटन ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि क्रांति-पूर्व फ़्रांस में वॉल्तेयर और रूसो जैसे महान दार्शनिकों के सिद्धांतों को भी लोग एक सीमा तक ही पढ़ते थे। उस समय की बेस्टसेलर कृतियां काम-विषयक और पोर्नोग्राफ़िक किताबें ही थीं जिन्हें चोरी-छिपे बेचा जाता था।

उत्तर प्रदेश में छपाई के आगमन से भारतीय भाषाओं के साहित्य में नई-नई अभिव्यक्तियां सामने आईं। न केवल मौखिक-प्रदर्शनात्मक परम्पराओं, अख़बारनवीसी (scribal) की संस्कृति, और बोली जाने वाली भाषाओं का बोलबाला बना हुआ था, बल्कि नौटंकी और संगीत, क़िस्से-कहानियों जैसे माध्यमों और ब्रज और अवधी जैसी भाषाओं ने खुद को नए व्यावसायिक रूपों के अनुसार ढाल लिया। छपाई ने उन्हें एक वृहत्तर विस्तार प्रदान कर दिया। यह एक ऐसा क्षेत्र था जहां मुद्रित, मौखिक और दृश्य-श्रव्य माध्यम एक दूसरे पर लगातार अपनी छाप छोड़ते जा रहे थे।

समकालीन विश्लेषण ने उच्च और निम्न साहित्य के बीच, और छोटे/लोकप्रिय तथा बड़े/अभिजात लेखकों के बीच एक तीखा फ़र्क़ कर दिया है। हिंदू साहित्यिकों ने लेखन को अनुशासित करने का प्रयास तो किया

मगर पढ़ने की आदतों ने उन्हें भी अपनी रचनाओं में कुछ लोकप्रिय तत्त्व समाहित करने पर विवश कर दिया। पीटर बर्क का कहना है कि प्रारंभिक आधुनिक युरोप में भी उच्च वर्ग साझा संस्कृति से पूरी तरह हाथ नहीं खींच सके थे। इसी प्रकार लोकप्रिय साहित्य ने भी अभिजात संस्कृति के कुछ मूल्यों को चुनिंदा रूप से आत्मसात कर लिया।

हमारे बीच लोकप्रिय संस्कृति को पूर्ण रूप से स्वस्थ और प्रगतिशील मानने की प्रवृत्ति मौजूद है। दूसरी तरफ़ कुछ इसे प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपंथी पुरुषों को अपनी पौरुषता को पुष्ट करने में मदद देने वाली घुसपैठ भी मानते हैं। या तो 'सब कुछ या कुछ भी नहीं' क़िस्म का पठन-पाठन अंतर्विरोधी अर्थों का निषेध करता है। लोकप्रिय संस्कृति और साहित्य अपने आप में न तो पूरी तरह प्रतिक्रियावादी होता है और न पूरी तरह मुक्तिवादी। वह सीधे-सीधे कुछ ख़ास मूल्यों को प्रतिबिंबित या निर्मित नहीं करता। मगर, कुछ विशेष ऐतिहासिक क्षणों में, पितृसत्ता और पुरुष वर्चस्व के अंतर्गत होते हुए भी वह नाना प्रकार की व्याख्याओं को जन्म दे सकता है। औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में भी, लोकप्रिय कामोत्तेजक साहित्य ने कई अवसरों पर परम्परागत मूल्यों के पुनर्गठन और अवैधीकरण में मदद दी थी। इसके साथ ही, स्वयं उच्च हिन्दी साहित्यिक विचारधारा भी समरूप नहीं थी।

इस आलेख के पहले भाग में संक्षिप्त रूप से अश्लीलता के औपनिवेशिक दृष्टिकोणों की जांच की गई है। दूसरे भाग में उत्तर मध्यकालीन साहित्य पर हिन्दी साहित्यकों के एक ख़ेमे द्वारा किए गए हमलों, विशेष रूप से अश्लीलता के आरोपों की पड़ताल की गई है। इसके साथ ही 'गंदी' किताबों पर विशेष दृष्टिपात करते हुए व्यावसायिक दृष्टि से लोकप्रिय साहित्य की भी जाँच की गई है। आलेख का अंतिम भाग ब्रह्मचर्य के विचारों और कामोद्दीपक पदार्थों के प्रकाशित विज्ञापनों पर केंद्रित है। इनके ज़रिए उस भाग में पुरुष यौनिकता के प्रश्नों की तथा इस बात की जांच की गई है कि किस प्रकार उसने भी तत्कालीन नैतिक मूल्य-मान्यताओं को बदलने में योगदान दिया।

अश्लीलता के औपनिवेशिक दृष्टिकोण

भारत में 'अश्लीलता' संबंधी ब्रिटिश विचार के उदय की प्रक्रिया बेहद जटिल रही। प्राच्यवादियों (Orientalists) का एक तबक़ा एक ख़ास प्रकार की रूमानियत के प्रभाव में था और प्राचीन भारतीय/हिंदू सभ्यता के स्वर्णकाल के मिथक में विश्वास रखता था। इस ख़ेमे का मानना था कि मुसलमानों के आने से वह स्वर्ण युग समाप्त हो गया। हिंदू अतीत की भी प्रायः चुनिंदा ढंग से ही प्रशंसा की जाती थी। हिंदू धर्म के दार्शनिक आकर्षणों को काफ़ी ऊँचा रुतबा दिया जाता था। मगर उसके दूसरे पहलुओं, जैसे मंदिरों में कामोत्तेजक प्रतिमाएं, लेखन में 'अशोभनीय' यौन वर्णन, और भावुक भक्ति संप्रदायों की या तो अनदेखी कर दी जाती थी या फिर उन्हें धर्म का 'निम्नतर' और 'लोक' रूप माना जाता था जो आम लोगों की जादुई अथवा आनुभूतिक इच्छाओं को संतुष्टि प्रदान करता था।

सर विलियम जोन्स के उत्तराधिकारी होरेस विल्सन ने कामोत्तेजक तत्त्वों की खुलकर आलोचना नहीं की, बल्कि उन्होंने उनकी अनदेखी कर दी। उन्होंने सभी पुराणों का अध्ययन तो किया मगर उन पुराणों को ख़ारिज कर दिया जिनमें प्रेम और संभोग के प्रति भारतीय दृष्टिकोण बहुत दुस्साहसिक ढंग से व्यक्त किए गए थे। विल्सन और ग्रिफ़िथ ने ऋग्वेद का जो अनुवाद किया है उसमें भी ऐसी ही अतिनैतिक चिंताएँ दिखाई देती हैं।

लेकिन औपनिवेशिक दृष्टिकोण भी पूरी तरह समरूप नहीं थे। मिसाल के तौर पर, वुडरॉफ़ ने तांत्रिक विद्या और मान्यताओं की तरफ़ ध्यान आकृष्ट कराया, जिन्हें व्यभिचार मान लिया गया था। बहरहाल ये बातें यहाँ केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही प्रासंगिक हैं क्योंकि इनका उन विषयों से कोई सीधा संबंध नहीं था जिन्हें 'अश्लील' माना जाता था।

बहुत सारे मिशनरी और ब्रिटिश सरकारी विमर्शों में भारतीय परम्पराओं और रीति रिवाजों को बर्बर मानते हुए उनकी निंदा की जाती थी, और उन रीति रिवाजों और परम्पराओं में महिला-आचार भी शुमार थे। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में नॉर्थ इंडियन क्रिश्चियन ट्रैक्ट एंड बुक सोसायटी, इलाहाबाद द्वारा निकाली गई कई पुस्तिकाओं में बहुत सारे हिंदू रीति रिवाजों की निंदा उनकी 'अश्लीलता' के लिए की गई थी। ऐसी ही एक पुस्तिका में कहा गया था किः

> सब लोग जानते हैं कि होली में कैसी कुरीति प्रचलित है और तो भी यदि सरकार इन बुरी बातों को वर्जित करे तो हिंदू लोग कहते हैं कि सरकार हमारे धर्म में उपद्रव करती है... हिन्दुओं के अनेक मन्दिरों और रथों में ऐसे चित्र काढ़े हुए हैं जिन से देखने वाले का मन अशुद्ध किया जाता है। और तो भी लोग कहते हैं कि ऐसे मंदिरों का दर्शन करना धर्म है... जब कृष्ण ने गोपियों के साथ कुकर्म किया तो क्या वह कुकर्मी न था।

बहुत सारे ब्रिटिश विचारक शालीनता और सम्माननीयता की समझ पर बहुत स्पष्ट थे। क्या अश्लील है, और वर्तमान सामाजिक स्थिति में क्या स्वीकार्य है — इसके बीच सीमा रेखा खींचने के प्रति संकल्पबद्ध भी। इससे न केवल यौन नैतिकता और शुचिता के विक्टोरिया कालीन विचारों के प्रति उनकी चिंता, बल्कि जनता के स्वास्थ्य और श्लीलता के विषय में उनकी सौंदर्यात्मक सुरुचि और चिंताओं का भी पता चलता है।

हिन्दी साहित्य में 'अश्लीलता': देशज अभिजात्य और साहित्यिक चिंताएं

समकालीन देशज मूल्याँकनों की धारा के भीतर उस समय कई समानांतर प्रवृत्तियां विद्यमान थीं हालाँकि उनके पीछे निहित कारण अलग-अलग थे। हिन्दी साहित्यिक दायरे ने न केवल इनमें से कुछ मूल्याँकनों का विरोध किया और कुछ को स्वीकार कर लिया, बल्कि उसने औपनिवेशिक दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया।

हिंदू मध्यवर्गीय साहित्यिकों का एक मुखर और प्रभावशाली तबक़ा 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से अपनी एक नई पहचान गढ़ने की कोशिश कर रहा था। इस अवधि में प्रकाशन केंद्रों, प्रेस, समाचार पत्रों और किताबों के बढ़ते दायरे में लोक संस्थानों, पुस्तकालयों और प्रिंट संस्कृति का बड़ी तेज़ी से विकास हुआ। सन् 1900 में इलाहाबाद से शुरु की गई हिन्दी पत्रिका *सरस्वती* और उसके संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी अगले 20 वर्षों में बेहद प्रभावशाली स्थिति में पहुँच गए। वह काशी विद्यापीठ, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय जैसे शैक्षणिक संस्थान, स्कूलों और कॉलेजों की पाठ्यपुस्तकों के मानकीकरण की वकालत करने लगे। कामता प्रसाद गुरु (1875-1947) ने हिन्दी का पहला प्रामाणिक व्याकरण लिखा। बीएचयू में हिन्दी के प्रोफ़ेसर रामचंद्र शुक्ल ने 1929 में *हिन्दी साहित्य का इतिहास* लिखा। यह किताब आने वाली पीढ़ियों के लिए एक संदर्भ ग्रंथ बन गई। कई अन्य पत्रिकाएं और समाचार पत्र, जैसे *चांद* और *अभ्युदय*, बीसवीं सदी के शुरुआती काल में बढ़ते हिन्दी दायरे और हिन्दू मध्यवर्ग की पहचान का माध्यम बन गए। आर्य समाज ने शहरी शिक्षित समूहों में हिंदू समुदाय की आत्मछवि विकसित करने के लिए हिन्दी का सहारा लेना शुरु किया। इसने हिन्दी को हिंदुओं के साथ जोड़कर दिखाने/हिंदुओं की भाषा बनाने में उल्लेखनीय योगदान दिया। इन प्रक्रियाओं ने उस समय के पाठ्यक्रमों, स्कूली किताबों और विश्वविद्यालयी विभागों में हिन्दी साहित्यिक और भाषाई सिद्धांत को स्पष्ट करने की प्रक्रिया की नींव डाली।

हिन्दी साहित्य की इस महत्वपूर्ण धारा को सभ्यता और राष्ट्र के साथ संबद्ध कर दिया गया। भाषा के मानकीकरण के साथ-साथ साहित्य में अश्लीलता के लेशमात्र संकेत पर भी हमला बोला गया। ऐसे तत्वों को एक पतनशील और असभ्य संस्कृति की निशानी माना जाने लगा। यौन एवं शारीरिक आनंद के प्रति भय बढ़ने लगा। उन्हें राष्ट्र के आदर्शों की परिधि का उल्लंघन माना जाने लगा। एक राष्ट्रवादी हिंदू पहचान का उभार नैतिकता और प्रतिष्ठा के साझा विचार के साथ गुंथ गया। इस प्रक्रिया में एक नई आधुनिकता गढ़ने के लिए परम्परा को पुनर्परिभाषित किया गया। अतीत की 'असुविधाजनक' परम्पराओं से एक सोची-समझी दूरी रखी जाने लगी और एक एकांगी उच्च, लिखित, सांस्कृतिक नियमावली स्थापित करने का प्रयास किया जाने लगा। सौंदर्य के नए प्रतिमानों से युक्त एक नवीन और 'उचित' हिन्दी साहित्य की चाह में, विशेष रूप से उत्तर मध्यकालीन साहित्य में चित्रित स्त्री की छवि को सार्वजनिक उपभोग के लिए अनुचित घोषित कर दिया गया। अधिकाँश उच्च हिन्दी साहित्य में मध्यकालीन कविता की कामुक और यौन रूप से सक्रिय नायिका और राधा की जगह एक शुचि और सच्चरित्र हिंदू पत्नी तथा मां की छवि पर ज़ोर बढ़ने लगा। कामुक के स्थान पर सच्चरित्रता की दिशा में हुए इस बदलाव ने जेंडर छवियों को आमूल रूप से बदल डाला और अधिकांश 'उच्च' साहित्य में स्त्री की कामुकता, यौनिकता और मौज-मस्ती वाली छवि के

स्थान पर एक शास्त्रीय और सौम्य छवि दिखाई देने लगी। साहित्य में नैतिक संहिता की वकालत एक राष्ट्रीय प्रतिमान बन गया।

पंद्रहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवीं सदी के बीच ब्रज देशी हिन्दी कविता की सबसे प्रमुख भाषा थी। इस काल की अधिकांश अवधि को सामान्यतः 'रीति काल' कहा जाता है। बढ़िया रीति कविता की सुरुचि मोटे तौर पर परम्परागत कवितामयी स्थितियों और पात्रों में संकेतों की अंतर्निहित अस्पष्टता में निहित होती थी। संस्कृत परम्परा में श्रृंगार की एक स्थापित परम्परा रही है जो उपासना से युक्त थी। बारहवीं सदी में रची गई जयदेव की *गीत गोविंद* खुली कामुकता और गहन वासना का एक उल्लेखनीय उदाहरण है, जिसमें राधा और कृष्ण के प्रेम की स्तुति करते हुए मानवीय और दैवी प्रेम की जटिलताओं को व्यक्त किया गया है। 'रीति काल' के दौरान, इस परम्परा को और विस्तार प्रदान किया गया और श्रृंगार रस तथा नायक-नायिका भेद समकालीन कविता की पहचान बन गए। यहां राधा प्रत्येक रतिलीन स्त्री का एक शक्तिशाली प्रतीक बनकर सामने आती है। राधा और नायिका की यौनिकता को सामान्यतः रूढ़िबद्ध शालीनता की किन्हीं सीमाओं में क़ैद नहीं किया जा सकता था। उसे अधिकांशतः परकीया के रूप में चित्रित किया गया है और उसके ग़ैरपरम्परागत प्रेम को स्वकीया के प्रेम से श्रेष्ठतर माना जाता था। इस काल की कविताओं में कामुक और वासनामयी विवरणों की भरमार है। राधा और कृष्ण अक्सर ही बेहद दुस्साहसिक रूप से अंतरंग क्रियाओं में लीन दिखाई देते हैं।

इस साहित्य की नायिका एक सौंदर्यात्मक श्रेणी बनी रहती है।

हिन्दी साहित्य में कामुक विषयों की अस्वीकृति का एक लंबा और विविध इतिहास रहा है। परंतु उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में सुधारवादी नैतिकतावाद और प्रकाशन साधनों के ज़रिए ऐसे साहित्य की निरंतर बढ़ती उपलब्धता के फलस्वरूप काम-विषयक पद्य पर ज़्यादा सुनियोजित और व्यापक हमला बोला जाने लगा। ब्रिटिश शासन से ठीक पहले की अवधि को सामान्यतः अराजकता और पतन का काल माना जाता था। ज़्यादातर समकालीन हिन्दी लेखक रीति काल को पतन का प्रतीक मानते थे। ज़्यादातर हिन्दी लेखकों ने महिलाओं की पतित स्थिति और उत्तर मध्यकालीन कविता के बीच एक सीधी रेखा खींच कर दोनों को परस्पर जोड़ दिया।

श्रृंगार रस की कविता पर सबसे गंभीर हमला हिन्दी लेखकों के एक प्रभावशाली तबक़े की तरफ़ से बोला गया। उन्होंने इस कविता को स्त्री के शरीर पर केंद्रित अश्लीलता का दोषी क़रार दिया। इस प्रक्रिया की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में स्वयं भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने ही की, हालाँकि वह ख़ुद को इस क़िस्म की पद्य रचना से पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाए, जिससे इस साहित्यिक परम्परा के शक्तिशाली प्रभाव का पता चलता है। परंतु धीरे-धीरे न केवल इस कविता को, बल्कि यहां तक कि उसकी भाषा-ब्रज को भी ख़ारिज किया जाने लगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, द्विवेदी युग के आगमन के साथ, रीति काल के ख़िलाफ़ विद्रोह बेहद तीखा और सुनियोजित रूप लेने लगा। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीति काल के देव, बिहारी और मतिराम जैसे कवियों

सब लोग जानते हैं कि होली में कैसी कुरीति प्रचलित है और तो भी यदि सरकार इन बुरी बातों को वर्जित करे तो हिंदू लोग कहते हैं कि सरकार हमारे धर्म में उपद्रव करती है.... हिन्दुओं के अनेक मन्दिरों और रथों में ऐसे चित्र काढ़े हुए हैं जिन से देखने वाले का मन अशुद्ध किया जाता है। और तो भी लोग कहते हैं कि ऐसे मंदिरों का दर्शन करना धर्म है.... जब कृष्ण ने गोपियों के साथ कुकर्म किया तो क्या वह कुकर्मी न था।

को न केवल तुलसी और सूर से, बल्कि भारतेंदु से भी निचली श्रेणी में रख दिया। नायिका-भेद के बारे में उन्होंने लिखाः

> हिन्दी के समान बंगाली, मराठी, और गुजराती भाषाएँ भी संस्कृत से निकली हैं, परंतु इन भाषाओं में नायिका का कहीं भी इतना साम्राज्य नहीं जितना हिन्दी में है... अब देखिए इस प्रकार की पुस्तकों में लिखा क्या रहता है। लिखा रहता है परकीया (पर स्त्री) और वेश्याओं की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यों के लक्षण और उदाहरण! परकीया के अन्तर्गत अविवाहित कन्याओं के पापाचरण की कथा!! पुरुषमात्र में पितिबुद्धि रखने वाली कुलटा स्त्रियों के निर्लज्ज और निरर्गल प्रलाप!!! सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़कर कोई शक्ति हो सकती है.... हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र ही बन्द हो जाना चाहिए, और यही नहीं, किन्तु आज तक ऐसी-ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं, उनका वितरण होना भी बन्द हो जाना चाहिए।

कामविषयकता के साथ-साथ यहाँ व्यवहार में किसी भी प्रकार की अनियमितता पर भी आपत्ति उठाई जा रही थी। इस दौर के सबसे प्रसिद्ध कवियों में से एक मैथिलीशरण गुप्त, जिन्हें 'राष्ट्र कवि' की ख्याति प्राप्त है, ने अपनी प्रख्यात रचना *भारत भारती* (प्रथम प्रकाशन 1912) में विलाप करते हुए कहाः

> जिस जाति का साहित्य था स्वर्गीय भाव से भरा –
> करने लगा अब बस विषय के विष-विटप को वह हरा!
> श्रुति, शास्त्र, सूत्र, पुराण, रामायण, महाभारत हटे,
> वे नायिकाभेदादि उनके स्थान में हैं आ डटे।

और आगे वह कवियों का आह्वान करते हैंः

> करते रहोगे पिष्ट-पेषण और कब तक कविवरों।
> कच, कुच, कटाक्षों पर अहो! अब तो न जीते जी मरो!!
> ... कवियों! उठो, अब तो अहो! कवि-कर्म की रक्षा करो,
> सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो।

हिन्दी के दूसरे स्थापित लेखकों ने भी इस साहित्य पर इसी प्रकार का हमला बोला। स्त्री की श्रृंगारिक मुद्राओं के सजीव चित्रण को शालीनता के उल्लंघन तथा पारिवारिक मूल्यों के खंडन के रूप में देखा जाने लगा, जो आधुनिक हिंदुओं की सुरुचि के अनुरूप नहीं था। छायावादी काल के एक महत्वपूर्ण कवि सुमित्रानंदन पंत ने रीतिकालीन कवियों के बारे में एक आवेशपूर्ण वक्तव्य देते हुए कहाः

> श्रृंगार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथ द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग से लिपट गई... उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक यात्रा कर सकी! ऐसी विश्व-व्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर प्रतिभा! एक ही शरीर-यष्टि में समस्त ब्रह्माण्ड देख लिया... आर्य-नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रंग-बिरंगे बिम्बों में बदल गई – जिनकी भूल-भुलैया में फँसकर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया।

बहुत सारे साहित्यिक लेखकों ने विशेष रूप से महिलाओं की यौन पहचानों को नियंत्रित करने के लिए अश्लीलता को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया। अश्लीलता पर केंद्रित बहस मुख्य रूप से — 'आनंद और मनोरंजन के लिए सेक्स' बनाम 'प्रजनन के लिए सेक्स' — के विचारों पर केंद्रित थी। राष्ट्र सबंधी विमर्श में ग़ैर-प्रजननकारी और भोगवादी यौन रुचियों पर भारी नकारात्मक दबाव पड़ने लगे जिसके फलस्वरूप सभी ग़ैर-प्रजननोन्मुखी यौनिकताओं को लगभग हाशिए पर धकेल दिया गया।

इस प्रक्रिया में राधा की छवि का क्या हुआ? वह नियामक, मानक कविता से लगभग पूरी तरह ग़ायब हो गई। यह बात पाठ्य पुस्तक साहित्य में ख़ास तौर से साफ़ दिखाई दी। मिसाल के तौर पर, इलाहाबाद के डीएवी स्कूल के हेडमास्टर गंगा प्रसाद, और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के लेक्चरर धीरेंद्र वर्मा ने हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिए 1928 में *सेलेक्शन ऑफ़ हिन्दी पोयम्स* तैयार किया। इसके उद्देश्य का वर्णन करते हुए कहा गया कि इससे कविता की आत्मा का साक्षात्कार होगा। पूरे संकलन में प्रेम अथवा राधा की यौनिकता पर एक भी कविता नहीं थी, और इससे भी बढ़कर बात यह कि रीतिकाल के एक भी कवि को शामिल नहीं किया गया था।

इसी दौर में राधा पर केंद्रित एक बेहद रोचक रचना लिखी गई जिससे उसकी बदलती छवियों का अनुमान लगता है। सामान्यतः 'हरिऔध' के उपनाम से विख्यात अयोध्या सिंह उपाध्याय ने *प्रियप्रवास* नामक एक प्रसिद्ध काव्य लिखा। इसमें मथुरा से कृष्ण की विदाई के चिरपरिचित घटनाक्रम को ही दोबारा पेश किया गया है। मगर यहां राधा और कृष्ण का प्रेम बेहद संयमित और मर्यादित है। इतना ही नहीं, उद्धव राधा से कहता है कि वह कृष्ण के साथ अपने मिलाप/संभोग की स्वार्थपूर्ण इच्छा पर विजय पाए और नैतिक रूप से मानवता की सेवा का यत्न करे।

बहरहाल, ऐसे पद्य में राधा अतुलनीय आनंद के स्थान पर एक अतुलनीय बोरियत का बायस बन जाती है। एक मूलतः सौंदर्यात्मक दृष्टि से देखें तो स्त्री की छवि विशुद्धतः नैतिक बन कर रह जाती है। कामशीलता, उन्माद, और ऐन्द्रिय हलचल की जगह सामाजिक चरित्रहीनता, सुधार, सुचरिता और नैतिकता की बातें आ जाती हैं। गद्य और पद्य में एक नया उद्देश्य पैदा हो गया। बाल विवाह और वैधव्य की कारुणिकता, मातृत्व का महिमामण्डन, और देश सेवा पर बार-बार ज़ोर दिया जाने लगा, जिसके पीछे आर्य समाज के प्रभाव का भी हाथ था। तमाम दबावों को झेलते हुए भी स्वयं को ईश्वर और पति के चरणों में समर्पित करने के लिए उद्धत गुणशील स्त्री हिंदू राष्ट्र की सांस्कृतिक प्रामाणिकता और संपूर्णता की नई वाहक बन गई। यहां स्त्री वैवाहिक दायित्व की परिभाषा (paradigm) थी। स्वयं विवाह भी उत्साह से उत्सर्ग बन जाता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्मानित, आदर्श महिला का चित्रण करते हुए कहा कि वह साड़ी पहनती है, बिंदी लगाती है और फूलों से अपना श्रृंगार करती है। वह मंदिर जाती है, अपने पति के लिए पूजा करती है, पढ़ी-लिखी है, सभ्य बैठकों में जाती है, और घर लौटने पर अपने पति का हृदय जीतती है। गुप्त ने तुकबंदी कीः

आर्य कन्या मान लेती स्वप्न में भी पति जिसे,
भिन्न उससे फिर जगत में और भज सकती किसे?

स्त्री को नए मूल्यों से लैस कर दिया गया। ये नए मूल्य राष्ट्रवादी भी थे और हिंदू भी। यह पुनर्रचित महिला पवित्रता और परिष्कृत लैंगिकता का प्रतीक थी। उसके व्यवहार पर लगे निषेधों का उद्देश्य स्त्री देह को आवरण में बंद और अनुशासित करना, सत्ता की एक नई सामाजिक एवं नैतिक तरतमता स्थापित करना और शुचिता को मध्य वर्ग की पहचान के साथ एकीकृत करना था। इस प्रकार, यौन आनंद को अत्यंत संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। आधुनिक हिंदू सांस्कृतिक विमर्श लिंग के सवाल पर एक होता दिखा, जिसमें सौंदर्य बोध और अश्लीलता, अभिजात और कुजात के बीच बेहद स्पष्ट सीमा रेखाएं खिंची हुई थीं। मगर बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं थी कि स्त्री आदर्श में आनंद पर अंकुश की ही व्यवस्था थी। बल्कि साहित्यिक विमर्श में सम्मानित स्त्रीत्व को आनंद के एक ऐसे विचार के साथ परिभाषित किया जाता था जिसमें आत्मोत्सर्ग, 'सकारात्मक' मिशन और वृहत्तर हित के विचार समाहित थे। सौंदर्यबोध नीतिशास्त्र का उपांग बन गया।

'गंदा' साहित्य: नैतिकता के तर्क के विरुद्ध?

मगर हिन्दी साहित्य की नियमावली पूरी तरह स्पष्ट नहीं थी। साहित्यिक उत्पादन के पीछे भांति-भांति की अपेक्षाओं, प्रेरणाओं और संदर्भों का हाथ था। लोकप्रिय रुचि और पढ़ने की आदतें उच्च हिन्दी साहित्यिक मानकों का विरोध और पुनर्व्याख्या करती रहीं। मुद्रण के विकास ने अश्लील सामग्री को एक माल के रूप में बड़े पैमाने पर उपलब्ध करा दिया और कामुक उपभोक्तावाद उत्तर प्रदेश के प्रकाशन जगत में आए भारी उछाल का हिस्सा बन गया। इस प्रवृत्ति के चलते 'स्वच्छ' साहित्य के वर्चस्व पर चोट लगती रहती थी। कामुक यौन पत्रिकाएं, रोमांस के क़िस्से-कहानियां, मनोरंजक गाने, यौन संबंधों के बारे में सलाह देने वाला लेखन — इन सबको विरोधी अक्सर एक ही श्रेणी में रख देते थे। 'अश्लीलता' एक व्यापक कोटि बन गई जिसमें बहुत कुछ शामिल हो सकता था।

उत्तर प्रदेश में व्यावसायिक प्रेस का विकास धीमा मगर सतत रहा। इसके समानांतर देशी भाषाओं का भी उभार हुआ। व्यावसायिक प्रेस हिन्दी साहित्य के प्रसार और संवाद का ऐसा साधन बन गया जो सरकारी माध्यमों और तौर तरीक़ों के प्रभाव से मुक्त था। उत्तर प्रदेश में 1878-79 में कुल 177 प्रेस थे। यह संख्या 1901-02 में बढ़कर 568 और 1925-26 में 743 तक जा पहुंची। उत्तर प्रदेश में प्रारंभिक स्तर पर देशी भाषा के समाचार पत्रों पर ध्यान दिया गया। फलस्वरूप, 1878-79 में उत्तर प्रदेश में ऐसे समाचार पत्रों की संख्या 591 तक पहुंच गई जबकि बंगाल में अभी सिर्फ़ 26 अख़बार ही छप रहे थे। बंगाल का दबदबा देशी भाषा की किताबों में था। मगर 1925-26 तक आते-आते उत्तर प्रदेश ने इस मामले में भी बाज़ी मार ली। उस साल उत्तर प्रदेश में 2,777 किताबें प्रकाशित हुईं जबकि बंगाल में देशी भाषा की कुल 2,543 किताबें छपीं। इन किताबों के प्रकाशक ही अधिकांशतः इनके विक्रेता भी थे। 1860 और 1870 के दशकों में उत्तर प्रदेश के शहरों में सबसे अधिक प्रेस आगरा में थीं। उसके बाद बरेली, कानपुर, बनारस, शाहजहाँपुर, रुड़की और मेरठ का स्थान आता था। परंतु एक सबसे पुरानी और सबसे प्रतिष्ठित प्रेस नवल किशोर प्रेस ने अपनी तरक़्क़ी का सफ़र लखनऊ में तय किया। बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों तक पहुँचते-पहुँचते उत्तर प्रदेश की प्रकाशकीय सरगर्मियों पर इलाहाबाद का दबदबा क़ायम हो गया। ज़्यादातर प्रेस छोटे थे और धार्मिक व पौराणिक कथाएं, कविता, सनसनीख़ेज़ नॉवेल और रोमांस के क़िस्से छाप कर अपना ख़र्चा चलाते थे। वे सीमित विषयों पर सुगम परंतु घटिया छपे हुए परचे और फ़ौरी क़िस्म का साहित्य छापते थे। यह चीज़ें आम बोलचाल की भाषा में छापी जाती थीं और उन्हें कुछ आने की क़ीमत पर ख़रीदा जा सकता था। शुरुआत में ज़्यादातर कविताएं और रोमांस के क़िस्से कहानियां उर्दू और फ़ारसी में छपते थे। 1862 में उत्तर प्रदेश में स्थानीय भाषाओं में छपी 14 रोमांस कथाओं में से 9 उर्दू, 2 फ़ारसी और केवल 3 हिन्दी में थीं।

मगर कुछ ही अर्से में फ़ारसी और उर्दू पद्यात्मक कृतियों और रोमांस के हिन्दी अनुवाद भी आसानी से मिलने लगे।

सस्ती क़िस्म की कविताओं और रूमानियत के बहुत सारे हिन्दी लेखकों ने अपनी भाषा को पूरी तरह फ़ारसी शैली में ढाल लिया क्योंकि इस शैली की पहुँच ज़्यादा थी। उत्तर प्रदेश के जन शिक्षा निदेशक एम. कैम्पसन ने इस प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कहा था कि यह "अश्लील तुकबंदियों का कचरा बाज़ार है, जिनमें से कुछ तुकबंदियां तो बहुत ही गंदी हैं। इसी क़िस्म की चीज़ें हैं जिनके चलते देशी लोग स्त्री शिक्षा का इतना तीखा विरोध करने पर उतर आते हैं और जो बड़े शहरों के युवाओं के मस्तिष्क में ज़हर भर रही हैं। क्योंकि जहां पढ़ने वाला एक आदमी होता है वहां सैकड़ों दूसरे भी होते हैं जिन्हें वासनापूर्ण इशारे और क़िस्से सुनने को मिल जाते हैं।" यह भय भी व्यक्त किया जाता था कि समाज में विद्यमान 'घटिया' रुचियों को संतुष्ट करने में लगे बहुत सारे छापेख़ानों के मालिक अपने

> स्त्री को नए मूल्यों से लैस कर दिया गया। ये नए मूल्य राष्ट्रवादी भी थे और हिंदू भी। स्त्री की मूलतः एक यौन केंद्रित छवि उलट दी गई। अब उसके स्थान पर स्त्री 'उन्मादहीनता' की विचारधारा स्थापित कर दी गई।

ऐसे प्रकाशनों का उल्लेख उस सूची में नहीं करेंगे जो वह हर साल सरकार को भेजते थे। ऐसी बहुत सारी किताबों को चोरी-छिपे ही छापा और बेचा जाता था। 1873 में संयुक्त प्रांत के सरकार सचिव सी.ए. इलियट ने टिप्पणी की थी कि इस इलाक़े में 'बेहद घटिया और अश्लील श्रेणी' की किताबें भी हासिल की जा सकती हैं हालाँकि अभी उनकी संख्या सीमित ही थी। मांग की जाने लगी कि ऐसी किताबों को आपत्तिजनक और ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया जाए तथा सभी छापेख़ानों और प्रत्येक मुद्रित पुस्तक और काग़ज़ के पंजीकरण से संबंधित प्रावधानों को सख़्ती से लागू किया जाए।

1868 तक आते-आते देवनागरी लिपि में छपने वाले प्रकाशनों की संख्या बढ़ने लगी और 1925 तक हिन्दी समाचार पत्रों, किताबों, पत्र-पत्रिकाओं, की संख्या उर्दू के मुक़ाबले बहुत अधिक हो गई। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक व्यापक पहुँच वाला लोकप्रिय साहित्य — अर्ध पोर्नोग्राफ़िक सेक्स टीकाओं, और बोलचाल की हिन्दी में लिखे जाने वाले रोमांटिक क़िस्से-कहानियों की उत्तर प्रदेश के बाज़ार में बाढ़-सी आ गई। इनमें ब्रज भाषा में छोटे-छोटे दोहों में लिखी कविताओं की भरमार रहती थी। अलीगढ़ और मुरादाबाद ऐसे साहित्य के सबसे फलते-फूलते केंद्र नज़र आते थे। यहां यौन विज्ञान, काम कला और अश्लीलता के बीच की सीमारेखा अक्सर ओझल हो जाती थी। ऐसी बहुत सारी टीकाएँ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में लिखी जाती थीं जिससे ऐसा आभास होता था कि उन्हें एक अभिजात हिंदू पाठक वर्ग के लिए लिखा जा रहा है। इसके समानांतर दूसरी तरफ़ बोलचाल की हिन्दी में लोकप्रिय, पतले और सस्ते संस्करण भी छप रहे थे। परंतु इन सब पुस्तकों और टीकाओं का यह समान दावा था कि वे कामशास्त्र संबंधी क्लासिक अनुसंधानों से प्रेरित होकर लिखी गई हैं। लगभग सभी पुस्तकों की भूमिका में इस बात पर ज़ोर दिया जाता था कि प्रस्तुत रचना अश्लील नहीं है। नग्नता के आरोप में प्रतिबंधित होने का डर सबको था। इसीलिए ऐसी ज़्यादातर किताबें रति-विज्ञान की भाषा में लिपटी होती थीं और उनमें यौन जीवन के वैज्ञानिक 'तथ्यों' को उद्धृत करते हुए प्रामाणिकता का दावा किया जाता था। मगर दूसरी तरफ़ अपनी किताबों के लिए अधिकाधिक ख़रीदार जुटाने के लिए प्रकाशक उन किताबों के कामुक पहलू पर ख़ास ज़ोर भी देते थे। ऐसी किताबों के रंगीन तस्वीरों वाले विज्ञापन कई जाने-माने अख़बारों और पत्रिकाओं में छपते थे। हिन्दी दैनिक *वर्तमान* में ऐसी ही एक किताब के विज्ञापन में कहा गया था कि अविवाहित ब्रह्मचारी किशोर उससे दूर रहें। परंतु विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए उसकी उपयोगिता पर ज़ोर दिया गया। अख़बार के एक पूरे पन्ने पर छपे इस विज्ञापन में कहा गया था कि किताब में हृदय को उत्तेजित करने वाली आकर्षक तस्वीरें दी गई हैं और पूरी किताब काम और श्रृंगार से भरपूर है। एक और किताब के विज्ञापन में पहले तो उसकी 'वैज्ञानिकता' सिद्ध की गई थी और इसके पश्चात बताया गया था कि उसमें न केवल भारत बल्कि अफ़्रीका, जर्मनी, फ़्रांस, इटली और ऑस्ट्रेलिया की स्त्रियों की भी बेहद मसालेदार तस्वीरें हैं। ऐसी बहुत सारी किताबों में अर्ध-पोर्नोग्राफ़िक शैली का इस्तेमाल किया जाता था। उनमें से कई किताबों को बार-बार भी प्रकाशित किया गया। प्यारेलाल ज़मींदार ने 1900 में कोकशास्त्र नामक जो पुस्तक लिखी थी, 1905 तक आते-आते उसके सात संस्करण छप चुके थे। सरल हिन्दी में लिखी गई इस पुस्तक में 'जवानी-दीवानी' जैसे शीर्षक थे और बताया जाता था कि यह किताब कम उम्र के लड़कों के बीच ख़ास तौर से काफ़ी लोकप्रिय थी।

कुछ दूसरी किताबों में विशुद्ध रूप से यौन सुख परोसा जाता था। काशी के एस.एस.मेहता एंड ब्रदर्स ने *चुम्बन मिमांसा* के नाम से किताब छापी। यह एक गुजराती किताब का अनुवाद थी जिसमें चुम्बन के इतिहास, विकास और तरीक़ों का वर्णन किया गया था। किताब के कवर पर लिखा गया था कि यह केवल निजी प्रयोग (private circulation) के लिए है। बाबू हरिदास वैद्य ने *श्रृंगार शतक* का अनुवाद किया और किताब के प्राक्कथन में बहुत साफ़-साफ़ लिखाः

> यह कह देने में हर्ज नहीं कि मैं अपनी सभी पुस्तकें द्वितीय और तृतीय श्रेणी के सज्जनों के लिए लिखा करता हूँ। प्रयाग के एक पंडित मोहनलालजी नेहरू महोदय को उनमें कई दोष दिखाई देते हैं... लेकिन हिन्दुओं के अनेक पुराणादि ग्रंथों में नारी-निंदा-व्यंजक अनगिनती श्लोक भरे पड़े हैं... अगर हम स्त्री-निंदक होते, तो ख़ामख़्वाह सैंकड़ों पेज नारी प्रशंसा में क्यों भर देते?

कुछ इससे थोड़ी भिन्न शैली की किताबें भी थीं जिन्होंने कामुकता को लोकप्रिय बनाया। बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में ब्रजभाषा के गीतों और व्यंग्यों की पतली और सस्ती पुस्तिकाएं शैक्षणिक और सुधारवादी कृतियों से कहीं अधिक संख्या में बिकती थीं। बनारस के बाबू बैजनाथ बुक सेलर ने होली के गीतों और कृष्ण तथा उनकी गोपियों के इर्द-गिर्द लिखे जाने वाले गीतों और क़िस्सों को लेकर ऐसी अनगिनत पुस्तिकाएं छापीं। इनमें से ज़्यादातर पुस्तिकाओं में रासलीला वाली शैली का प्रयोग किया जाता था। उनमें उर्दू और फ़ारसी के शेरों व जुमलों का भी धड़ल्ले से इस्तेमाल किया जाता था। ऐसी कुछ पुस्तकें बेहद कामुक होती थीं। इन पुस्तिकाओं में अपने आप में कुछ ख़ास नयापन तो नहीं था परंतु छपाई की सुविधा मिल जाने से उनकी खपत काफ़ी बढ़ गई। उनमें एक प्रकार से रीति कविता की ही नक़ल की जाती थी, मगर लोकप्रिय शैली में। इन पुस्तिकाओं ने आम जन की कल्पनाओं और कुंठाओं पर पकड़ बना ली और अपने प्रशासकों के लिए भारी मुनाफ़े का साधन बन गईं। बहुत सारी किताबों और पुस्तिकाओं के कई-कई संस्करण भी छपे, जिससे पता चलता है कि वे आसानी से उपलब्ध थीं और उनकी मांग बढ़ती जा रही थी।

इन 'अश्लील' पुस्तिकाओं ने ब्रिटिश अधिकारियों और हिंदू नैतिकतावादियों में नए सिरे से चिंताएं पैदा कर दीं क्योंकि इनमें गंभीर और ख़तरनाक निहितार्थ छिपे हुए थे। इन नई रचनाओं के लेखकों को छपाई, फ़ोटोग्राफ़िक तकनीकी, और व्यावसायिक प्रेस से काफ़ी सुविधा थी। वे तस्वीरें छाप सकते थे, बड़ी संख्या में किताबें छाप सकते थे और उन्हें आराम से बेच सकते थे। ये लेखक अश्लीलता को 'दरबार' से उठाकर 'जनता' के बीच ले आए थे और उनके पास ऐसी व्यापक पहुँच थी जो रीतिकाल के कवियों को कभी प्राप्त नहीं थी। उनका बाज़ार सिर्फ़ विद्वत समुदाय तक ही सीमित नहीं था, जो निषेध के बावजूद उन्हें ख़रीदते ही थे, बल्कि उनका बाज़ार कामचलाऊ हद तक पढ़े-लिखे लोगों की लगातार बढ़ती जा रही जमात तक फैल चुका था। इस जमात में क्लर्क, दुकानदार, व्यापारी और छात्र सब शामिल थे। अब ऐसा साहित्य किताबों के नए-नए उभरते बाज़ारों, स्थानीय खोकों और रेलवे स्टेशनों से भी हासिल किया जा सकता था। ये लेखन ऐसा होता था जिसे बहुत सारे लोग लिखने के योग्य भी नहीं मानते थे। श्रृंगार उस सीमा तक ही स्वीकार्य था जहां वह एक फ़ंतासी की दुनिया और अभिजात वर्ग तक ही सीमित हो। जनता के वासनाकरण के साथ दिक़्क़त इस बात में थी कि इससे व्यवस्था और मर्यादा के सामान्य क़ायदे-क़ानून भी छिन्न-भिन्न हो रहे थे।

ऐसे काम-साहित्य की व्यापक पहुँच की संभावना ने उस पर निगरानी की ज़रूरत को और बढ़ा दिया। भाषाई सर्वेक्षण करते हुए ग्रियर्सन ने 1925 में एक गोपनीय पत्र लिखा जिसमें उन्होंने उत्तर प्रदेश में छपने वाली कामुक कृतियों की व्यापकता पर चिंता व्यक्त की थी। उन्होंने लिखाः

> 1900 तक हम सिर्फ़ यह जानते थे कि ऐसी किताबें भी छपती हैं, मगर उनकी तादाद बहुत कम थी और उन्हें केवल चोरी-छिपे ही हासिल किया जा सकता था। उन्हें कमसिन लोगों की रुचियों के अनुरूप केवल अश्लील विषयवस्तु के लिए ही छापा और बेचा जाता था। ...मगर अब तो इन किताबों का खुले आम प्रचार किया जाता है और उनकी विषयवस्तु का पूरा वर्णन दिया जाता है जिससे इस बारे में कोई शुबहा बाक़ी नहीं रहता कि वह किस क़िस्म की किताबें होंगी।

ब्रिटिश अधिकारी ऐसी सामग्री के संदर्भ में हस्तक्षेपवादी रवैया अख़्तियार करने लगे। उन्होंने आदेश जारी कर दिया कि रेलवे प्लेटफ़ॉर्मों पर ऐसा 'आपत्तिजनक' साहित्य नहीं बेचा जाएगा। कामुक किताबों, पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं, पोस्टकार्डों और तस्वीरों को ज़ब्त किया जाने लगा और 'अश्लीलता' के आरोप में छापेख़ानों, प्रकाशकों, और पुस्तक विक्रेताओं की धरपकड़ होने लगी। भ्रष्ट और यौन विषयक सामग्री की तलाश में अक्सर किताबों की दुकानों पर छापे पड़ने लगे। 1870 में जोसेफ़ीन बटलर द्वारा स्थापित की गई नैतिक एवं सामाजिक स्वच्छता सभा (Association for Moral and Social Hygiene) की भारतीय शाखा अपने केंद्रीय संगठनकर्ता मैलीसैंट शेफ़र्ड के माध्यम से अश्लीलता के ख़िलाफ़ एक तीखी मुहिम छेड़े हुए थी। इन धर्मयोद्धाओं ने यौनिकता और सेक्स संबंधी अभिव्यक्तियों

पर लगाम कसी। उनकी कार्रवाइयां अक्सर यौन केंद्रित किताबों, परचों और पत्रिकाओं पर सेंसरशिप का रूप ले लेती थीं। लोकप्रिय, और विशेष रूप से 'अश्लील' साहित्य की कई देशी हल्क़ों में भी ख़ूब आलोचना होती थी। इन आलोचकों में 'सम्मानित' साहित्यिक वर्ग, महिलाओं के संगठन और गांधी शामिल थे। बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों के उत्तर प्रदेश की एक जानी-मानी पत्रिका *माधुरी* में 1925 में एक लेख छपा जिसमें कामुकता और रति विज्ञान संबंधी रचनाओं की जमकर ख़बर ली गई थी:

> रतिशास्त्र और कामशास्त्र का सितारा फिर चमकता नज़र आता कहते हैं।... और किसी प्रकार की पुस्तक बिके या न बिके कामशास्त्र और कोशास्त्र की बिक्री में तो कोई संदेह ही नहीं। ...कच्ची उम्र के युवकों में गुप्त इंद्रियों के नाम लेने ही से एक विशेष उत्तेजना होती है। फिर जब आप 84 आसनों, 72 चुम्बनों और 128 प्रकार के आलिंगनों की चर्चा करेंगे (आपकी भाषा भी चुटपुटी और मजेदार होगी) तो कौन ऐसा शख़्स है, जो तन्मय होकर आपकी पुस्तक न पढ़ेगा।... क्या यह बतलाने की ज़रूरत है कि काम-शास्त्र की रचना उस समय हुई थी, जब भारतवर्ष में विलासिता की धूम थी, और इसी ने अंत को उसे ग़ुलाम बनाकर छोड़ा?

महिला संगठन ऑल इंडिया वीमेन्स कॉन्फ़्रेंस ने अश्लील साहित्य के प्रसार का तीखा विरोध किया। यह विरोध उन छोटी-छोटी दुकानों के ख़िलाफ़ ख़ासतौर से ज़्यादा था जहां से छात्र-छात्राओं को ऐसा साहित्य मिलता था। संगठन ने ब्रिटिश प्रशासन से आह्वान किया कि वह इस प्रवृत्ति को उख़ाड़ फेंकने के लिए फ़ौरन कड़े कदम उठाए। 'साहित्य में गंदगी' की इस प्रवृत्ति की गांधी ने भी आलोचना की। इन गंदी किताबों को महिलाओं की पहुँच से दूर रखने की ख़ासतौर से हिदायत दी जाती थी।

हालाँकि बहुत सारी जानी-मानी पत्रिकाएं और लेखक ऐसी कृतियों की निंदा करते थे मगर लोकप्रिय मांग और बाज़ार अर्थव्यवस्था की ज़रूरतों के चलते वे थोड़ा-बहुत समझौता भी कर लेते थे। साहित्यिक मध्यवर्गीय हिंदुओं का विमर्श भी पूरी तरह एकरूप नहीं था और वहां लिखे जाने वाले साहित्य में भी उल्लेखनीय विविधता होती थी। उच्च साहित्यिक वृत्त के भीतर भी प्रतिरोध और सहमिलन चलता रहता था।

ऐसी किताबें लिखने और छापने का कारोबार चलाने वाले सिर्फ़ 'निम्न कोटि' के लेखक और छोटे छापेख़ाने ही नहीं थे। यहां तक कि नवल किशोर प्रेस जैसे प्रतिष्ठित प्रकाशकों द्वारा छापी गई कुछ पुस्तकों को भी नैतिक आधार पर आपत्तिजनक घोषित कर दिया गया था। शिवनारायण प्रेस आगरा का एक प्रतिष्ठित प्रेस था और वहां उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों से ही ऐसी किताबें छप रही थीं। *रक्षण* कविता एक 8 पेजी पुस्तिका थी जिसकी पहले संस्करण में ही 2100 प्रतियां छापी गई थीं। इस पुस्तिका में कृष्ण और राधा के बीच बड़ा तीखा संवाद दर्शाया गया है। एक और कैलेंडर *हीन पुरुष की बारहमासी* नाम से छापा गया था। इसमें नपुंसक पुरुष के बारह महीनों के बारे में 37 दोहे दिए गए थे जिनमें पत्नी अपने नपुंसक पति की चुगली और शिकायत करती रहती है।

'गंगा पुस्तकमाला कार्यालय' हिन्दी पुस्तकों की सबसे बड़ी और प्रतिष्ठित दुकानों में से एक थी। लखनऊ में स्थित इस दुकान के पास अपना निजी प्रिंटिंग प्रेस और प्रकाशन था और उसके पास रोमांस, जासूसी कहानियों, फ़ंतासी और जादू-टोने की किताबों का सबसे बड़ा भंडार था। इनमें से ज़्यादातर किताबें कार्यालय ने ख़ुद प्रकाशित की थीं जिसका पता जानी-मानी पत्रिकाओं में अक्सर छपने वाले विज्ञापनों से चल जाता था। *माधुरी* में यौन टीकाओं और कामोत्तेजक पदार्थों के फ़ुल-पेजी विज्ञापन लगातार छपते रहते थे।

परंतु एक भिन्न दृष्टिकोण से कुछ सुधारकों और प्रकाशकों को भी विवाहित जोड़ों के सेक्स और रति-जीवन की बारीकियों के बारे में खुल कर बात करने की ज़रूरत महसूस हुई क्योंकि यौन सुख आधुनिक वैवाहिक जीवन का एक अहम पहलू था। फलस्वरूप, उन्होंने ऐसी किताबें और लेख लिखे जो केवल शिक्षाप्रद ही नहीं बल्कि कामोत्प्रेरक भी होते थे। आर्य समाज के अनुयायी और 'जात पात तोड़क मंडल' के संस्थापक संतराम ने

1924 में यौन विज्ञान संबंधी 'सच्ची' कृतियों के समर्थन में *माधुरी* में एक लेख लिखा। बाद में उन्होंने *विवाहित प्रेम और रतिविलास* जैसी किताबें भी लिखीं। अभ्युदय प्रेस ने *कश्मीरी कोकशास्त्र* छापा और ऐसी किताबों पर पाबंदी लगाने के लिए सरकार की आलोचना की। चांद प्रेस ने *दाम्पत्य जीवन* नामक किताब छापी जो कामशास्त्र पर आधारित थी।

मदन मोहन मालवीय के भतीजे पंडित कृष्ण कांत मालवीय, जिन्हें कभी-कभी इलाहाबाद का 'कुवंर कन्हैया' भी कहा जाता था, ने यौन संबंधों के बारे में कई विवादास्पद किताबें लिखीं जिन्हें प्रतिष्ठित अभ्युदय प्रेस से प्रकाशित किया गया। उनकी *सुहागरातः बहुरानी को सीख* नामक पुस्तक में महिलाओं को बताया गया था कि अपने पति को वश में रखने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। दावा किया गया कि यह किताब प्रमुख यौन टीकाओं में से एक है। उनकी एक अन्य किताब *मनोरमा के पत्रः अपने प्रेमियों के नाम* गुदगुदाने वाली शैली में लिखी गई थी और उसकी जिल्द पर ही बता दिया गया था कि यह पुस्तक केवल पतियों के पढ़ने के लिए है। किताब में विवाहित जोड़ों के बीच यौन सामीप्य पर बल दिया गया था। इसमें मनोरमा द्वारा लिखे गए कुछ पत्र दिए गए हैं। विवाहित मनोरमा ने ये पत्र अपने भूतपूर्व प्रेमियों के नाम लिखे थे। ये पत्र मनोरमा के प्रेम और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति और पुरुषों की दुर्बलताओं व अक्षमताओं का खुलासा हैं। इनमें एक कामतृप्त जीवन जीने के सुझाव भी दिए गए हैं।

दानीराम प्रेम, जी पी श्रीवास्तव और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (1900-1967) जैसे हिन्दी के कई प्रसिद्ध लेखकों ने सनसनीख़ेज़ रूमानी उपन्यास लेखन में ख़ूब हाथ आज़माया। 1920 के दशक की यही सबसे लोकप्रिय विधा थी। उनकी कहानियों और उपन्यासों में राष्ट्रवादी और नैतिक चिंताओं के बीच ख़ींचतान और एक तरफ़ समाज सुधार तथा दूसरी तरफ़ व्यावसायिक हितों, मनोरंजन, भावनात्मक फ़ंतासियों, और रोमांस के बीच तनाव दिखाई देते थे। उग्र का *चंद हसीनों के ख़ुतूत* 1927 का बेस्ट सेलर था।

अश्लीलता का आरोप सबसे तीखे तरीक़े से उग्र की किताब *चाकलेट* पर लगा। इस किताब में वयस्क पुरुषों और किशोर वय के लड़कों के बीच यौन क्रियाओं, तथा पुरुष समलैंगिकता के अन्य आयामों पर बात की गई थी। *चाकलेट* आठ कहानियों का संग्रह था जिसमें *हे सुकुमार*, *व्यभिचारी प्यार*, *जेल में*, *हम फिदाए लखनऊ* और *कमरिया नागिन सी बल खाए* जैसे शीर्षकों के साथ गुदगुदाने वाली भाषा का इस्तेमाल किया गया था। ये कहानियां sodomy और समलैंगिकता के विरुद्ध थीं और दावा किया गया था कि सच्ची घटनाओं पर आधारित हैं। परंतु इस आलोचना की प्रक्रिया में लोगों ने विशेष रूप से उत्तर प्रदेश में ऐसी प्रवृत्तियों की व्यापकता को भी स्वीकार किया जहां सुंदर लड़कों को 'चॉकलेट', 'पॉकेट-बुक' और 'मनी-ऑर्डर' आदि कहकर संबोधित किया जाता था। *चाकलेट* में कृष्ण और अर्जुन, राम और तुलसीदास, तथा कृष्ण और सूरदास के बीच समलैंगिकता की प्रवृत्तियों की तरफ़ संकेत किया गया था। *चाकलेट* व्यावसायिक दृष्टि से एक सनसनीख़ेज़ सफलता सिद्ध हुआ और प्रकाशन के मात्र छः सप्ताह के भीतर उसके दो संस्करण बिक गए।

नैतिकता के रक्षकों ने किताब के ख़िलाफ़ तीखा हमला बोल दिया और इसके ज़रिए उग्र की *रचना दिल्ली का दलाल* और *व्यभिचारी मंदिर* तथा *अबलाओं का इंसाफ़* जैसी दूसरी किताबों को भी आलोचना के दायरे में ले लिया गया। ऐसी रचनाओं को 'घासलेटी साहित्य' का नाम दिया जाने लगा और घासलेटी आंदोलन के नाम से उनके ख़िलाफ़ एक व्यापक आंदोलन छेड़ दिया जो बारह वर्षों तक चला। विशाल भारत के संपादक बनारसी दास चतुर्वेदी ने इस मामले में अगुआ भूमिका निभाई और उन्हें हिन्दी के नए प्राधिकार केंद्रों — विश्वविद्यालयी विभागों, साहित्यिक संगठनों और प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं — का भी समर्थन मिला। उत्तर प्रदेश में *चांद* और *सुधा* ने ऐसे साहित्य के ख़िलाफ़ लेख प्रकाशित किए और ' हिन्दी साहित्य सम्मेलन' तथा 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने ऐसी किताबों के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पारित किए। गांधी ने पहले तो *चाकलेट* को पढ़े बिना उसके ख़िलाफ़ लिख दिया मगर बाद में उसे पढ़ने के बाद उन्हें उसमें अश्लीलता जैसी कोई बात नहीं दिखाई दी। उन्होंने इस बारे में एक चिट्ठी भी लिखी मगर वह 1951 में ही लोगों की जानकारी में आ पाई।

प्रश्न यह है कि *चाकलेट* जैसी किताब के ख़िलाफ़ ऐसी उन्मादपूर्ण प्रतिक्रिया क्यों हुई जबकि उसमें sodomy और समलैंगिकता का विरोध ही किया गया था? इसके ख़िलाफ़ चला अभियान पैतृकवादी (paternalist) भी था

और नैतिकतावादी भी, जिसका मक़सद जनता को 'अस्वास्थ्यकर' प्रभावों से 'बचाना' था। मगर उसकी पहुँच को देखकर लगता है कि यहां सिर्फ़ शुद्धता और मर्यादा के विचारों के अतिक्रमण का ही मामला नहीं था। यहां उससे कही ज़्यादा 'नाज़ुक' चीज़ दांव पर लगी थी। उग्र ने एक ऐसे विषय पर लिखा था जिसके बारे में कई तरह के पूर्वाग्रह प्रचलित थे। उन्होंने एक ऐसी चीज़ पर लिखा था जिसका उल्लेख भी नहीं किया जा सकता था। उन्होंने न कहने वाली बात कह दी थी। आलोचकों का दावा था कि उग्र के लेखन से असल में पाठकों को गुदगुदी और उत्तेजना मिलती थी और इसलिए उससे समलैंगिक भावनाओं पर चोट नहीं पहुँचती बल्कि उन्हें बढ़ावा मिलता था। औपनिवेशिक उपस्थिति, बढ़ते राष्ट्रवादी आंदोलन, उभरती उच्च साहित्यिक प्रवृत्तियों और हिंदू पहचान के साथ उसके संबंधों ने उस समय इस आंदोलन को उत्तर भारत में एक ख़ास रंगत दे दी। *चाकलेट* ने इतरलिंगी व्यवस्था, प्रजननीयता की सार्थकता और विवाह के आधुनिक एकल विवाही आदर्शों को संदेह की परिधि में खड़ा कर दिया।

प्राचीन अभिलेखों और मध्यकालीन दरबारी रीति-रिवाजों में समलैंगिक संबंधों के इतिहास का पता चलता है। परंतु, *चाकलेट* ने स्पष्ट किया कि बढ़ते पुरुष-पुरुष आकर्षण/संबंधों के लिए स्कूल, कॉलेज, हॉस्टल, सिनेमा, थियेटर, समाज सेवी संगठन, पार्क, क्लब, मेले और जेल जैसी नई संस्थाएं और जगहें पैदा हो चुकी हैं। जब एक शक्तिशाली पौरुषयुक्त हिंदू मर्द की छवि पूरे राष्ट्र की चिंता का विषय थी उस समय *चाकलेट* ने सभ्यता के लिए ख़तरा खड़ा करते हुए उभरते शहरी पुरुष प्रश्रयों और वैकल्पिक यौनिकताओं को सार्वजनिक कर दियाः लगा, जैसे पुरुषत्व को संदिग्ध कर दिया हो।

इस टकराव ने आलोचकों को लोकप्रिय साहित्य और क्रमशः मनोरंजक कथा साहित्य के ख़िलाफ़ खड़ा कर दिया। इस टकराव का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्य में एक स्थायी दरार पैदा हो गई। छात्रों के लिए ऐसी किताबें पढ़ना गुनाह था और आलोचकों ने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि उन्हें पाठ्यक्रम में, बल्कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी जगह न मिले। मगर अपनी लोकप्रियता की मेहरबानी से यह साहित्य ज़िंदा रहा। टकराव आने वाले दशक में भी जारी रहा और 1940 के दशक में इसे लेकर जैनेंद्र कुमार के *सुनीता*, यशपाल के *दादा कामरेड*, और इस्मत चुग़ताई के *लिहाफ़* पर कई बहसें हुईं।

ब्रह्मचर्य, कलियुग और कामोद्दीपकों के इश्तहार

स्त्री यौनिकता ने विभिन्न पितृसत्तात्मक समाजों के लिए जो ख़तरा/भय पैदा किया है उसे ज़्यादातर नारीवादी अध्ययनों में रेखांकित किया गया है। भारतीय औपनिवेशिक संदर्भ में, विद्वानों ने वैवाहिकता/दाम्पत्य का अध्ययन करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया है कि किस प्रकार इस काल में स्त्री यौनिकता को पुनर्परिभाषित करने और बांध कर रखने की कोशिश की जा रही थी। और इस बात पर भी ज़ोर दिया गया है कि औरत आंतरिक आध्यात्मिक अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करती थी; उसे हिंदू परिवार को भी बचाए रखना था क्योंकि पुरुष तो बाह्य भौतिक परिधि में पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियों के सामने घुटने टेक चुका था।

बहस से थोड़ा हटकर बात करें तो, आशीष नंदी और मृणालिनी सिन्हा ने पुरुषत्व (masculinity) के मुद्दे की, मोटे तौर पर मर्दाना ब्रिटिश और उसके पौरुषहीन औपनिवेशिक शासितों के द्वैत/विरोधाभास के भीतर औपनिवेशिक विमर्श के विश्लेषण के ज़रिए, पड़ताल करने की कोशिश की है। इसमें कोई शक नहीं कि अनियंत्रित स्त्री-यौनिकता का भय बहुत बड़े पैमाने पर व्याप्त था परंतु पुरुष यौनिकता पर भी नियंत्रण रखने की ज़रूरत महसूस की जाती थी। यौन लोकाचार के क़ायदे-क़ानून पुरुषों पर भी लागू होते थे। मेरा मानना है कि हिंदू परिवार को अक्षुण्ण बनाये रखने के दायित्व से हिंदू पुरुष को भी पूरी तरह मुक्त नहीं किया गया था। इस बात को ब्रह्मचर्य से संबंधित विमर्श में आने वाले बदलावों से समझा जा सकता है। उस समय बड़े पैमाने पर प्रकाशित हो रहे कामोद्दीपकों के विज्ञापनों के विश्लेषण के ज़रिए पुरुष यौनिकता की पड़ताल औपनिवेशिक भारत में पुरुष उद्विग्नताओं और आकांक्षाओं का रोचक अध्ययन मुहैया कराती है।

ब्रह्मचर्य हिंदू धर्म की एक केंद्रीय अवधारणा रहा है। हिंदू परम्परा में पुरुषों की शक्ति और ऊर्जा के लिए वीर्य की रक्षा पर विशेष ज़ोर दिया गया है। इसके साथ ही हिंदुत्व में सेक्स के उत्सव का भी इतिहास रहा है जिससे

धर्म के विविध आयाम कामाचार और ब्रह्मचर्य का सम्मिश्रण बन गए हैं। परंतु इसके बावजूद सबसे आदर्श छवि एक ब्रह्मचारी की ही है और यौन संयम को सांस्कृतिक रूप से बेहद सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। परंतु औपनिवेशिक काल में ब्रह्मचर्य की अवधारणा को नए अर्थ प्रदान करते हुए उसे एक आधुनिक विमर्श में रूपांतरित कर दिया गया।

जोसेफ़ ऑल्टर ने उत्तरी भारत के पहलवानों में ब्रह्मचर्य के आचरण का अध्ययन किया है। अखाड़ों में सेक्स की शक्ति अनुशासित पौरुष शक्ति में रूपांतरित हो जाती है। शारीरिक अनुशासन प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य और आत्मनियंत्रण को सबसे अहम ज़रूरत, जबकि स्त्री आकांक्षा तथा यौनिकता को सबसे बड़ा शैतान माना जाता है। नायकों का राष्ट्र निर्मित करने के लिए विवेकानंद ने यौन सुख से परहेज़ का जो आह्वान किया था उससे औपनिवेशिक काल में ब्रह्मचर्य को एक नया अर्थ प्राप्त हुआ। गांधी ने ब्रह्मचर्य की कुछ भिन्न अवधारणा प्रस्तुत की। इस बात को वह भी मानते थे कि संचित वीर्य पुरुष देह में अतुलनीय शक्ति का स्रोत होता है। साथ ही उन्होंने ब्रह्मचर्य को राष्ट्र की अखंडता के विमर्श में तब्दील कर दिया। राष्ट्र के लिए सेक्स के आनंद में समय और ऊर्जा के बेजा व्यय पर रोक लगाने की आवश्यकता थी।

बीसवीं सदी के शुरु में ब्रह्मचर्य को सेवा समितियों और समाज सेवा के साथ जोड़कर देखा जाने लगा। बहुत सारे हिंदू प्रचारकों, सनातनधर्मियों और आर्यसमाजियों ने इसका महिमामण्डन किया। गुरुकुल आदि शैक्षणिक संस्थानों के ज़रिए ब्रह्मचर्य और वीर्य रक्षा को शिक्षा के साथ जोड़ दिया गया। उनके तर्कों और प्रकाशनों में अब यह सिर्फ़ आत्मानुशासन का नैतिक सिद्धांत भर नहीं रह गया था। उनका आधुनिक विमर्श एक वैज्ञानिक 'तर्कणा' में लपेट दिया गया। एक शक्तिशाली हिंदू पुरुष स्वस्थ शरीर में ही वास कर सकता था और शक्तिशाली हिंदू पुरुष आधुनिक, मर्द राष्ट्र के लिए अपरिहार्य था। ब्रह्मचर्य आधुनिक काल की आशंकाओं और आशाओं के साथ गहरे तौर पर जुड़ गया। कलियुग के साथ जुड़ी व्यापक चिंताओं और तनावों को ही स्वस्थ जीवन शैली के विनाश का स्रोत माना जाने लगा, जिसके कारण हिंदू पुरुष अपनी शारीरिक एवं मानसिक तेजस्विता खोते जा रहे हैं। सिनेमा, थिएटर, उपन्यास, अनैतिक और अस्वास्थ्यकर जीवन शैली जैसी आधुनिक समाज की कुछ बुराइयों को भी युवकों को आधुनिक मनोरंजन तथा आनंद के उन्माद में डुबो देने वाला माध्यम माना जाता था। इस प्रकार ब्रह्मचर्य सामाजिक एवं राजनैतिक सत्, सांस्कृतिक पहचान और एक वैज्ञानिक जीवन शैली के लिए दावेदारी का आधारस्तंभ था। कई नैतिक सुधारकों और अनगिनत चिकित्सकों ने भी ब्रह्मचर्य के विमर्श में योगदान दिया। छपाई के साधनों ने ब्रह्मचर्य पर सस्ती निदेशिकाओं की बाढ़-सी ला दी। सदियों पुराने नुस्ख़ों को नई-नई परिभाषाओं के साथ बार-बार परोसा जाने लगा। हिंदू पुरुष को ब्रह्मचर्य, हस्तमैथुन के निषेध और वीर्य रक्षा की टीकाओं तले दबा दिया गया।

हिंदू पुरुष को दी जाने वाली हिदायतों का कोई ओर-छोर नहीं था। उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी यौन इच्छाओं को दबाने के लिए बहुत कम आयु से ही हर संभव प्रयास शुरु कर दे। हस्तमैथुन, स्वप्नदोष, गुदा-मैथुन, समलैंगिकता और परस्त्री गमन को पुरुष यौनिकता के प्रमुख शत्रुओं में गिना जाता था तथा इन्हें चरमसुख (orgasm) और वीर्य स्खलन का स्रोत माना गया। प्रकारांतर से इन्हें विभिन्न बीमारियों की जड़ भी माना गया। पुरुषों की पवित्रता बनाए रखने और वीर्य की एक भी बूंद को ज़मीन पर न गिरने देने के लिए हिंदू पुरुष को लगातार ललकारा जाता था कि वह अपनी फ़ंतासियों और कामोन्मादी कल्पनाओं पर नियंत्रण रखे। उसे हस्तमैथुन पूरी तरह छोड़ देना था। उसे अपने हृदय और मस्तिष्क को शांत रखना था। स्त्री का कोई भी विवरण और स्पर्श निंदनीय था। वह किसी स्त्री के साथ अकेले नहीं बैठ सकता था, बल्कि उसे ऐसी जगह बैठने की भी छूट नहीं थी जहां उससे पहले कोई स्त्री बैठकर गई हो। उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह झक सफ़ेद या चटक रंग के कपड़े नहीं पहनेगा। नाच, थियेटर, रासलीला, नौटंकी या सिनेमा देखना, विशेष रूप से विवाह के अवसर पर महिलाओं द्वारा गाए जाने वाले गीत और संगीत को सुनना, या रोमांस अथवा श्रृंगारिक उपन्यास आदि पढ़ना वर्जित था। उसे गायन, वादन और नृत्य करने की छूट नहीं थी। निचली जाति और वर्ग की महिलाओं के साथ संपर्क या बातचीत की मनाही थी। वह घोड़े या ऊंट की सवारी नहीं कर सकता था। वह मसालेदार खाना नहीं खा सकता था, स्त्रियों के सपने नहीं देखना और ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना था जिससे यौनेच्छाएं जागृत होती हों। इतना ही नहीं, उससे यह भी अपेक्षा की जाती थी

कि वह जूते पहनना, छाता लेकर चलना, ख़ुशबूदार तेल और फूलों का इस्तेमाल करना तथा नरम बिस्तर पर सोना छोड़ दे।

ये नैतिक हिदायतें शादी के बाद एक साथ पूरक तथा जटिल हो जाती थीं और हिंदू पुरुष के लिए अपनी देह पर नियंत्रण रखने की चुनौती और भी दुरूह हो जाती थी। नीतिप्रधान और सुधारवादी साहित्य का एक बड़ा हिस्सा इस बात को समर्पित था कि पति और पत्नी के सोने की व्यवस्था कैसी होनी चाहिए। लैला-मजनूं और शीरीं-फ़रहाद जैसे अमर प्रेमियों के प्रेम को बेमानी और बकवास माना जाता था। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के विमर्श को वैवाहिक संबंधों के भीतर पूर्ण निषेध की बजाय यौन संयम और मितव्ययता के विचारों पर आधारित कर दिया गया। न केवल संयुक्त परिवार की एकजुटता बल्कि राष्ट्रवाद के वृहत्तर हितों के लिए भी स्त्री की शुचिता और पुरुष का यौन संयम, दोनों अनिवार्य थे।

इसके विपरीत बहुत सारे 'सम्मानित' अख़बारों और पत्रिकाओं में बड़े पैमाने पर कामोद्दीपकों के विज्ञापन छपते रहते थे। विशेष रूप से बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों से यह परिघटना ज़्यादा साफ़ दिखाई दे रही थी। जबकि ब्रह्मचर्य की अवधारणा नए उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विकसित और परिवर्तित हो रही थी, ऐसे समय में, अकल्पनीय आनंद का आश्वासन देते हुए हिंदू पुरुषों की प्यास और चाह को भड़काने वाले विज्ञापन बेहद लोकप्रिय सिद्ध हुए। हालाँकि परम्परागत कामोद्दीपक पदार्थ भारत के प्रेमियों को सदियों से रोमांचित करते आ रहे थे मगर मुद्रित विज्ञापनों ने उनको नए रूप, नए आयाम दिए। विज्ञापनों ने सेक्स के रहस्यों को सार्वजनिक कर दिया। उन्होंने कामोद्दीपकों को खुले बाज़ार में ला पटका। कम क़ीमत के कारण अब वे आम लोगों की पहुँच में भी आ गए थे। बहुत सारे परम्परागत नुस्ख़ों को अब आकर्षक पैकेजिंग में लपेटकर बेचा जाने लगा। बहुत सारे नीम-हकीमों और कम्पनियों की बहार आ गई। वह मूलतः पुरुष उपभोक्ताओं को लुभाने के लिए हर कहीं और हर रोज़ विज्ञापन देने लगे। उनकी उत्तेजक और स्फूर्तिदायक दवाइयां ख़ूब धड़ल्ले से बिकने लगीं।

इलाहाबाद स्थित शिवराम औषधालय के बी.पांडेय ने 'कामदेव वटी' के विज्ञापन में दावा किया कि इससे ज़बर्दस्त शारीरिक शक्ति मिलती है, वीर्य अधिक मात्रा में और गाढ़ा बनता है तथा उससे बूढ़ों को भी लाभ होगा। 'मदन मंजरी' और 'कामरत्न गोलियां' के विज्ञापनों में ऐलान कर दिया गया कि इनसे नपुंसकता, असमय स्खलन और रात्रि स्खलन की समस्याओं से छुटकारा मिलता है, व्यक्ति सेक्स का भरपूर आनंद ले सकेगा। ये विज्ञापन कितनी जगह घेरते थे इसका अनुमान लगाने के लिए 6 अगस्त 1938 के *वर्तमान* को देखा जा सकता है। अख़बार के एक ही पृष्ठ पर ऐसे पाँच विज्ञापन छपे हुए थे। उदाहरण के लिए, एक और कामोद्दीपक 'तिला मस्ताना' नाम से था जो कथित रूप से शरीर पर बिजली जैसा असर डालता था। 'शिवमोहिनी सुरती' बनाने वालों का दावा था कि उससे मस्तिष्क और देह दोनों को ताज़गी मिलती है। कलकत्ता के डॉ. एस के बर्मन तथा सीताराम वैद्य ने भी उत्तर प्रदेश के अख़बारों और पत्रिकाओं के ज़रिए बड़े पैमाने पर प्रचार किया। उनकी भी घोषणा थी कि जीवन का अधिकतम आनंद देने वाला नुस्ख़ा उन्हीं के पास है। उनका दावा था कि उनकी दवाओं के सहारे दुर्बल से दुर्बल और एकदम बूढ़ा आदमी भी जीवन का पूरा आनंद ले सकता है। ग़ौरतलब है कि ऐसी लगभग सभी गोलियों के मामले में अलग-अलग उपसर्ग और प्रत्ययों के साथ काम आदि शब्दों और दूसरे कामुक शीर्षकों का धड़ल्ले से प्रयोग किया जाता था। ये शब्द लोगों को अपनी तरफ़ खींचने का ज़रिया थे, जिससे सेक्स एक खुली चीज़ और ख़रीदा बेचा जाने लायक़ माल बन गया।

कम्पनियों, डॉक्टरों, वैद्यों और नीम-हकीमों के लिए, अपने उत्पादों का प्रचार करने के लिए विज्ञापन सबसे तेज़ साधन सिद्ध हुए। मुनाफ़े की चाह से संचालित ये विज्ञापनदाता आक्रामक मार्केटिंग तकनीक अपनाते थे। कामोद्दीपकों के विज्ञापन इस लिहाज़ से बेजोड़ और शक्तिशाली थे कि उन्हें 'सम्मानित', 'उच्च श्रेणी' अख़बारों और किताबों के पन्नों में डाला जा सकता था, और इस तरह वे 'अदृश्य' थे। उनकी दख़ल घरों तक थी इसलिए वे सर्वसुलभ भी थे। पाठक और उपभोक्ता दोनों उनकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकते थे। इन विज्ञापनदाताओं के लिए एक अच्छा-ख़ासा बाज़ार पहले से ही तैयार था क्योंकि उन्होंने आम आदमी की वास्तविक और कल्पित परेशानियों, मसलन स्फूर्ति के अभाव, नपुंसकता, और समय-पूर्व स्खलन को ब्रह्मचर्य की टीकाओं और पेशेवर डॉक्टरों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा बेहतर तरीक़े से भांप लिया था। उन्हें पता था कि क्या चीज़ बिक सकती है, और उसकी बिक्री बढ़ाने के लिए उन्होंने कमज़ोर, घबराए हुए, क्षीण लोगों पर निशाना साधा। 'कामरत्न गोलियां' और 'कामसुंदरी वटी' के विज्ञापनों में कहा गया था कि आज के समय में दुर्बलता का ख़तरा कई गुना बढ़ गया है और ये गोलियां आनंददायक यौन अनुभव प्रदान करते हुए नपुंसकता का इलाज कर सकती हैं। दूसरी तरफ़ असल ज़िंदगी में भारतीय पुरुष सचमुच वास्तविक सत्ता से च्युत महसूस करता था। ऐसी स्थिति में इन विज्ञापनों ने उसके सामने फ़ंतासी की एक ऐसी दुनिया के दरवाज़े खोल दिए जहां पुरुष अपनी कथित अपौरुषता की क्षतिपूर्ति कर सकता था। इस प्रकार, ये विज्ञापन सिर्फ़ यौनिकता का उत्सव ही नहीं मना रहे थे बल्कि इन्हें नपुंसकता की आशंकाओं से मुक्ति का प्रयास भी माना जा सकता है। इसी से यह भी समझा जा सकता है कि ब्रिटिश पुरुषत्व के प्रतीक चिन्ह शेर को उस समय के कामोद्दीपकों के विज्ञापनों में इतना अधिक इस्तेमाल क्यों किया जाता था। संभवतः यह इस बात का संदेश था कि एक समर्थ भारतीय पुरुष उस पशु-नरेश को भी जीत सकता है। जहां एक तरफ़ इन विज्ञापनों ने पुरुष यौन फ़ंतासी का इस्तेमाल अपने माल को बेचने के लिए किया वहीं दूसरी तरफ़ वे कभी-कभी अपनी भाषा को नैतिक चोले में भी पेश कर देते थे। बीच-बीच में वे लोगों को शारीरिक सुख की अति के प्रति आगाह भी करते रहते थे। इस प्रकार उनमें सुरक्षित और अच्छे संभोग में विश्वास के पक्ष और विपक्ष, दोनों पहलू दिखाई देते हैं।

इन विज्ञापनों ने यौन सूचनाओं के लिए एक नया सार्वजनिक क्षेत्र खोल दिया और उन्हें यौन नैतिकता के ऐसे व्यापक पतन का संकेत माना जाने लगा, जिससे न केवल ब्रह्मचर्य के विचार को बल्कि सभ्यता मात्र को गंभीर ख़तरा था। यह उनकी भारी व्यापकता और स्पष्ट संकेतों का ही परिणाम था कि वे एक नैतिक अराजकता के एहसास का स्रोत बन गए और बहुत सारे अंग्रेज़ों और हिंदुओं के लिए उन्हें स्वीकार करना असंभव हो गया। ब्रिटिश सरकार ने ऐसे विज्ञापनों के ख़िलाफ़ मुहिम छेड़ दी। इन विज्ञापनों पर प्रतिबंध लगाने के लिए 'अश्लील' भाषा के प्रयोग का आक्षेप लगाते हुए कहा गया कि ऐसी भाषा नैतिक भ्रष्टाचार, अनैतिक

संभोग, और दूषित विचारों का चिन्ह है तथा इससे सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं प्रजननशीलता को ख़तरा पैदा हो सकता है।

उत्तर प्रदेश में अख़बारों के बहुत सारे संपादकों को कामोद्दीपकों के अश्लील विज्ञापन छापने के लिए दंडित किया गया। जब 1890 में मुरादाबाद के कई संपादकों को इस आरोप में दंडित किया गया और उन पर जुर्माना लगाया गया तो कुछ संपादकों ने स्थानीय सरकार को ज्ञापन देकर दरख़्वास्त की कि 'अश्लील' की परिभाषा स्पष्ट की जाए। उनकी दलील थी कि ये विज्ञापन अनैतिकता को बढ़ावा देने या सार्वजनिक मर्यादा को भंग करने के उद्देश्य से नहीं छापे जा रहे हैं बल्कि उनका उद्देश्य जनता का हित ही है। आख़िर अश्लील शब्दों का प्रयोग क़ानूनी और चिकित्सकीय रचनाओं में भी तो किया जाता है। मगर कुछ अख़बारों ने ऐसे विज्ञापनों के ख़िलाफ़ की गई कार्रवाई का यह कहते हुए समर्थन किया कि उनसे प्रेस की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचता है। इन अख़बारों ने सरकार से आग्रह किया कि वह उन लोगों को भी दंडित करे जो ऐसे नोटिस जारी करते हैं।

बहुत सारे हिंदू प्रचारकों के लिए ये विज्ञापन कलियुग में अनियंत्रित यौन विध्वंस के लक्षण थे। हालाँकि ये विज्ञापन बेहद कड़े पितृसत्तात्मक विचारों को पुष्ट करते थे परंतु इसके साथ ही वे उसी पितृसत्ता के लिए एक नैतिक चुनौती भी थे। वे पथभ्रष्ट यौनिकता की दुनिया के तथा तार्किक हिंदू पुरुष के आत्मसंयम के विनाश के आशंकित स्रोत थे। एक 'अच्छे' ब्रह्मचारी को नियंत्रित किया जा सकता था; एक 'घटिया' पुरुष की इच्छा नियंत्रण की सीमा के बाहर थी। फलस्वरूप एक भय और निंदा का विमर्श पैदा हुआ। गुरुकुल समाचार में 'विज्ञापन' शीर्षक से छपे एक आलेख की शुरुआत इस आग्रह के साथ की गई थी कि किस प्रकार कामोद्दीपकों के विज्ञापन अख़बारों के लिए और ऐसी दवाइयां बेचने वाली कम्पनियों के लिए मुनाफ़े का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं, परंतु, यह पैसा गंदगी बेचकर कमाया जा रहा है न कि उत्तम साधनों से। आलेख में आगे कहा गया थाः

> कामोत्तेजक चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले विज्ञापनों को पढ़ कर कुल कामिनी गण सिर नीचा कर लेती हैं, छोटी उम्र की कन्याएं बालक पढ़कर एक आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि यह रात का मज़ा क्या है?... वर्ण पत्र पढ़ने को सभी का जी चाहता है पर उनमें अमृत के स्थान पर विष भरा है, वे क्या जान सकते हैं।... अब पाठक गण उन कौतुक वर्धक विज्ञापनों में उन दवाओं के नाम पढ़ें और देखें कैसे विलासिता के रस से भरे हुए हैं।... एक ओर शिक्षा का प्रवाह बह रहा है — गुरुकुल और ऋषिकुल खुल रहे हैं। ब्रह्मचर्य के पालन के उपाय किये जा रहे हैं।... उधर संसार में इस प्रकार के अश्लील विज्ञापन छाप और बांट कर देश का नाश कर रहे हैं।... हमारी समझ में तो ऐसे अख़बारों को मांगने को कौन कहे हाथ में भी छूना नहीं चाहिये विशेष कर स्त्रियों के हाथ में तो जाना ही नहीं चाहिए।

लेख के अंत में समाचार पत्रों और सरकार से अपील की गई थी कि ऐसे विज्ञापनों पर तत्काल रोक लगाई जाए। गांधी ने अख़बारों के मालिकों से आग्रह किया कि वे ऐसे विज्ञापनों के ख़िलाफ़ कड़े प्रतिबंध लागू करें और केवल 'स्वस्थ क़िस्म के विज्ञापन ही स्वीकार करें'। मगर संसाधनों के अभाव से जूझ रहे प्रेस के लिए कामोद्दीपकों के विज्ञापन आमदनी का एक महत्वपूर्ण ज़रिया थे। बाज़ार का एक अपना तर्क होता है। कई समाचार संपादक यद्यपि हिंदू आदर्शों के कट्टर समर्थक थे लेकिन वे ऐसे विज्ञापनों की हिमायत भी करते थे। अपने ख़िलाफ़ चलाए जा रहे तीखे अभियान के बावजूद कामोद्दीपक दवाओं के निर्माता अपने उत्पादों को बेचने के रास्ते ढूंढते रहे।

पुरुषत्व के कई अर्थ होते हैं। ब्रह्मचर्य एक प्रकार के अर्थ पर ज़ोर देता था जबकि ये विज्ञापन दूसरे पर। हालाँकि दोनों का ही सामना नपुंसकता और हिंदू पुरुष की अस्मिता के संकट से था मगर दोनों की दिशा एक दूसरे से विपरीत थी। एक संयम की वकालत करता था तो दूसरे का विश्वास उत्सव में था। ब्रह्मचारी हिंदू

पुरुष अपनी शक्ति को राष्ट्र के लिए संचित करता था, जबकि इन विज्ञापनों में चित्रित पुरुष उसे अपनी 'स्वार्थपरक' यौन तृप्ति के लिए इस्तेमाल करता था। एक में पुरुषत्व का सार वीर्य को बचाए रखने में निहित था तो दूसरे का उसको प्रवाहित कर देने में था। मगर इसके साथ ही, दोनों पितृसत्तात्मक समझ को पुष्ट करते थे — एक महिलाओं को हाशिए पर धकेल कर, तो दूसरा उन्हें अधीन बनाकर। इस प्रकार हिंदू पुरुष शक्ति विविध रूप अख़्तियार कर सकती थी।

हिंदुओं के सामने उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में पुरुष यौनिकता भी विवाद का विषय थी। हिंदुओं की कथित रूप से घटती संख्या का बढ़ता भय, वैवाहिक संबंधों की नई परिभाषाएं, राष्ट्रवादी आंदोलन की नई चुनौतियां, कलियुग की नैतिकता संबंधी आशंकाएं, बाज़ार की मांग, इन सबने ब्रह्मचर्य की आधुनिक समझ और ऐसे विज्ञापनों के बीच स्थित तनाव को और बढ़ावा दिया तथा पुरुष यौनिकता को भी उसी हद तक प्रश्नों के दायरे में ला दिया जिस हद तक स्त्री यौनिकता पहले से थी।

निष्कर्ष

यह स्पष्ट है कि हिंदू नैतिकतावादी अपनी पहचान और एक सभ्य आधुनिक राष्ट्र की स्थापना एक ख़ास क़िस्म के साहित्य को प्रोत्साहित करके और स्वयं को अश्लीलता तथा यौन सुख के विचारों से विरक्त रखते हुए करना चाहते थे। उत्तर मध्यकालीन अभिजात साहित्य के श्रृंगार रस के प्रति एक ख़ास बेचैनी थी। लोकप्रिय प्रकाशनों के बाज़ार के प्रति यह बेचैनी और भी ज़्यादा थी क्योंकि इसे जनता के बीच कामुकता फैलाने वाले माध्यम के रूप में देखा जाता था। 'अच्छे' और 'उपयोगी' साहित्य के लिए नियंत्रण और व्यवस्था का होना अनिवार्य था, फलस्वरूप एक उभरते हिन्दी साहित्यिक समुदाय के नैतिक प्राधिकार को बल मिला और एक हिंदू राष्ट्रवादी पहचान पुष्ट हुई। साहित्यिक नीतिशास्त्र को राष्ट्र की नैतिकता के साथ जोड़ दिया गया। जहाँ तक इस काल के अधिकांश 'उच्च' साहित्यिक रुझानों का प्रश्न है ये प्रयास सफल रहे थे।

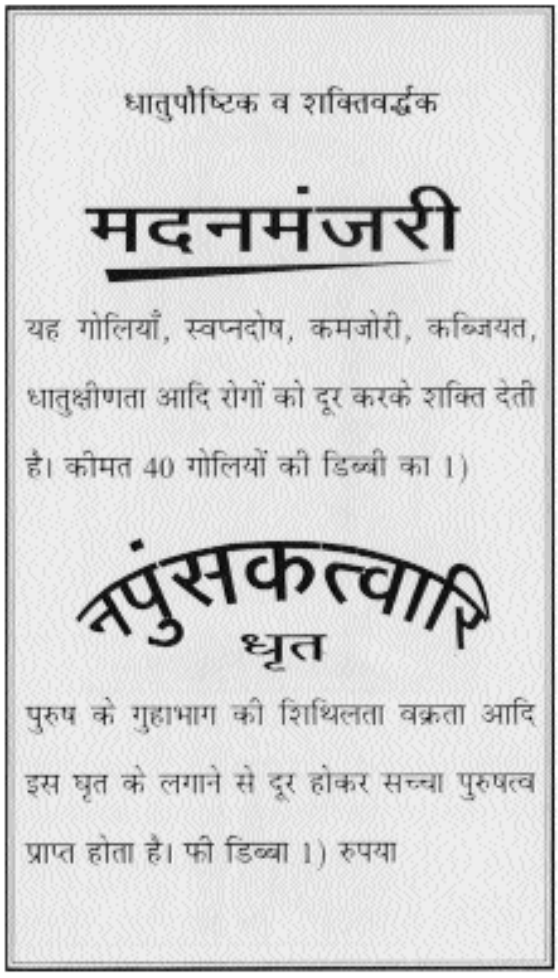

निस्संदेह यह साहित्य अपने आप में महत्वपूर्ण और प्रभावशाली था परंतु सामाजिक पहचानों के समग्र क्षेत्र में उसका दख़ल नहीं था। अगर दूसरे हिन्दी प्रकाशनों पर नज़र डाली जाए तो तस्वीर कुछ और जटिल दिखाई देती है। उनमें से ज़्यादातर स्वच्छ साहित्यिक अभिरुचियों और राष्ट्र निर्माण से तटस्थ थे। जो चीज़ वाक़ई बाज़ार में बिक रही थी और जिससे मुनाफ़ा हो रहा था वह नाना प्रकार की सेक्स टीकाएं, रोमांस, गीत और विज्ञापन ही थे। पुरानी शैलियां — ब्रजभाषा के कामुक गीत, क़िस्से, नौटंकियां और संगीत बड़े पैमाने पर छपते और बिकते थे। रोमांटिक नॉवेल और थ्रिलर जैसी नई व्यावसायिक विधाओं ने न केवल मनोरंजन उपलब्ध कराया बल्कि ऐसे विषयों को भी उठाया जिनके बारे में तमाम तरह के पूर्वग्रह थे। विज्ञापनों

ने यौन उद्विग्नताओं को और पुष्ट किया। यौन टीकाओं ने एक 'वैज्ञानिक' लबादा तो ओढ़ लिया मगर साथ ही वे यौन उत्तेजना और गुदगुदी भी पैदा करते थे। यह साहित्य हाशिए पर नहीं बल्कि एक उभरती उपसंस्कृति के केंद्र में था। ऐसी किताबों में पितृसत्तात्मक और नैतिकतावादी विचारों को आंशिक रूप से पुनर्निर्मित किया गया और आंशिक रूप से उनका विरोध किया गया। इस मामले में 'उच्च' और 'निम्न' तथा 'अभिजात' और 'लोकप्रिय' की सरल विभाजक रेखाएं भी हमें बहुत दूर तक रास्ता नहीं दिखा पातीं। इतना ही नहीं, कामुक सामग्री के लेखक और पाठक स्वयं भी हिंदू मध्य वर्ग के ही अंग थे। 'उच्च' स्वच्छ साहित्य के पाठक कम ही थे।

नोट: इस लेख के संदर्भ-ग्रंथों और स्रोतों के लिए कृपया मेरी किताब, *सेक्शुऐलिटी, ऑब्सिनिटी, कम्युनिटीः विमेन, मुस्लिम ऐण्ड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया* (पर्मानेंट ब्लैक, दिल्ली और पैलग्रेव प्रेस, न्यूयॉर्क से 2001 में प्रकाशित) देखें.

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

ओड़िया बनाम बांग्ला

भाषा विवाद और ओड़िया सांस्कृतिक पहचान

प्रगति महापात्र

दक्षिण एशिया की राजनीतिक संस्कृति और विमर्श में समय-समय पर भाषा विवाद उभरते रहे हैं। इनकी जड़ें कम से कम उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में स्पष्ट दिखने लगती हैं। बहुभाषी भारतीय समाज में भाषा और उससे जुड़ी पहचान ने अक्सर टकराव और विवादों को जन्म दिया है और उन्हें सींचा है। ऐसा ही एक विवाद 1860 और 1870 के दशकों में बांग्ला और ओड़िया भाषा को लेकर उभरा।[1] संदर्भ था कचहरी और सरकारी स्कूलों में ओड़िया हटा कर बांग्ला के प्रयोग का प्रस्ताव, और मुद्दा बना — क्या ओड़िया एक स्वतन्त्र भाषा है? इसके इर्द-गिर्द जन्मा ओड़िया भाषा सुरक्षा आंदोलन और यही आधार बना भावी ओड़िया राष्ट्रवाद का जिसकी सियासत की बुनियाद इस माँग पर टिकी कि ओड़िया भाषी इलाक़ों को एक पृथक प्रांत में गठित होना चाहिए।

अगर आधुनिक ओड़िसा पर लिखी इतिहास की तमाम किताबों को देखें तो उनमें 1860-70 के भाषा-विवाद को मील का पत्थर माना जाता है। अक्सर इसे ओड़िया भाषा को लुप्त होने से बचाने वाले आंदोलन का दर्जा दिया जाता है। इस पर इतना कुछ लिखा गया कि यह ओड़िया पहचान का सहज और स्वयंसिद्ध तथ्य मान लिया गया। ज़ाहिर है ओड़िया को हटाने के प्रस्ताव पर ओड़िया समर्थकों को बहुतेरी आपत्तियाँ थीं। अव्वल तो इसमें उन्हें स्थानीय बंगाली अधिकारियों की साज़िश नज़र आयी। उनका कहना था कि 1866 के भीषण अकाल ने ओड़िसा के ब्रितानी अधिकारियों में सहानुभूति जगायी। साथ ही ओड़िया के 'पिछड़ेपन' ने सरकार का ध्यान खींचा — सरकार ने नहरें खुदवायीं और ओड़िया भाषा में शिक्षा को बढ़ावा दिया। ओड़िया राष्ट्रवादियों के अनुसार यह स्थानीय बंगाली अधिकारियों को पसन्द नहीं आया, जिन्होंने ओड़िया को एक ऐसी पिछड़ी भाषा कहा जिसके विकसित होने की संभावना नहीं थी। ऐसी भाषा भला कचहरी और स्कूलों में कैसे इस्तेमाल की जा सकती थी? इन संस्थाओं के लिए बांग्ला उचित भाषा बतायी गयी और यह तर्क देकर कि बांग्ला एक पूर्ण विकसित भाषा थी — ओड़िया तो उसकी मात्र एक डाल थी — महज़ एक बोली। इस प्रकार ओड़िया बनाम बांग्ला विवाद पनपने के लिए उर्वर माहौल तैयार हो गया।

ओड़िया बनाम बांग्ला विवाद को जिस अनुपात में बौद्धिक विमर्श और लोक-चेतना में जगह मिली उससे भाषा का सांकेतिक और राजनीतिक महत्व उजागर होता है। ओड़िया राष्ट्र, ओड़िया भाषा और ओड़िया साहित्य के इतिहास-लेखन में इस 'विवाद' को अक्सर केन्द्र में रख दिया जाता है। ओड़िया सांस्कृतिक पहचान में भाषा की इतनी अहम भूमिका को समझना काफ़ी जटिल है। जब हम भाषा-संबंधी तत्कालीन दस्तावेज़ों को देखते हैं तो उनमें ओड़िया भाषा की 'शुद्धता', 'पुरानेपन' तथा अन्य भाषाओं (अंग्रेज़ी, संस्कृत, बांग्ला) से संबंधों पर ऐसा विमर्श बनता प्रतीत होता है जो भाषा के सवाल से परे जाता है। औपनिवेशिक संदर्भ में भाषा-संबंधी मध्य-वर्गीय तर्क किस प्रकार ओड़िया राष्ट्रवादी चेतना के स्वरूप को गढ़ने लगे यह काफ़ी गूढ़ और दिलचस्प है।

आधुनिक ओड़िसा में सार्वजनिक क्षेत्र की पहली संस्थाएं भाषा से संबंधित थीं। एक ऐसी शुरुआती संस्था नवम्बर 1866 में बालेश्वर में स्थापित हुई — 'उत्कल भाषा उन्नति बिधायिनी सभा'। मई 1867 में कटक में 'उत्कल भाषा

उद्दीपनी सभा' शुरु की गयी जिसका मक़सद था 'भाषा को सुधारना'।[2] इसकी पहली बैठक को अख़बार *उत्कल दीपिका* ने एक नये युग की शुरुआत बतायाः

> पिछला इतवार उत्कल देस के लिए एक महान दिन था। उस दिन एक बड़े उद्देश्य के लिए इस शहर के महानुभाव एक साथ एकत्र हुए। ओड़िसा की भाषा कैसे विकसित हो और हम मिश्रित ओड़िया, जो सरकारी हलक़ों में इस्तेमाल की जाती है — उसकी जगह शुद्ध ओड़िया को कैसे लायें ताकि सबसे क़ाबिल लोग ही अमला बन सकें — यही इस बैठक के उद्देश्य थे।[3]

तब यह सोचा जा रहा था कि सरकारी क्षेत्र में ज़्यादा शुद्ध ओड़िया भाषा के इस्तेमाल से स्थानीय लोगों को नौकरी मिलने की संभावना बेहतर होगी जबकि मिली-जुली ओड़िया दूसरे समुदाय के लोगों को ज़्यादा फ़ायदा पहुँचाती थी। यानी भाषा को 'शुद्ध' बनाने और 'सुधारने' जैसे मुद्दे रोज़गार की संभावनाओं से गहराई से जुड़ गये।

भाषा को बढ़ावा देने के लिए पुराने और पारंपरिक धार्मिक ग्रंथों को सस्ते में व्यापक रूप से उपलब्ध कराना सबसे कारगर उपाय माना गया। यह उम्मीद व्यक्त की गयी कि छपी हुई धार्मिक किताबें ओड़िया लोगों के बीच देशज (वर्नाक्युलर) शिक्षा को लोकप्रिय बनायेंगी[4]। जो लोग इसमें सक्रिय हुए उन्हें इस बात का अहसास था कि ओड़िया में छपा साहित्य 'पिछड़ी' अवस्था में था और ओड़िया पढ़े-लिखे लोगों की तादाद कम थी। इन समस्याओं से निपटने के लिए उन्होंने ओड़िया बोलने वालों को साथ लाने पर ज़ोर दिया चाहे वो ओड़िसा की तत्कालीन सीमाओं के बाहर रहते हों। इस प्रकार 'भाषा' के ज़रिये राष्ट्र/समुदाय की परिकल्पना के संकेत मिलने शुरु हो जाते हैं। 'भाषा' को बेहतर बनाने के प्रयास के केन्द्र में एक समुदाय के सामान्य हित का विचार देखा जा सकता है। मगर यह अहसास भी मौजूद था कि इस अपेक्षाकृत नये विचार से स्वयं कल्पित समुदाय के सदस्य ओत-प्रोत नहीं थे बल्कि भाषाई पहचान की चेतना का अभाव 'राष्ट्र' के 'पिछड़ेपन' का एक पहलू माना गया। अतः एक फलते-फूलते छपे साहित्य और वर्नाक्युलर तालीम में विस्तार को 'ओड़िया राष्ट्र' के निर्माण के लिए ज़रूरी माना गया। आगे चलकर एक पीढ़ी बाद ओड़िया राष्ट्रवादियों ने यह तर्क दिया कि ओड़िया-भाषी लोगों को विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों के तले रख राष्ट्र/समुदाय को 'तोड़ने' की जानबूझ कर कोशिश की गयी। समुदाय के उत्थान के लिये प्रशासनिक रेखाओं को भाषा के आधार पर पुनः खींचने की माँग ज़ोर पकड़ गयी। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में ओड़िया लोगों की हालत पर यह टिप्पणी की गयीः

> बीसवीं शताब्दी का एक ओड़िया व्यक्ति जब अपनी आँखें खोलता है तो पाता है कि उसका देश भारतीय महाद्वीप में एक ख़ास तरह से बँटा हुआ है। वह अपने अन्दर एक अधूरापन महसूस करता है और उसे लगता है कि भाई-भाई के बीच एक नक़ली दीवार उठा दी गयी है... और इस वजह से राष्ट्रीय एकता की चेतना नष्ट की जा रही है। इस तरह अपनी भाषा और समुदाय से लगाव-जुड़ाव जो सब में होता है, कमज़ोर पड़ जाता है।[5]

यहाँ पर भाषा के प्रति लगाव को सहज और स्वाभाविक मान लिया गया और मनुष्य-जनित भी। समकालीन ओड़िया प्रेस में ओड़िसा के स्कूलों में ओड़िया की जगह बांग्ला के प्रयोग को ओड़िया भाषा के जीने-मरने का सवाल माना गया। इस क़दम के पीछे तरह-तरह के कारणों को ज़िम्मेदार ठहराया गया। कभी ये कहा गया कि ओड़िया में पाठ्य-पुस्तकों की कमी है या शिक्षा विभाग के कनिष्ठ अधिकारी अपनी भाषा के प्रति लापरवाह थे या ये कि सरकारी हलक़ों में ओड़िया को एक पिछड़ी भाषा माना जाता था।

इसके जवाब में ओड़िया भाषा के दर्जे को अनेक तर्कों के सहारे उठाने की कोशिश की गयी। भाषा की 'ऐतिहासिकता' को साबित किया गया, उसके भौगोलिक क्षेत्रफल को और फैलाया गया, और उसके विशाल साहित्य

पर चर्चा हुई। साथ ही यह ज़ोर देकर भी कहा गया कि ओड़िया एक आर्य भाषा है जो जनजातीय लोगों की ज़बान से अलग है। लेकिन अंग्रेज़ी और फ़ारसी से ओड़िया भाषा को ख़तरा नहीं माना गया। अंग्रेज़ी को सरकारी नौकरियों और सामाजिक उत्थान के लिए ज़रूरी माना गया, ख़ासतौर पर फ़ारसी के बाद।

ऐसा माना गया कि ओड़िया को सबसे अधिक ख़तरा बांग्ला से था। ओड़िया के स्थान पर बांग्ला को लाये जाने के प्रस्ताव के विरुद्ध कटक में 'चुनिंदा लोगों' ने सरकार को एक याचिका प्रस्तुत की। जाने-माने ओड़िया लेखक फकीर मोहन सेनापति के अनुसार पाँच सौ लोगों ने याचिका पर दस्तख़त करके बंगाल सरकार को भेजी। अहम बात ये हुई कि इसे बालेश्वर के कलक्टर जॉन बीम्स और ओड़िसा डिविज़न के आयुक्त टी.ई. रैवेन्शॉ का समर्थन मिला। परिणाम सकारात्मक रहा। सरकार ने ओड़िया हटाने के प्रस्ताव को रद्द कर दिया। ज़ाहिर है इसे ओड़िया लोगों की 'विजय' माना गया जिसका सेहरा रैवेन्शॉ जैसे सहानुभूति रखने वालो अधिकारियों के सिर पर रखा गया।[6] लेकिन सरकारी फ़ैसले को दोषपूर्ण मानने वाले भी मौजूद थे। *उत्कल हितैषिणी* (संपादक कालीपद बन्द्योपाध्याय) ने बांग्ला, जबकि *उत्कल दीपिका* (संपादक गौरीशंकर राय) ने ओड़िया के पक्ष में तर्क दिये। ओड़िया बनाम बांग्ला विवाद और गहराने लगा।

1868 के जाड़े में डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र, जो एक प्रतिष्ठित विद्वान थे, ओड़िसा आये। वह आधिकारिक रूप से प्राचीन और मध्यकालीन ओड़िसा के पुरातत्विक अवशेषों पर सामग्री इकट्ठा करने के उद्देश्य से आये थे। उनकी यात्रा ने ओड़िसा में बहुत उत्साह जगाया। *उत्कल दीपिका* के संपादक ने उम्मीद व्यक्त की कि डॉ. मित्र ओड़िसा के महान अतीत को उजागर कर उसकी वर्तमान दयनीय अवस्था से उबारने में योगदान देंगे। लेकिन राजेन्द्रलाल मित्र ने तमाम उम्मीदों पर पानी फेर दिया। दिसम्बर 1868 में उन्होंने कटक डिबेटिंग क्लब में भाषा पर दिये अपने आख्यान में कहा कि ओड़िसा का उद्धार तब तक नहीं तो सकता जब तक ओड़िया उसकी भाषा रहेगी। उन्होंने कहा कि ओड़िया का तो गणित ही उसके विकास में बाधक था। दुर्भिक्ष आयोग के मुताबिक़ ओड़िसा की आबादी क़रीब बीस लाख थी। उसमें से अगर महिलाओं और बच्चों की संख्या घटा दी जाये तो संभावित साक्षर ओड़िया पाठकों की संख्या बचती थी लगभग बारह लाख। डॉ मित्र के अनुसार एक स्वतन्त्र ओड़िया साहित्य के पनपने के लिए यह संख्या बहुत कम थी। दूसरी ओर बांग्ला-भाषी लोग कहीं अधिक थे इसलिए बांग्ला साहित्य पढ़ने वाले ज़्यादा थे — अतः बांग्ला साहित्य अधिक विकसित था। 1868 की अन्तिम तिमाही में जहाँ बांग्ला में क़रीब तीन सौ किताबें छपी थीं वहीं ओड़िया में मात्र तीन या चार। राजेन्द्रलाल मित्र ने अपना फ़ैसला सुना दिया — ओड़िया हटाकर बांग्ला लाना ही ओड़िसा के लोगों के हित में था। राजेन्द्रलाल मित्र की निगाह में मुख्य मुद्दा ये नहीं था कि ओड़िया एक स्वतन्त्र भाषा है या नहीं। उनके लिए यह सभ्यता के विकास का सवाल था जो एक पिछड़ी भाषा से चिपके रहने से मुमकिन ही नहीं था। उनके तर्कों से बांग्ला-समर्थक गुट खुश हुआ और वे सरकारी अधिकारी भी जो प्रशासनिक कारणों से बांग्ला के पक्ष में थे।

बांग्ला के पक्षधरों ने भाषाओं की संख्या के मुद्दे को उन दिनों बनती हुई राष्ट्रीय पहचान से भी जोड़ दिया। कहा गया कि अनेक भाषाओं का प्रयोग एकीकृत राष्ट्रीय पहचान के बनने में बाधक है। 12 सितम्बर 1873 को *मॉडर्न रिव्यू* में छपे एक निबन्ध में राजेन्द्रलाल मित्र ने तर्क दिया कि सरकार द्वारा ओड़िया और असमिया जैसी भाषाओं को प्रोत्साहन दिये जाने से लोग अनावश्यक रूप से बँट जायेंगे। उन्होंने कहा कि चूँकि ओड़िसा, बंगाल और असम में प्रचलित भाषाओं को बोलने में व्यवहार में बहुत कम फ़र्क़ था, इसलिए इन भाषाओं के आपसी फ़र्क़ को काफ़ी आसानी से दूर किया जा सकता था। बक़ौल डॉ. मित्र, 30 सितम्बर 1872 को जारी लेफ़्टिनेंट गवर्नर के आदेश में ओड़िया, असमिया और बांग्ला को अलग भाषाई दर्जा देकर सरकार ने भाषाई एकरूपता लाने का मौक़ा खो दिया था। इसी तरह के विचार केशब चन्द्र सेन ने भी व्यक्त किये। उन्होंने लिखा कि सरकार बांग्ला को बंगाल तक सीमित करके तीनो प्रांतों की भाषाई एकता की संभावना को समाप्त करना चाहती थी। बाद में रबीन्द्र नाथ टैगोर ने भी यही महसूस किया। उन्होंने लिखा कि हालाँकि एकीकरण की प्रक्रिया ब्रितानी शासन की स्वाभाविक उपज थी किन्तु वह फूट डाल कर राज करो की नीति भी अपना रहा था। सरकार ओड़िसा और असम से बांग्ला भाषा को बहिष्कृत करके वहाँ की बोलियों को कृत्रिम तरह से मज़बूत बना रही थी। ऐसे विचारों की ओड़िसा में भी भरमार थी। एक स्थानीय अख़बार *बिदेशी* का मानना था कि बंगालियों और ओड़ियाओं के बीच तनाव के

पीछे 'पॉलिसी' नामक एक अंग्रेज़ चुड़ैल थी जो कैम्पबेल की हाल में जन्मी बेटी थी और लॉर्ड आर्गाइल की दुलारी भतीजी थी।[7]

1870 में एक पुस्तिका छपी — *ओड़िया स्वतंत्र भाषा नौहे*।[8] इसके लेखक थे काँतिचन्द्र भट्टाचार्य जो बालेश्वर के एक स्कूल टीचर थे और डा. राजेन्द्रलाल मित्र को अपने संरक्षकों में गिनते थे। इस छोटी सी किताब में उस समय के तमाम भाषाई सिद्धान्तों और वैज्ञानिक तर्कों के सहारे यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी कि ओड़िया एक स्वतन्त्र भाषा न होकर महज़ बांग्ला का एक विकृत रूप थी। काँतिचन्द्र भट्टाचार्य ने ज़ोर देकर कहा कि बंगाल और ओड़िसा प्रदेशों में बुनियादी अन्तर नहीं था — न ऊँचे पहाड़, घने जंगल या समुन्दर या धर्म, रीति-रिवाज, तथा शैक्षणिक विकास का गहरा फ़र्क़। उन्होंने एक और मान्यता प्रस्तुत की। उनके अनुसार शुद्ध बांग्ला केवल कलकत्ता और उसके आस-पास बोली जाती थी और कलकत्ता से दूरी बढ़ने के साथ भाषा की शुद्धता घटती जाती थी। मसलन उत्तरी और पूर्वी बंगाल की बांग्ला कलकत्ता की शुद्ध बांग्ला का विकृत रूप थी। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए काँतिचन्द्र भट्टाचार्य ने पूछा कि बंगाल के दक्षिण में स्थित ओड़िसा की भाषा को भी बांग्ला का अशुद्ध संस्करण क्यों न माना जाये?

उनके अनुसार क़बीलों से नज़दीकी ओड़िया भाषा को 'अशिष्ट, कानफोड़ू और कुरूप' बनाती थी। भट्टाचार्य ने ओड़िया पाठ्य-पुस्तकों, अख़बारों और शब्दकोशों से उदाहरण देकर यह साबित करने का प्रयास किया कि बांग्ला और ओड़िया का साझा शब्दभंडार था। व्याकरण के स्वरूप में अन्तर के लिए पुरानी बांग्ला में आये बदलाव और क़बायली भाषाओं के असर को ज़िम्मेदार ठहराया गया। काँतिचन्द्र भट्टाचार्य के तर्कों की भाषाशास्त्रीय विश्वसनीयता भले ही कम रही हो लेकिन उनकी पुस्तिका की उस समय की पत्रिकाओं में ख़ूब चर्चा हुई। इसमें *Modern Review, Journal of the Asiatic Society of Bengal, The Education Gazette* तथा *उत्कल दीपिका* और *उत्कल हितैषिणी* शामिल थे। रंगलाल बंद्योपाध्याय, भूदेव मुखोपाध्याय और जॉन बीम्स ने पुस्तक पर टिप्पणियाँ कीं। काँतिचन्द्र भट्टाचार्य ने बांग्ला और ओड़िया के बीच समानता को रेखांकित करके अपने निष्कर्ष निकाले। बांग्ला के बेहतर होने को उन्होंने एक सहज और स्वाभाविक तथ्य माना और ओड़िया को बांग्ला का एक विकृत रूप बता कर उन्होंने उसे एक निम्न दर्जा प्रदान किया। साथ ही ओड़िया भाषा और समाज को विकास की सीढ़ी में नीचे रखकर उन्होंने ओड़िया लोगों के पिछड़े होने की छवि मज़बूत की। ओड़िया पर जनजातीय भाषाओं के प्रभाव की ओर बार-बार इशारा करके उन्होंने उसके एक सम्मानजनक आर्य भाषा होने के दावे पर प्रश्नचिन्ह लगा दिए। आने वाले वर्षों में इन सब का ओड़िया के विकास पर अहम असर पड़ा।

राजेन्द्रलाल मित्र और काँतिचन्द्र भट्टाचार्य के बाद ओड़िया की तुलना में बांग्ला को बेहतर बताने वाले अनेक लेख छपे। 1869 और 1870 में *उत्कल हितैषिणी* ने ऐसे कई लेख छापे। उसके संपादक ने एक लेख में कहा कि ओड़िसा तो बंगाल के राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व में पिछले सात सौ बरस से था। उनके अनुसार ओड़िसा तो सभ्यता के हर पहलू में बंगाल का ऋणी था। इस दावे को पुख़्ता करने के लिए अनेक 'ऐतिहासिक' तथ्य जुटाये गये। मसलन, ओड़िसा के मध्यकालीन महान गंग वंश के राजा मूलतः बंगाल से आये थे और बाद में बंगाली आक्रमणकारी काला पहाड़ ने ओड़िसा की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी। आर्थिक क्षेत्र में बंगाली संत चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव मत ने ओड़िसा में बौद्ध धर्म ख़त्म कर दिया। यही नहीं, यह भी कहा गया कि चैतन्य से पहले ओड़िया साहित्य लगभग शून्य था। और चैतन्य के वैष्णववाद से ही मध्यकालीन ओड़िया साहित्य पनपा।[9] अतः बांग्ला की बेहतरी के दावों को ऐतिहासिक जामा पहनाने के प्रयास होने लगे।

कटक स्टार में छपे एक लम्बे लेख में उमाचरण हालदार ने ओड़िया को बांग्ला लिपि में लिखने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि बांग्ला लिपि देखने में अधिक सुन्दर थी जबकि ओड़िया बदसूरत और असुविधाजनक। हालदार ने लिखा कि अगर काग़ज़ और स्याही ओड़िसा में बंगाल से आयात किये जा रहे थे तो लिपि आयात करने में क्या हर्ज हो सकता था?[10] इसके साथ ही ओड़िसा के स्कूलों में बांग्ला को पुनः लाने के लिए एक हस्ताक्षर अभियान छेड़ा गया। बांग्ला तो ओड़िसा के स्कूलों और कचहरी में आधिकारिक तौर पर आयी नहीं किन्तु ओड़िया बनाम बांग्ला विवाद की आग धधकती रही।

ओड़िया की स्वतन्त्र पहचान की हिमायत करने वालों के लिए यह ज़रूरी था कि वे यह साबित करें कि ओड़िया

बांग्ला से कितनी भिन्न थी। 'बांग्ला-समर्थक गुट' के भाषाई और संख्या पर आधारित दावों का जवाब देने वाले सामने आये। इनमें अग्रणी थे गौरीशंकर राय जिन्होंने राजेन्द्रलाल मित्र और उनके सहयोगियों के प्रत्युत्तर में अपने तर्क रखे। राय ने कहा कि ओड़िया भाषा उत्तर के मिदनापुर से लेकर दक्षिण में गंजाम और पूर्व में बंगाल की खाड़ी के पश्चिम में सम्बलपुर तक बोली जाती थी। यह क्षेत्रफल राजेन्द्रलाल मित्र के बखान किये गये ओड़िया-भाषी इलाक़े से कहीं अधिक बड़ा था। दूसरे ओड़िया और बांग्ला के छपे साहित्य की आपसी तुलना अनुचित थी क्योंकि ओड़िया का छपा साहित्य अपने शैशव-काल में था और समय के साथ बांग्ला के समकक्ष हो जायेगा, बशर्ते उस पर पर्याप्त ध्यान दिया जाये। *उत्कल दीपिका* ने स्टर्लिंग जैसे औपनिवेशिक विद्वानों को उद्धृत करके कहा कि मध्यकालीन ओड़िसा के गंग-वंशीय राजा वास्तव में बंगाल से नहीं बल्कि दक्षिण से आये थे।[11]

अनेक लेखों में बांग्ला संस्कृति और लिपि के बेहतर होने के दावों को खोखला ठहराया गया। बांग्ला के जाने-माने विद्वान और कवि रंगलाल बंद्योपाध्याय ने ओड़िसा के लोगों पर बांग्ला भाषा या उसकी लिपि थोपने का विरोध किया। गौरी शंकर राय ने लिखा कि बांग्ला-समर्थक काँतिचन्द्र भट्टाचार्य ने अपना सारा प्रमाण हाल में छपी ओड़िया पुस्तकों से जुटाया था जो बांग्ला-पुस्तकों के अनुवाद थे। उन्होंने कहा कि ओड़िया के पारंपरिक ग्रंथों से उसकी पृथक पहचान और मौलिकता का पता चलता है। राय ने अनेक देशज शब्दों का हवाला देकर कहा कि ऐसे शब्द बांग्ला में अज्ञात थे और यह ओड़िया के स्वतन्त्र भाषाई दर्जे को सिद्ध करता था। इसी प्रकार के कई और तर्क एक औपनिवेशिक अधिकारी जॉन बीम्स ने दिये। उन्होंने कहा कि ओड़िया-भाषी लोगों की कम संख्या ओड़िया को हटाने का आधार नहीं बन सकता था क्योंकि युरोप में डच, स्पेनी और पुर्तगाली जैसी भाषाएँ बोलने वालों की तादाद भी कम थी। और ओड़िया सिर्फ़ 'तटीय ज़िलों के बसे हुए सभ्य ज़िलों' की भाषा न होकर उन असंख्य जनजातीय लोगों की भाषा भी थी जो पश्चिम में नागपुर और दक्षिण में तेलंगाना प्रदेश तक फैले हुए थे।[12]

बीम्स के अनुसार इस विशाल क्षेत्र में ओड़िया ग़ैर-आर्य बोलियों की जगह लेती जा रही थी और उन इलाक़ों को सभ्य बनाने का काम बांग्ला से बेहतर कर रही थी। यहाँ ये ग़ौरतलब है कि बीम्स ओड़िया भाषी लोगों में एक आंतरिक एकरूपता या एकता की वकालत कर रहे थे जबकि बांग्ला-समर्थक बांग्ला को पूर्वी भारत के विभिन्न भाषाई खण्डों को जोड़ने वाली भाषा की भूमिका प्रदान कर रहे थे। उधर बीम्स ने ओड़िया बोलने वालों में ग़ैर-आर्य क़बायली लोगों को शामिल कर ओड़िया राजनीतिक हितों को पुष्ट करने की दिशा में अपना योगदान दिया। बीम्स ने स्पष्ट कहा कि ओड़िया, बांग्ला की अपेक्षा पुरानी और अलग भाषा हैः

> अगर केवल भाषाशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये तो इसमें कोई संदेह नहीं कि ओड़िया के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के होने का अच्छा ख़ासा प्रमाण है। उपेन्द्र भंज और उसके समकालीनों की कविताएँ जिस भाषा में लिखी गयीं वह आज बोली जाने वाली भाषा से बिल्कुल अलग नहीं है और उसका हर शब्द मामूली से मामूली मज़दूर आज भी समझ लेता है... इसके स्वरूप अपरिवर्तित रहे हैं और पुरानी से पुरानी बांग्ला या हिन्दी से पुराने हैं। जब ओड़िया भाषा ने अपना स्वरूप ग्रहण कर लिया था बांग्ला तो तब थी ही नहीं... तब बंगाल के निवासी पुरबिया हिन्दी के अनेक बिगड़े रूप बोलते थे। जिसे हम बांग्ला भाषा कह सकते हैं उसका इस्तेमाल तो हाल ही में होना शुरु हुआ है।[13]

बीम्स ने ओड़िया के चरित्र को अपनी तरह से गढ़ा। उन्होंने ओड़िया की स्वतन्त्र पहचान को उसके पुरानेपन और रूढ़िवादी स्वभाव में खोजा। उन्होंने ओड़िया को इंडो-आर्य भाषा समूह में एक अपवाद मान कर उसे कहीं अधिक एकरूपता से नवाज़ा। एक अन्य औपनिवेशिक लेखक ग्रिएर्सन भी मानते थे कि ओड़िया भाषा की उपभाषाएँ बहुत कम थीं, सिवा मध्य भारत में प्रयुक्त भत्री के, जो एक अपवाद थी।[14] अनेक औपनिवेशिक टिप्पणीकारों की नज़र में ओड़िया क्षेत्र का अलग-थलग होना और 'पिछड़ापन' उसकी भाषा को 'सरल' या 'कम जटिल' बनाये रखने का कारण था। ओड़िया की स्वतन्त्र पहचान, पुरानापन या उसकी 'ऐतिहासिकता' के औपनिवेशिक

तर्क ओड़िया राष्ट्रवादियों को बहुत भाये। बीम्स और रैवेन्शॉ को ओड़िया आंदोलन में नायक का दर्जा हासिल हुआ। दूसरी तरफ़ आरंभिक ओड़िया राष्ट्रवादियों की ब्रितानी शासकों के प्रति वफ़ादारी भी कुछ हद तक भाषा-विवाद से समझी जा सकती है।

ओड़िसा में औपनिवेशिक शासन जिन विशिष्ट परिस्थितियों में शुरु हुआ उन्होंने भी ओड़िया भाषा की स्वतन्त्र पहचान को संदेहास्पद बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। औपनिवेशिक भाषाशास्त्रीय और प्रशासनिक प्रयासों ने देशज भाषाओं को ख़ास तरह से व्यवस्थित बना कर उनकी रूपरेखा तय की। भाषाओं को परिभाषित करने, उनके मानकीकरण और शब्दकोशों, व्याकरण तथा आधिकारिक शब्दावलियों के इस्तेमाल ने देशज भाषाओं के स्वरूप को नये रूपों में ढाला। भाषा के 'शुद्ध' रूप को निर्धारित करने की कोशिशें, बोलने वालों को गिनकर उनकी संख्या का पता लगाना और भाषाओं को विशेष क्षेत्रों से जोड़ कर देखने की प्रवृत्ति के दूरगामी परिणाम हुए।

आगामी दशकों में ओड़िया राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा जुटायी गयी जानकारी, जनगणनाओं और भाषा संबंधी विचारों में से चुन-चुन कर वह सब लिया जो ओड़िया राष्ट्रवाद के मज़बूत होने में सहायक था। इस प्रकार भाषा राजनीतिक चेतना का हिस्सा बनी। अन्ततः औपनिवेशिक राज्य ने ओड़िया को स्वतन्त्र दर्जा प्रदान तो किया किन्तु ओड़िया और बांग्ला के बीच रिश्ता तनावपूर्ण बना रहा।

अन्त में, ओड़िया पहचान के विकास पर भाषा-विवाद के प्रभाव के कुछ पहलुओं को स्पष्ट रेखांकित किया जा सकता है। पहली बात तो ये कि औपनिवेशिक प्रशासनिक सीमाओं ने बहुत महत्व हासिल किया। भाषा विवाद का सबसे अहम राजनीतिक परिणाम ये हुआ कि सभी ओड़िया-भाषी क्षेत्रों को एक प्रेसीडेंसी और बाद में पृथक ओड़िया प्रांत में गठित करने की माँग ज़ोर पकड़ती गयी। एक भाषा बोलने वालों को एक राजनीतिक या प्रशासनिक सीमा में रहना भी चाहिये — उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मज़बूत होते इस विचार के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं। पहला तर्क जो दिया गया वह ये था कि एकरूपता के लिए एक ही भाषा का प्रयोग एक प्रांत में होना चाहिए और दूसरा ये कि एक भाषा बोलने वालों को एक राजनीतिक इकाई में गठित करने के लिए राजनीतिक और प्रशासनिक सीमाओं को ज़रूरत अनुसार बदल देना चाहिए। इस संदर्भ में ओड़िया को स्वतन्त्र भाषा मनवाने के प्रयास अर्थवान हो जाते हैं। एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में ओड़िया की विश्वसनीयता स्थापित करना इसलिए ज़रूरी था ताकि ओड़िया समाज एक पृथक भौगोलिक इकाई के लिए अपना राजनीतिक दावा पेश कर सके। इस दावे में यह विचार निहित था कि विगत में एक नैसर्गिक ओड़िया समुदाय मौजूद था। इस समुदाय की एक आधुनिक राष्ट्र की दिशा में 'स्वाभाविक' प्रगति की राह में ओड़िया-भाषी लोगों के बीच उत्पन्न भौगोलिक विभाजनों को 'अप्राकृतिक' अवरोध माना गया। अतः ओड़िया-भाषी क्षेत्रों की भौगोलिक एकता हासिल करना नैसर्गिक अवस्था को बहाल करने के रूप में देखा गया।

इस प्रक्रिया का एक अन्य पहलू भी चर्चा योग्य है। ओड़िया-पहचान की बहस में संख्याओं का बहुत महत्व था।[15] संख्या जितनी बड़ी होगी लक्ष्य को उतनी ही वैधता प्राप्त होगी। पहचान की राजनीति की यह माँग थी कि ओड़िया-भाषी लोगों की संख्या को बड़ी से बड़ी सिद्ध किया जाये। तमाम जनजातीय लोगों को 'ओड़िया' के अधीन यह तर्क देकर लाया गया कि उन्हें 'सभ्य' बनाने के लिए ओड़िया से बेहतर कोई अन्य 'आर्य' भाषा नहीं थी। जनजातीय समुदायों को इन ओड़िया समर्थकों ने उसी हेय दृष्टि से देखा जिससे बांग्ला के हिमायती ओड़िया-भाषी लोगों को देखते थे। भाषा को नस्ल, धर्म, जाति, सभ्यता और काल्पनिक सामूहिक ऐतिहासिक स्मृति के ताने-बाने में बुना गया और साथ ही भाषा की छाप वस्तुतः इन सब पर छोड़ी गयी।[16] भाषा को एक अनोखी सांस्कृतिक वस्तु का दर्जा दिया गया, यह मान कर कि भाषा लोगों की चेतना को निर्णायक तौर पर प्रभावित करती है। समुदाय के अन्य सांस्कृतिक आयामों में भाषा ऊपर उठा दी गयी। ओड़िया समुदाय की 'विलक्षण' अथवा 'निराली' पहचान का सर्वाधिक बोझ 'भाषा' के कंधों पर डाल दिया गया। और भाषा राष्ट्रवाद की लड़ाई में ब्रह्मास्त्र बनी।

संदर्भ

1. विवरण के लिए देखें मेरा शोध प्रबंध *द मेकिंग ऑफ़ ए कल्चरल आइडेंटिटीः लैंग्वेज, लिटरेचर ऐण्ड जेंडर इन ओड़िसा इन लेट नाइन्टीन्थ ऐण्ड अर्ली ट्वेन्टिएथ सेन्चुरीज़*, इतिहास विभाग, स्कूल ऑफ़ ओरिएन्टल ऐण्ड अफ़्रीकन स्टडीज़, लंदन विश्वविद्यालय, 1997. इस लेख में सहयोग के लिए मैं संजय शर्मा की आभारी हूँ.
2. उत्कल *दीपिका*, 26 मई 1867. देखें निवेदिता मोहन्ती, *ओड़िया नैशनलिज़्मः क्वेस्ट फ़ॉर ए यूनाइटेड ओड़िसा 1866-1936*, दिल्ली, 1982, पृ. 25-26.
3. *उत्कल दीपिका*, 26 मई 1867.
4. *वही*
5. टू बैचर्ल्स ऑफ़ आर्ट्स, *द ओड़िया मूवमेंटः बीइंग अ डिमाण्ड फ़ॉर यूनाइटेड ओड़िसा*, आस्का, 1919 पृ. 2.
6. *उत्कल दीपिका*, 16 जनवरी 1869.
7. *बिदेशी*, 15 नवम्बर 1873.
8. काँतिचन्द्र भट्टाचार्य, *ओड़िया स्वतंत्र भाषा नौहे*, कलकत्ता, 1870.
9. निबन्ध का सारांश और उसके तर्कों का खंडन *उत्कल दीपिका*, 16 अप्रैल 1870 में छपा.
10. *उत्कल दीपिका*, 10 जुलाई 1869.
11. *उत्कल दीपिका*, 14 अगस्त 1869.
12. जॉन बीम्स, *ए कम्पैरेटिव ग्रामर ऑफ़ द मॉडर्न आर्यन् लैंग्वेजेज़ ऑफ़ इंडिया, खण्ड 1*, लंदन 1872, पृ. 118-9.
13. बीम्स, *वही*
14. जी. ए. ग्रिएर्सन, *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया भाग V*, कलकत्ता, 1870, पृ. 375.
15. इस संदर्भ में देखें, अर्जुन अप्पादुरई का लेख 'नम्बर इन द कोलोनियल इमैजिनेशन', कैरोल ए. ब्रेकेनरिज और पीटर वैन डर वियर (संपा.), *ओरिएन्टलिज़्म ऐण्ड द पोस्टकोलोनियल प्रेडिकामेंट*, फिलाडेल्फ़िया, 1993, पृ. 314-39.
16. बेनेडिक्ट ऐण्डर्सन, *इमैजिंड कम्युनिटीज़ः रिफ़्लेक्शन्स ऑन द ओरिजिन ऐण्ड स्प्रैड ऑफ़ नैशनलिज़्म*, लंदन, न्यूयॉर्क, 1983; निकोलस बी. डर्क्स (संपा.), *कोलोनियलिज़्म ऐण्ड कल्चर*, मिशिगन, 1992; बी. एस. कोह्न, 'द कमाँड ऑफ़ लैंग्वेज ऐण्ड द लैंग्वेज ऑफ़ कमाँड', रणजीत गुहा (संपा.) *सबॉल्टर्न स्टडीज़*, IV, दिल्ली, 1985.

रूपांतर/अनुवादः संजय शर्मा

हिन्दी में कवर ड्राइव

भूमंडलीकरण के दौर में युयुत्सु क्रिकेटीय राष्ट्रवाद

अभय कुमार दुबे

नगाड़े बजाइये, शंख फूँकिये और जय-जयकार कीजिये। फिर अपने
निजी और सामूहिक धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाइये
और उसकी टंकार से दिग-दिगंत गुँजा दीजिये।

— प्रभाष जोशी

खेल से हर क़ीमत पर दुर्भाव पैदा होता है और उसका ईमानदारी से
कोई ताल्लुक़ नहीं है। उसमें घृणा, ईर्ष्या, शेख़ीख़ोरी, हर नियम
की उपेक्षा और हिंसा को देखने में परपीड़क जैसा सुख भरा
हुआ है। खेल गोलीबारी से रहित युद्ध ही है।

— जॉर्ज ऑरवेल

1.

पहले कवर ड्राइव हिन्दी में नहीं सिर्फ़ अंग्रेज़ी में लगा करता था। जब रेडियो ने 1933 में पहली बार क्रिकेट मैचों का आँखों देखा हाल सुनाना शुरु किया तो हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा की कमेंटरी का दूर-दूर तक पता नहीं था। इसके साल भर पहले ही भारत ने अपना पहला टेस्ट मैच खेला था। चालीस और पचास के दशक तक यही चलता रहा। टेस्ट मैच होते रहे और क्रिकेट का समाजशास्त्र भी उसी मंद और अनिर्णय की शिकार गति से आगे बढ़ता रहा। साठ के दशक में जब पहली बार हिन्दी में कवर ड्राइव लगा तो गेंद इतनी तेज़ी के साथ बाउंडरी की तरफ़ भागी कि देखते-देखते सिर्फ़ तीस साल में उसे पार करके सीएलआर जेम्स की भाषा में 'बाउंडरी के परे' किसी अज्ञात स्पेस में चली गयी। उस गेंद को क्षेत्ररक्षक खिलाड़ी आज तक ढूँढ कर नहीं ला पाये हैं। अस्सी के दशक में आशीष नंदी ने काफ़ी कोशिश की कि वे सामाजिक और व्यक्तिगत मनोविज्ञान के आतिशी शीशे से उसे खोज निकालें। लेकिन इससे पहले कि वे क्रिकेट को अंग्रेज़ों द्वारा खोजे गये एक भारतीय खेल के

रूप में स्थापित कर पाते और इससे पहले कि यह खेल उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ सांस्कृतिक प्रतिरोध के एक माध्यम के रूप में चिन्हित हो पाता, नब्बे के दशक में हिन्दी पत्रकारिता और टेलीविज़न के उपग्रही चैनलों ने सूचना दी कि यह गेंद नवोदित भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र दायरों में पड़ी हुई है और जिन लोगों को असल में उसे वापस खेल के मैदान में लाने की ज़िम्मेदारी निभानी चाहिये थी वे उसे दृढ़तापूर्वक वहीं रखने पर आमादा हैं, भले ही उससे अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी का ही स्वार्थ क्यों न सिद्ध हो रहा हो।

क्रिकेट का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक-सामाजिक आख्यान लिखने वाले ट्रॉट्स्कीवादी चिंतक सीएलआर जेम्स ने कैरिबियन संदर्भों में कहा था कि वेस्ट इंडीज़ के बल्लेबाज़ों ने क्रिकेट के सौंदर्यशास्त्र में ड्राइव के बजाय कट को स्थापित करके उन दास मालिकों की परियोजना को भीतर से उलट दिया जो अपने पूर्व ग़ुलामों पर क्रिकेट के ज़रिये औपनिवेशिक संस्कृति का ठप्पा लगाना चाहती थी। ड्राइव बल्ले के ऊपर से नीचे आते हुए प्रवाहपूर्ण अर्धवृत्ताकार प्रहार के लिए जाना जाता है। अच्छा ड्राइव वह होता है जिसमें बल्ला गेंद को हिट करने के बाद भी वृत्त को पूरा करते हुए बल्लेबाज़ के दूसरे कंधे के ऊपर से वापसी में निकल जाये। जबकि कट क्षैतिज बल्ले से खेला जाता है। वह एक आघात की तरह है और उसमें बल्ले की अधूरी वापसी ही होती है। जेम्स ने जो भी समझ कर लिखा हो, लेकिन ड्राइव एक तरह से स्तंभीय संरचना है और कट क्षैतिज। समाज विज्ञान की दुनिया में स्तंभीय संरचनाएँ आमतौर पर ऊँच-नीच की और क्षैतिज संरचनाएँ अपेक्षाकृत समतामूलक प्रवृत्तियों की वाहक मानी जाती हैं। इस लिहाज़ से हिन्दी में कवर ड्राइव का रूपक एक विशेष तात्पर्य से संपन्न हो कर सामने आता है।

मेरे लिए इस रूपक का जन्म कैसे हुआ, इसकी एक छोटी-सी कहानी है। क़रीब पाँच साल पहले हिन्दी के विख्यात कवि विष्णु खरे को विट्ठलभाई पटेल हाउस के सभागार में रघुवीर सहाय पुरस्कार दिया जा रहा था। वहाँ उपस्थित कवियों, लेखकों और अन्य साहित्यकारों ने ताज्जुब से देखा कि खरे अपने साथ एक बल्ला ले कर आये हैं। जब वे अपनी कविताओं का पाठ करने लगे तो बीच में उन्होंने बताया कि अपनी कविता 'कवर ड्राइव' का पाठ करने से पहले वे उपस्थित श्रोताओं के सामने क्रिकेट के इस स्ट्रोक का प्रदर्शन करना चाहेंगे। विष्णु खरे का ख़याल था कि जब तक कवर ड्राइव की सौंदर्यानुभूति से श्रोताओं की सीधी वाक़फ़ियत नहीं होगी तब तक वे कविता का पूरा आनंद नहीं उठा पायेंगे। इसके बाद खरे मंच से उतरे और उन्होंने कवर ड्राइव मार कर दिखाया और उस ख़ास तरह के शारीरिक संतुलन और प्रवाह की व्याख्या की जो इस स्ट्रोक के लिये ज़रूरी होता है। विष्णु खरे की क्रिकेट संबंधी कविताएँ 'स्कोर बुक', 'कवर ड्राइव' और 'सिंगल विकेट सीरीज' हिन्दी साहित्य की अनूठी उपलब्धि हैं। 'सिंगल विकेट सीरीज' मुझे विशेष तौर पर प्रिय है। शिल्प के स्तर मुझे हर बार इसके ज़रिये पास्तरनाक की कविता 'दोबारा वसंत' की याद आ जाती है। हिन्दी पत्रकारिता और टीवी द्वारा खेल पर आरोपित युयुत्सा के विपरीत यह कविता बताती है कि क्रिकेट का कभी ऐसी भद्र दुनिया से भी ताल्लुक़ हुआ करता था जिसमें आप अपने विपक्षी को अपने मानस का ही एक अंग मान सकते थे। वह आपके कंधे पर आश्वस्तिदायक हाथ रख सकता था और आप कह सकते थेः वेल बोल्ड सर!

हिन्दी कविता में क्रिकेट के प्रवेश का यह अनायास उत्सव जिन दिनों हो रहा था तक़रीबन उन्हीं दिनों हिन्दी के ज़रिये क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की इबारत बन रही थी। इसमें पाकिस्तान विरोध, खेल के ज़रिये हिंसा, कारगिल युद्ध, मैदान में होने वाले रक्तपात, हिसाब चुकाने, बदला लेने, पीट देने, ठोक डालने, रौंद देने, सरफ़रोशी और क़यामत की छवियों को सीधी अभिव्यक्ति देने वाली शब्दावली का खुल कर इस्तेमाल हो रहा था। युद्ध और क्रिकेट के खेल का सीधा संबंध स्थापित हो चुका था। फ़ुटबॉल के संदर्भ में ऑरवेल ने बिना गोलाबारी के जिस युद्ध के रूप में आधुनिक खेलों की आलोचना की थी, भारतीय उपमहाद्वीप और यहाँ खेले जाने वाले क्रिकेट के संदर्भ में उनका कथन कहीं ज़्यादा साकार होता हुआ लग रहा था। ख़ास बात यह है कि इस परिघटना के वाहक कोई संघ परिवार के बुद्धिजीवी या पैरोकार ही नहीं थे, इसमें क्रिकेट के सामान्य प्रेमियों से लेकर निष्पक्ष समझे जाने वाले पत्रकारों के लेखों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा बनाये गये टीवी प्रसारण के पैकेजों की भी स्पष्ट भूमिका थी। हिन्दी के प्रतिष्ठित दैनिक समाचार पत्र *जनसत्ता* के कॉलम और उनमें नियमित रूप से छपने वाले उसके प्रधान संपादक प्रभाष जोशी (संप्रति सलाहकार संपादक) के लेखों, समीक्षाओं, भावोद्गारों, संस्मरणों और रपटों को इस सिलसिले में एक प्रतिनिधि

मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है। दूसरी मिसाल के रूप में ईएसपीएन पर हिन्दी के क्रिकेट प्रसारण पर नज़र दौड़ाई जा सकती है।

जनसत्ता के संस्थापक-संपादक के रूप में प्रभाष जोशी को श्रेय जाता है कि उन्होंने अस्सी के दशक की शुरुआत में एक नये अख़बार को परिकल्पित करते हुए राष्ट्रीय जीवन में खेल-कूद के महत्त्व का ध्यान रखा, वरना पहले होता यह था कि हिन्दी पत्रकारिता में खेल पक्ष को ग़ैर-गंभीर समझा जाता था। अज्ञेय ने *दिनमान* की कल्पना करते समय खेल के साथ ऐसा ही सुलूक किया था और अपने ऊपर शोध करने वाले एक छात्र (योगराज थानी) को खेल डेस्क का इंचार्ज बना कर हिन्दी में खेल पत्रकारिता के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया था। हिन्दी पत्रकारिता पर साहित्यकारों के हावी होने के कुछ दुष्परिणामों में से एक यह भी था। ये साहित्यकार-संपादक हिन्दी पत्रकारिता को एक अलग और स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित नहीं कर पाये। पत्रकारिता से अपनी रोज़ी कमाने वाले साहित्यकारों ने उसे हमेशा दोयम दर्जे का काम समझा। इसके विपरीत प्रभाष जोशी ने सक्षम खेल पत्रकारों को चुनकर *जनसत्ता* की मज़बूत खेल डेस्क बनायी और उन्हें वाहन भत्ता दे कर हिन्दी में स्वतंत्र खेल रिपोर्टिंग की नींव डाली। उन्होंने दैनंदिन खेल पृष्ठ के साथ-साथ हफ़्ते में एक पन्ने का खेल-परिशिष्ट भी शुरु किया। खुद भी बड़े पैमाने पर क्रिकेट और टेनिस पर लेखन किया और दूसरों को भी प्रोत्साहित किया। विश्व कप की रिपोर्टिंग के लिए विदेश यात्राओं पर गये। इससे पहले हिन्दी पत्रकारिता में यह सब नहीं होता था। वे एशियाड और ओलंपिक में भारतीयों के न जीत पाने की समस्या से भी जूझे और एक दिलचस्प सवाल उठाया कि भोजन और मैथुन के अलावा पसीने-पसीने हो कर उछलने-कूदने के शारीरिक आनंद को भारतीय मानस मान्यता क्यों नहीं देता? ज़ाहिर है कि उनके इस सवाल के एक पहलू में शारीरिक व्यायाम की संस्कृति स्थापित करने का वह आग्रह छिपा हुआ लगता था जो पश्चिमी उपनिवेशवाद अक्सर पूर्वी समाजों पर आरोपित करने की कोशिश करता रहा है। वियतनाम, कोरिया, मलेशिया, जापान, सिंगापुर और फ़िलिस्तीन को लेकर किये गये अध्ययन इसके गवाह हैं। लेकिन प्रभाष जोशी ने भारतीय संस्कृति के भीतर मौजूद शारीरिक व्यायाम की संस्कृति के सुप्त रूपों की तरफ़ भी इशारा किया और यह माना कि राजनीतिक पराजयों और समाज के वर्णवादी विभाजनों के कारण संभवतः भारतीयों की रुचि इहलोक के बजाय परलोक में ज़्यादा होती चली गयी। कुल मिलाकर खेलों के बहाने उनकी यह टिप्पणी भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक आलोचना ही थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके और उनके अख़बार से ज़्यादा खेलप्रेमी हिन्दी पत्रकारिता में कोई दूसरा आज तक नहीं हुआ। खेलों (ख़ासकर क्रिकेट) के प्रति अपनी निजी दीवानगी की वे अनगिनत बार *जनसत्ता* के पाठकों को जानकारी दे चुके हैं। जितनी उत्कटता से वे आतंकवाद और सांप्रदायिकता पर लिखते हैं, उतनी ही शिद्दत के साथ वे खेलों पर भी क़लम चलाते हैं। उनके इस लेखन के प्रशंसकों की संख्या बहुत है और यह भी माना जाता है कि उन्होंने क्रिकेट और टेनिस पर लेखन के ज़रिये एक नवीन हिन्दी मुहावरा विकसित किया।

'जनसत्ता' और प्रभाष जोशी के उदाहरण को चुनने से क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की ताक़त और उसके गहन अर्थों का खुलासा ज़्यादा आसानी से हो सकता है क्योंकि यह अख़बार हिन्दी पत्रकारिता में सबसे गंभीर, राजनीति-उन्मुख और व्यवस्था विरोधी माना जाता है। इसमें छपने वाले विचार-साहित्य में आधुनिक पूँजीवाद के भूमंडलीय रूपों की मुखर आलोचना होती है, बार-बार गाँधीवाद का हवाला दिया जाता है और संघ परिवार के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आपत्तिजनक बता कर आड़े हाथों लिया जाता है। देखने की बात यह है कि खेलों से निर्मल आनंद की अपेक्षा रखने वाले हिन्दी के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और वरिष्ठ पत्रकार के क्रिकेट, ख़ासकर भारत-पाक की होड़ पर नब्बे के दशक के लेखन में बदला, खुंदक, हिसाब चुकाने और युद्ध की वही हाहाकारी ध्वनियाँ कहाँ से उभरीं जिन्हें रूपर्ट मरडॉक के स्पोर्ट्स चैनल ईएसपीएन ने विशुद्ध मुनाफ़ा कमाने के लिए टीवी दर्शकों के सामने परोसा। क्रिकेटीय राष्ट्रवाद पर विचार करते समय बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उपभोक्ता क्रांति की भूमिका पर विचार करना भी ज़रूरी हो जाता है। समकालीन भारतीय समाज में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के इन वर्चस्व-वाहकों ने क्रिकेट के खेल को कामनाओं के व्यापार से कुछ इस तरह जोड़ दिया है कि उग्र राष्ट्रवाद अपने धनकुबेर प्रायोजकों की अस्मिता के साथ एकाकार हो कर वक़्त का स्वाभाविक मुहावरा ही बन गया है।

2.

क्रिकेट: उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रवाद

क्रिकेट की विकसित होती हुई सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक भूमिका पर निगाह रखने वाले लगभग सभी समीक्षक कम से कम निम्नलिखित बातों पर सहमत हैं:

>> क्रिकेट का आनंद पूरी तरह उठाने के लिए ज़रूरी है कि आप क्रिकेट के बारे में ही नहीं, उसके अलावा भी कुछ जानते हों। विख्यात क्रिकेटविज्ञ नेविल कार्डस के इस कथन पर आधारित मान्यता इस खेल को उसकी तकनीकी और ऐंद्रिक अनुभूतियों के दायरे से निकाल कर एक अधिक व्यापक सामाजिक धरातल पर ले जाती है।

>> आशीष नंदी इसमें दूसरी मान्यता जोड़ते हैं कि क्रिकेट एक ऐसा खेल है जो अपने नैसर्गिक चरित्र के बारे में कम और अपने व्याख्याता के बारे में ज़्यादा जानकारी देता है। मनोविज्ञान की भाषा में नंदी इसे प्रोजेक्टिव टेस्ट कहते हैं। उनके अनुसार क्रिकेट ने उपनिवेशवाद के शिकार समाजों को मौक़ा दिया कि वे उपनिवेशवादियों को उन्हीं के मूल्यों की कसौटी पर कस कर देखें। और जब इन समाजों ने देखा कि औपनिवेशिक प्रभु इस परीक्षा में खरे नहीं उतर पा रहे हैं तो क्रिकेट ने सांस्कृतिक वर्चस्व का वाहक बनने के बजाय सांस्कृतिक प्रतिरोध के माध्यम की भूमिका ग्रहण कर ली।

>> नेविल कार्डस और नंदी की धारणाओं से नतीजा निकाला जा सकता है कि इस तरह के राष्ट्रवाद की प्रमुख अभिव्यक्ति की तरह क्रिकेट में उभरने की संभावनाएँ पैदा हुई होंगी। इसी तर्ज़ पर अर्जुन अप्पादुरै क्रिकेट को भूमंडलीकरण की सांस्कृतिक समीक्षा का प्रभावी माध्यम मानते हुए निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतीय संदर्भों में देशी भाषाओं से उसकी अन्योन्यक्रिया होते ही यानी बहुभाषी होते हुए ही यह औपनिवेशिक विरासत नहीं रह गया। आगे चलकर यह खेल एक ऐसे राष्ट्रवाद का वाहक बना जो बहुराष्ट्रीय तमाशों और कामनाओं पर आधारित समाज के बाज़ारीकरण के लिए जनमानस तैयार करता है। वे इसे 'राष्ट्रवाद के कामशास्त्र' की संज्ञा देते हैं।

इन सारगर्भित प्रेक्षणों में यदि आधुनिक खेलों के बारे में एरिक हॉब्सबॉम का यह कथन जोड़ दिया जाये कि खेल राष्ट्रीय अस्मिताओं के वाहक होते हैं और आधुनिक राष्ट्रों की आक्रामकता उनके ज़रिये अभिव्यक्त होती है तो क्रिकेटीय राष्ट्रवाद के भारतीय आख्यान की आधारशिला पड़ते हुए देखी जा सकती है। इन मान्यताओं को क्रिकेट, राष्ट्रवाद, भूमंडलीकरण और भारतीय भाषाओं के अंतर्संबंध पर लागू करते ही तस्वीर साफ़ होने लगती है। इस बात के सुराग़ मिलने लगते हैं कि क्रिकेट को युद्ध का रूपक कैसे मिला। जो खेल भद्रता का प्रतिरूप माना जाता था और जिसे उपनिवेशवादियों ने भारतीयों को विक्टोरियाई क़िस्म की संयमित आक्रामकता का पाठ पढ़ाने के लिए सिखाया था वह पाकिस्तान-विरोध पर आधारित उग्र राष्ट्रवाद का वाहक कैसे बन गया?

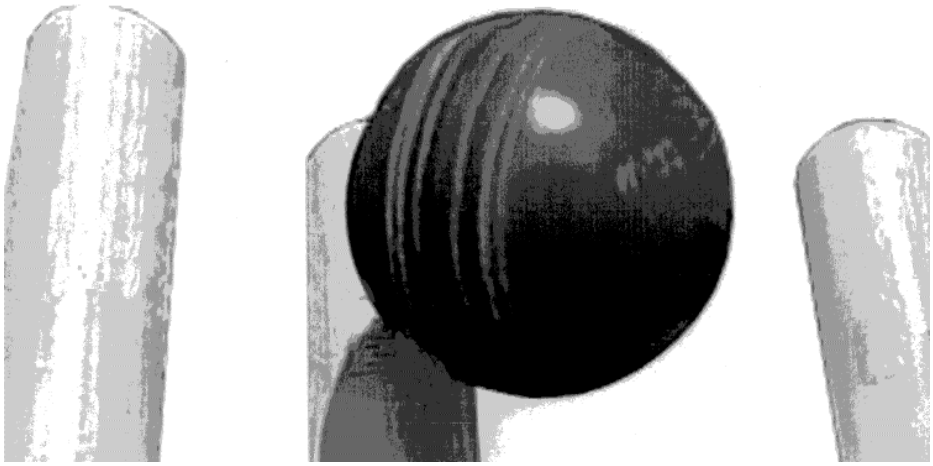

क्रिकेट का इतिहास बताता है कि उसके पास राष्ट्रवाद की ऐसी विरासत नहीं है जो आज़ादी के पहले से चली आ रही है। अंग्रेज़ों के ज़माने में भारतीय क्रिकेट ने ऐसा कोई कारनामा नहीं किया जो उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में कोई नया अध्याय जोड़ता हो। क्रिकेट के पास मोहन बागान की तरह राष्ट्रवाद का गौरव समझा जाने वाला कोई क्लब नहीं रहा। 1911 में ही बागान की नंगे पैर खेलने वाली एक टीम ने ईस्ट यॉर्कशायर रेजीमेंट की टीम को आईएफ़ए शील्ड के मैच में पराजित करके एक राष्ट्रवादी गौरवगाथा लिख डाली थी। इसके उलट क्रिकेट में भारतीयता का प्रवेश राष्ट्रीय आंदोलन के दायरों और कांग्रेस के प्रभाव से अलग पर्यावरण में हुआ। कांग्रेस के क्रिकेट से ताल्लुक़ के कुछ कमज़ोर से उदाहरण ही मिलते हैं। मसलन, कैसे आज के क्रिकेट-प्रशासक राजनेता एनकेपी साल्वे बचपन में अंग्रेज़ खिलाड़ियों के इस्तेमाल के लिए बनायी गयी पिच पर खेलने से किसी मिस्टर थॉमस द्वारा वंचित किये गये और कैसे उनके स्वतंत्रता सेनानी पिता ने हस्तक्षेप करके उन्हें उस पिच पर खेलने का अधिकार दिलाया। बहरहाल, क्रिकेट का स्वतंत्रता आंदोलन से कोई उल्लेखनीय संबंध कभी नहीं बन पाया। पुराने स्वतंत्रता सेनानी, गाँधीवादी और समाजवादी हमेशा क्रिकेट को व्यंग्य और उपेक्षा के साथ औपनिवेशिक अवशेष के रूप में ही देखते रहे। इन महानुभावों ने कभी नहीं माना कि भारतीयता के विकास का राष्ट्रवाद से भिन्न दायरा भी हो सकता है। क्रिकेटीय भारतीयता का विकास खेल के तकनीकी दायरों में ही होता रहा। वह भारतीयता सीके नायडू और मुश्ताक़ अली जैसे मध्यवर्ग के पुत्रों, लाला अमरनाथ और डीडी हिंडालकर जैसे खेतिहर-वंशजों, अमीर इलाही जैसे क़साई जाति के पिता की संतान और बालू पलवनकर जैसे दलित समाज के पुत्रों की खाँटी शैली की देन थी। इस भारतीयता का पहला प्रामाणिक विस्फोट आर्थर गिलगिन की एमसीसी टीम के मुक़ाबले नायडू के धुँआधार 153 रनों के ज़रिये हुआ।

अंग्रेज़ों के ज़माने में भारतीय क्रिकेट सामुदायिक, धार्मिक और जातीय आधार पर गठित क्लबों के बीच खेली जाती थी और उसे प्रायोजित करने वालों में देशी रियासतों की प्रमुखता थी। अंग्रेज़ों द्वारा प्रोत्साहित यह जातीय आधार उनके अपने क्रिकेट के सांगठनिक आधार से भिन्न था। इंग्लैंड का क्रिकेट 'कंट्री' और 'काउंटी' से बनने वाले आधुनिक राष्ट्र से जुड़ा हुआ था। आज़ादी ने भारतीय क्रिकेट के इस परिदृश्य को बदल दिया। क्रिकेट की नयी सांगठनिक संरचना ख़ासी राष्ट्रवादी क़िस्म की बनी। प्रांतीय बोर्डों का गठन, रणजी ट्रॉफ़ी के रूप में राष्ट्रीय चैंपियनशिप का प्रारंभ, ज़ोनल चैंपियनशिप के रूप में दिलीप ट्रॉफ़ी की शुरुआत और इस पूरे कार्य-व्यापार को नियंत्रित करने वाला एक क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड। यूँ तो क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड स्वायत्त थे लेकिन भारतीय राज्य ने क्रिकेट के विकास में सीधी दिलचस्पी ली। पब्लिक सेक्टर के स्टेट बैंक जैसे संस्थानों ने खिलाड़ियों को नौकरी दे कर प्रायोजित किया। निजी क्षेत्र भी इसी तर्ज़ पर आगे आया। उस ज़माने का निजी क्षेत्र सरकारी पूँजी पर निर्भर था और उसका चरित्र काफ़ी हद तक आज़ादी के पहले कांग्रेस को समर्थन करने वाले निजी क्षेत्र की तर्ज़ पर राष्ट्रीय बना हुआ था। क्रिकेट को लोकप्रिय जन-आयाम सत्तर के दशक में मिला जब भारत की टीम ने अपनी स्पिन चौकड़ी और गावस्कर की बल्लेबाज़ी के दम पर इंग्लैंड और वेस्ट इंडीज़ को उसकी धरती पर पराजित करके दिखाया। रेडियो ने हिन्दी की क्रिकेट कमेंटरी के माध्यम से इन जीतों का दूर-दूर तक प्रसार किया। इस बुनियाद पर उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रवाद के क्रिकेटीय पहलू की इमारत खड़ी की जा सकती थी। सत्तर तक आर्थिक राष्ट्रवाद का उत्तर-औपनिवेशिक विकास हो चुका था और उत्तर-औपनिवेशिक अवधि में राष्ट्रवाद की दूसरी क़िस्म के अंकुर फूटने वाले थे। क्रिकेट की पराजय को राष्ट्रीय पराजय मानने की पहली मिसाल तब सामने आयी जब इंग्लैंड और वेस्ट इंडीज़ को हराने वाली टीम इंग्लैंड से ही बुरी तरह हार कर लौटी। क्रिकेट प्रेमियों ने ग़ुस्से में आकर विजय का वह स्मारक तोड़ डाला जो उन्होंने इसी टीम के कारनामों के उपलक्ष्य में बनाया था।

यह कहा जा सकता है कि क्रिकेट में राष्ट्रीयता पर उग्रवाद और ख़ासकर पाकिस्तान-विरोधी राष्ट्रीयता काफ़ी देर से हावी हुई। 1965 में भारत-पाकिस्तान की फ़ौजें जब सीमा पर एक दूसरे के ख़िलाफ़ संघर्ष में उतरीं तो भारतीय टीम के कप्तान मंसूर अली ख़ाँ पटौदी और पाकिस्तानी टीम के कप्तान हनीफ़ मोहम्मद इंग्लैंड के ख़िलाफ़ यॉर्कशायर काउंटी में स्केयरबरो के मैदान में शेष विश्व की टीम की तरफ़ से खेल रहे थे।

अपने-अपने देशों में क्रिकेट के प्रतीक इन दोनों खिलाड़ियों ने दोनों सरकारों को एक संयुक्त टेलीग्राम भेजाः 'हमें भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ने का गहरा अफ़सोस है। (पर) क्रिकेट के मैदान पर एक मुश्तरका मक़सद हासिल करने के लिए हम एक हैं। हमें तहे दिल से उम्मीद है कि आप भी आपस में मिल कर एक दोस्ताना हल ढूँढ लेंगे।' ज़ाहिर है कि आज के क्रिकेटीय राष्ट्रवाद के माहौल में भारत और पाकिस्तान के खिलाड़ी मिलकर ऐसी कोई अपील नहीं कर सकते। आज तो कपिल देव, अजय जडेजा और कीर्ति आज़ाद जैसे खिलाड़ी बाल ठाकरे के साथ क़दम मिलाते हुए भारत-पाक क्रिकेट संबंधों को स्थगित कर देने के पैरोकार बने हुए हैं।

टेस्ट क्रिकेट जब तक खेल का एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय रूप बना रहा, क्रिकेट से राष्ट्रीय भावनाएँ आत्यंतिक रूप से नहीं जुड़ पायीं। टेस्ट क्रिकेट की संरचना में विजय एकमात्र मूल्य के रूप में कभी स्थापित नहीं रही। जीत और हार के साथ-साथ अनिर्णीत रहने की अधिक संभावना रहना टेस्ट मैच की ख़ास विशेषता मानी जाती थी। क्रिकेट के बुद्धिजीवियों ने खेल के इस पहलू के प्रति कभी शर्म या संकोच का प्रदर्शन नहीं किया बल्कि वे हमेशा इसे बनाये रखने पर बल देते रहे। फ़ुटबॉल के विपरीत टेस्ट धीमी गति से, भद्रता के साथ और खिलाड़ियों के शारीरिक संपर्क के बिना अक्सर बिना किसी फ़ैसले के पाँच दिन तक चलते रहते थे। इस तरह के खेल की कोई विश्व चैंपियनशिप भी नहीं हो सकती थी (आज भी अंतर्राष्ट्रीय क्रिकेट परिषद {आईसीसी} द्वारा आयोजित टेस्ट चैंपियनशिप को एक हास्यास्पद तमाशा ही माना जाता है)। इसके उलट आर-पार फ़ैसला कर देने वाले फ़ुटबॉल मैच में खिलाड़ी आपस में शारीरिक रूप से भिड़ते हुए युद्ध जैसा माहौल पैदा कर सकते थे। इसीलिए इंग्लैंड का क्रिकेट कभी आयरलैंड से युद्ध के प्रतीक का वाहक नहीं बन पाया जबकि वहाँ का फ़ुटबॉल 'नब्बे मिनट के राष्ट्रवाद' में परिवर्तित होता चला गया। इंग्लैड और आयरलैंड के बीच हुए फ़ुटबॉल के निर्मम मैच बिना गोलीबारी के युद्ध ही होते रहे हैं। फ़ुटबॉल के साथ इस बहस में क्रिकेट उस समय हार गया जब उसने एकदिवसीय मैचों की विश्व प्रतियोगिता आयोजित करने का फ़ैसला किया। एक दिन के क्रिकेट में जीत या हार सौ में से तक़रीबन सौ मौक़ों पर संभावित थी। अनिर्णय के पहलू के तिरोहित होते ही क्रिकेट का यह रूप आधुनिक राष्ट्रवादी मानसिकता के अनुकूल होता चला गया।

एकदिनी क्रिकेट में घटे पैकर प्रकरण ने खेल को राष्ट्रवाद के दायरे से निकालने के बजाय उसे और ज़्यादा राष्ट्रवादी बनाया। राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व की सीमा से निकाल कर खेल को बाज़ार के दायरे में लाने वाले पहले आक्रामक प्रयोग का हश्र यह हुआ कि प्रसारण कंपनियों और क्रिकेटरों को अलग क़िस्म का संदेश मिला। उन्हें पता चला कि राष्ट्र और बाज़ार को अलग-अलग करने से दोनों के साथ-साथ क्रिकेट को भी नुक़सान हो सकता है। हुआ यह था कि ऑस्ट्रेलियाई टीवी टाइकून कैरी पैकर ने वर्ल्ड सीरीज़ कप की शक्ल में एक रंगीन टीवी तमाशे की कल्पना की। दुनिया के बड़े-बड़े खिलाड़ी (भारत को छोड़ कर) पैसे के लालच में अपने-अपने क्रिकेट बोर्डों से बग़ावत करके फ़्लड लाइट्स, सफ़ेद गेंद, काली स्क्रीनों और रंगीन पोशाकों वाली प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए तैयार हो गये। यह क्रिकेट में विक्टोरियाई ऐमच्योरिज़्म का अंत था। शुरु में ये प्रतियोगिताएँ काफ़ी लोकप्रिय हुईं लेकिन इनकी व्याख्या केवल तकनीकी कौशल की शब्दावली में ही हो सकती थी। इन प्रतियोगिताओं के पास कोई सामाजिकता नहीं थी। राष्ट्रीय टीमें जब अपने स्थापित खिलाड़ियों से वंचित हो गयीं तो उनमें नये खिलाड़ियों को भर लिया गया। ऐसे ही विकट समय में भारतीय टीम का ऑस्ट्रेलिया दौरा हुआ। ऑस्ट्रेलियाई दर्शकों के सामने अब चुनाव का वक़्त था। एक तरफ़ चैपल बंधुओं, लिली-थॉमसन, लॉयड और रिचर्ड्स जैसे सनसनीख़ेज़ खिलाड़ियों से भरे पैकर के मैच थे और दूसरी तरफ़ पीटर टूही, यॅलप या बॉर्डर जैसे नये खिलाड़ियों का बिशन सिंह बेदी की भारतीय टीम से मुक़ाबला था। ऑस्ट्रेलियाई दर्शकों ने राष्ट्रवाद का साथ दिया। बूढ़े हो चुके बॉब सिंपसन की कप्तानी में उन्होंने राष्ट्रीय टीम को खेलते देखना पसंद किया। यह सभी पक्षों के लिए एक स्पष्ट संदेश था जिसमें भारतीय टीम की उल्लेखनीय भूमिका थी। उस समय तक भले ही क्रिकेट में फ़ुटबॉल की तरह राष्ट्रवादी उत्तेजनाएँ व्यक्त नहीं होती थीं, लेकिन उसे राष्ट्रवाद से अलग करके केवल तकनीकी श्रेष्ठता के दायरे में भी क़ैद नहीं किया जा सकता था।

3.

क्रिकेट: भूमंडलीकरण की सेवा में राष्ट्रवाद

भारत का क्रिकेटीय राष्ट्रवाद 1983 में तरुणाई पर पहुँचा जब भारत ने इंग्लैंड और ऑस्ट्रेलिया को हराते हुए लॉर्ड्स के मैदान पर वेस्ट इंडीज़ को पराजित करके एक दिवसीय विश्व कप जीता। दुनिया के किसी ग़ैर-भारतीय इलाक़े में (वह भी गौरांग महाप्रभुओं की धरती पर, उनके गर्भ-गृह में) विजय के उत्साह में पहली बार तिरंगा फहराया गया। जैसे ही मोहिंदर अमरनाथ ने विपक्ष का आख़िरी विकेट लिया, अनिवासी भारतीयों की भीड़ राष्ट्रीय झंडा ले कर मैदान में घुस आयी और एक समूह के रूप में तेज़ी से इधर-उधर दौड़ने लगी। भारतीय डायस्पोरा की यह पहली राष्ट्रवादी अभिव्यक्ति थी जिसके आधार में गिनाई जा सकने वाली कोई ठोस सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक उपलब्धि नहीं थी, यानी इस अनुभूति की प्रकृति अपरिभाषित लहज़े में सांस्कृतिक ज़्यादा थी। इसके बाद के कई वर्षों में विदेशी मैदानों में अनिवासी भारतीय पूरे उत्साह से भारतीय टीम की जयजयकार करते नज़र आये। चाहे वह ऑस्ट्रेलिया में वर्ल्ड सीरीज़ कप हो या शारजाह के टूर्नामेंट हों। क्रिकेट के समाजशास्त्र में डायस्पोरा का यह हस्तक्षेप अभी तक उपनिवेशवाद विरोधी चरित्र ही लिए हुआ था। ऑस्ट्रेलिया में जब भारतीय और पाकिस्तानी टीम 1985 के विश्व चैंपियनशिप फ़ायनल में पहुँची तो मैच देखने के लिए ऑस्ट्रेलियाई दर्शक काफ़ी कम संख्या में पहुँचे। जो आये भी, वो पोस्टर लिये हुए थे: बस ड्राइवर्स वर्सस ट्रैम कंडक्टर्स। उपमहाद्वीप की दो टीमों की क्रिकेट श्रेष्ठता का जवाब ऑस्ट्रेलियाई दर्शकों ने उनका मज़ाक उड़ा कर दिया। उन दिनों वहाँ भारतीय और पाकिस्तानी आमतौर पर इसी तरह की नौकरियाँ करते नज़र आते थे। उपमहाद्वीपीय डायस्पोरा के इस आचरण की प्रतिक्रिया में ही संभवतः ब्रिटिश टोरी पार्टी के चेयरमैन नार्मन टेबिट ने टिप्पणी की थी कि किसी व्यक्ति के ब्रिटिशपन की असली कसौटी यह है कि वह ब्रिटिश क्रिकेट टीम से मैच के वक़्त उसका पक्ष लेता है या नहीं।

भारत में दिल्ली एशियाड की मेहरबानी से रंगीन टीवी के क़दम पड़ चुके थे। क्रिकेट कमेंटरी सुनने के लिए जो भीड़ कभी छोटे शहरों के चौराहों, रेलवे स्टेशनों और चायघरों पर हुआ करती थी, वह सार्वजनिक टीवी सेट के आसपास होने लगी। कानपुर जैसे उत्तर भारत के पुराने टेस्ट सेंटर की हालत तो उन दिनों यह थी कि जितने लोग ग्रीन पार्क के मैदान में होते थे, उससे ज़्यादा लोग अस्थायी तौर से लगा दिये गये टीवी सेटों के सामने जमे होते थे। लार्ड्स पर विश्व चैंपियन होने के बाद अगला विश्व कप भारतीय उपमहाद्वीप की धरती पर ही हुआ। पाकिस्तान के साथ मिलकर किये गये इस विश्व कप को रिलायंस इंडस्ट्रीज़ ने प्रायोजित किया था जो ख़ुद उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय पूँजीवाद की सबसे ताक़तवर प्रतिनिधि थी। इस समय तक भी क्रिकेटीय राष्ट्रवाद में उग्रता, संकीर्णता और सांप्रदायिकता के पहलू मौजूद नहीं थे। संयोग से तब तक किसी भी विश्व कप में भारत और पाकिस्तान का मुक़ाबला नहीं हुआ था। 1983 में जब कपिल देव की टीम लॉर्ड्स के मैदान पर दो बार के विश्व विजेता वेस्ट इंडीज़ को अपदस्थ करने के लिए जूझ रही थी तो पाकिस्तानी खिलाड़ियों की हमदर्दी भारत के साथ थी। दोनों देश अपने-अपने देशों में एक-एक टेस्ट सीरीज़ जीत चुके थे। टक्कर ज़ोरदार और तनाव भरी थी लेकिन उसका मनोविज्ञान खेल के दायरों से बाहर नहीं निकला था।

यह सीमा टूटी शारजाह के उस मैच में जिसमें जावेद मियाँदाद ने चेतन शर्मा की आख़िरी गेंद पर छक्का मार कर पाकिस्तान को हारता हुआ मैच जिता दिया। इस पराजय को भारतीय क्रिकेट प्रेमी संभवतः आज तक नहीं भूल पाये। प्रभाष जोशी इसे हीनता की ग्रंथि कहते हैं और जब भी किसी काँटे के मैच में भारत पाकिस्तान को हरा देता है तो वे संतोष के साथ लिखते हैं कि हमने बदला ले दिया। बहरहाल, इसी के बाद से भारतीय टीम में किलर इंस्टिंक्ट की कमी की चर्चा होने लगी। इसी के बाद एक नये भारतीय दर्शक का जन्म हुआ जिसके पास तर्क यह था कि भारतीय टीम हार भले ही जाये पर उसे हारते हुए नहीं लगना चाहिए। उसके कंधे नहीं झुकने चाहिए। चेहरे नहीं लटकने चाहिए। उसे हमेशा आक्रामक रहना चाहिए। ऐसे ही भारतीय दर्शक ने कभी ऑस्ट्रेलिया में चैंपियंन ऑव चैपियंस घोषित हो चुके रवि शास्त्री को भारतीय मैदानों पर हूटिंग करके हताश कर दिया था। इस दर्शक की एक ही माँग थीः मारो, मारो, और मारो। टुकटुकाने वाला खिलाड़ी उसे पसंद नहीं था। बदलते ज़माने के साथ मैदान पर नब्बे मिनट के फ़ुटबॉलीय राष्ट्रवाद की तर्ज़ पर रंगे चेहरों वाले, अपनी ही टीम के खिलाड़ियों की पोशाक पहने,

दूरबीन और ऑटोग्राफ़ बुक लिए हुए, अपने-अपने राष्ट्रीय झंडों से लैस और मेक्सिकन वेव्ह बनाते हुए दर्शक छा गये। इन दर्शकों की हिंसा के कगार पर कुलबुलाती प्रवृतियों ने स्टेडियम के जन-स्थान को क्रिकेट का रस लेने के इच्छुक लोगों के लिए असुरक्षित कर दिया। घरेलू महिलाओं के लिए तो टिकट ख़रीद कर मैच देखना मुश्किल हो गया। इन हालात ने टीवी पर मैच के प्रसारण को पहले से कहीं ज़्यादा कामयाब बना दिया। घरों के ड्रॉइंगरूम मिनियेचर मैदानों में तब्दील हो गये। गृहणियों और बच्चों ने ईएसपीएन चैनल पर देखा कि 'क़यामत' आने वाली है, 'बदला' लिया जाने वाला है और उनके प्रिय खिलाड़ी 'सरफ़रोश' में तब्दील हो चुके हैं। ख़ास बात यह है कि क्रिकेट प्रसारण के अंग्रेज़ी संस्करणों में इस तरह का प्रस्तुतीकरण नहीं दिखायी देता था।

टीवी चैनल का यह तर्क उस मानस को फ़ौरन रास आ गया जो अस्सी के दशक से ही छपे हुए शब्द के ज़रिये क्रिकेट खिलाड़ियों को महानायक या राष्ट्रीय नायक की शक्ल में पेश किये जाते देख रहा था। *जनसत्ता* में छपे प्रभाष जोशी के उस लेख को कौन भूल सकता है जो उन्होंने अज़हरुद्दीन द्वारा लगातार तीन शतक मारने पर लिखा था। उसका शीर्षक था, 'अज़हर तेरा नाम रहेगा'। इसमें बताया गया कि अज़हर की नसें फ़ौलाद की हैं और उनमें संकल्प बहता है या कुछ बिजली-सी कड़कती है। इस शीर्षक में मिथक-निर्माण की कोशिशें आराम से पढ़ी जा सकती हैं। जब कपिल देव ने लॉर्ड्स के मैदान पर अपनी टीम को छक्का लगा कर इंग्लैंड को टेस्ट सीरीज़ में हरा दिया तो प्रभाष जोशी ने इस प्रकरण को भी राष्ट्रवाद का पूरा स्पर्श दिया। उनका शीर्षक था, 'लॉर्ड्स पर छक्के के साथ हमारा तिरंगा'।

भारतीय टीम के पक्ष में युद्ध का आह्वान करते-करते प्रभाष जोशी की भाषा में विकट हिंसा आ जाती है। वे लिखते हैं, 'कांबली ने एंब्रोस को छक्का जड़ दिया। जैसे घूँसा मार कर कहा हो — यह ले'। ये तो वेस्ट इंडीज़ के मुक़ाबले एक मैच के बारे में लिखते समय उनके उद्‌गार हैं। पाकिस्तान के साथ होने वाले मैचों में तो वे ये सीमाएँ भी पार कर जाते हैं और उनका मुख्य लहज़ा 'बदला.... खुंदक.... लहूलुहान.... दचक दिया... रगड़-रगड़ कर मारा' हो जाता है। इस लेख के शुरु में दिया गया उनका उद्धरण तब का है जब भारत ने इंगलैंड में हो रहे पिछले विश्व कप के दौरान प्रतियोगिता से बाहर होते-होते सुपर सिक्स यानी सर्वश्रेष्ठ छः टीमों के दौर में जगह बना ली थी। ज़ाहिर है, भारतीय टीम का फ़ायनल जीतना बाक़ी था। क्रिकेट अगर युद्ध था तो क्या वह युद्ध फ़ायनल में पहुँच कर विश्व कप जीतने का नहीं होना चाहिए था? नहीं, प्रभाष जोशी के लिए यह युद्ध फ़ायनल में पहुँचने से पहले ही जुलाई का पहला हफ़्ता ख़त्म होते-होते घटित हो गया, जब अज़हररुद्दीन की भारतीय टीम को वसीम अक़रम की पाकिस्तानी टीम से टकराना पड़ा। संपादक महोदय ने साफ़ लिखा कि ओल्ड ट्रैफ़र्ड के मैदान में होने वाला यह मुक़ाबला कारगिल की मुठभेड़ जैसा ही है। ऐसी बात नहीं कि अगर उस समय कारगिल प्रकरण गर्म न होता तो इन दो देशों के क्रिकेट मैच को युद्ध के रूप में न देखा जाता। 1996 के विश्व कप के दौरान वे लिख चुके थे कि 'पाकिस्तान के दक्षिण अफ़्रीका से हारने से अपन राहत में हैं'। उन्हें पाकिस्तान की हार का सुख इतना था 'जितना भारत के ऑस्ट्रेलिया के हाथों पिटने का दुख नहीं हुआ था'।

क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की प्रधान अभिव्यक्ति पूरे नब्बे के दशक में यही रही। ओल्ड ट्रैफ़र्ड के मैदान पर जैसे-जैसे भारतीय गेंदबाज़ों के सामने पाकिस्तानी विकेट ढहते गये, वैसे-वैसे कारगिल के दुर्गम मोर्चे पर तैनात भारतीय फ़ौजियों ने ख़ुशी में गोलियों की बौछारें कीं। पाकिस्तानी सैनिक उदास हो गये, हालाँकि मैच शुरु होने के पहले पाक सीमा की तरफ़ से होने वाली गोला-बारी में तेज़ी आ गयी थी। कारगिल में तैनात एक भारतीय कर्नल ने कहा, 'ऐसे मौक़े पर थोड़ी-बहुत अनुशासनहीनता चलती है। हमें इतने ज़ोरदार नतीजे की क़तई उम्मीद नहीं थी। यह एक शानदार जीत है और इससे हमें कारगिल में टिके रहने में मदद मिलेगी।' *एशियन एज, पायनियर, इंडियन एक्सप्रेस, हिंदुस्तान टाइम्स* जैसे अंग्रेज़ी के अख़बारों के शीर्षक थेः पाक फ़ॉल्स ऐट इंडिया'ज़ लाइन ऑव कंट्रोल... इंडिया ट्रायंफ़ इन

सचिन के सामने गेंदबाजी करने को बेताब है शोएब अख्तर

गेम ऑव डेथ.... पार्टी अवे, फ़ील द वॉर्म ऑव ग्लो....। हिन्दी पत्रकारिता भी पीछे नहीं रही। उसका नेतृत्व किया *जनसत्ता* के संपादक ने। हिन्दी के पत्रकारों में वे शायद अकेले ही थे जो उस ब्रिटिश मैदान पर मौजूद थे। उन्होंने यह भी देखा ही होगा कि कुछ पाकिस्तानियों ने अपनी टीम के हार जाने की नाराज़गी में भारतीय तिरंगा जला दिया। प्रभाष जोशी ने पाकिस्तानी झंडा तो नहीं जलाया पर उनकी भावना कुछ इस तरह की थी कि अगर अब भारत विश्व कप न जीते तो क्या हुआ। उसने पाकिस्तान को तो हरा ही दिया है। ठीक ऐसी ही भावना वे 1996 में बंगलूर के चिन्नास्वामी स्टेडियम में पाक के साथ हुए क्वार्टर फ़ायनल में भारतीय जीत के समय व्यक्त कर चुके थे। तब उनका मानना था कि भारत ने कई हिसाब चुका दिये हैं। शारजाह की हार (मियाँदाद के छक्के) का बदला ले लिया है। उनकी हीनता की ग्रंथि खुल कर टूट गयी है। इमरान की टीम के ख़िलाफ़ बंगलूर टेस्ट की पराजय भी चुकता कर दी गयी है। प्रभाष जोशी के इस संतोष की एक ख़ास वजह भी थी। इस मैच से एक दिन पहले ही उन्होंने भारतीय खिलाड़ियों की पाकिस्तान के ख़िलाफ़ जीतने की इच्छा शक्ति पर शक किया था। उनकी व्याख्या थी कि पाकिस्तानी खिलाड़ी घबराहट में बड़बोले और आक्रामक हो जाते हैं और भारतीय खिलाड़ियों के कंधे लटक जाते हैं। लेकिन अगले दिन जब उन्होंने देखा कि कैसे 'जडेजा ने वक़ार की गेंदों में मार-मार कर भुस भर दिया है' तो उन्हें लगा कि एकबारगी आक्रामक भारतीय क्रिकेट टीम का सपना सच होता लग रहा है।

इसी महीने के आख़िरी हफ़्ते में *जनसत्ता* में छपे एक लेख में प्रभाष जोशी बंगलूर मैच की अपनी रिपोर्टिंग पर हुई प्रतिक्रियाओं पर टिप्पणी करते नज़र आये। उन्होंने माना कि उनकी रिपोर्टिंग का साया उनकी पंथनिरपेक्ष छवि पर पड़ा है और उनकी आलोचना की गयी है कि उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दुश्मनी को हवा दी है, यानी सांप्रदायिकता को अभिव्यक्त किया है। अपनी रिपोर्टिंग के ऐसे असर पर अफ़सोस व्यक्त करने के बाद उन्होंने घोषणा की कि 'वास्तविकता को उधेड़ कर उसका सामना करने के अलावा कोई चारा नहीं है'। सांप्रदायिकता एक भारतीय वास्तविकता है पर क्या इस यथार्थ के सामने समर्पण किया जाना चाहिए? क्या प्रभाष जोशी ने बाबरी मस्जिद प्रकरण पर भी इस यथार्थ को इसी तरह स्वीकार किया था? हिन्दी द्वारा क्रिकेट के वर्णन में यह कोई नया योगदान नहीं था। अंग्रेज़ी की खेल पत्रकारिता ट्राउंस, क्रश, बीट, पल्प, आदि शब्दावली का लंबे अरसे से प्रयोग करती रही है जिनमें हिंसा की प्रतिध्वनियाँ हैं। लेकिन जिस ब्रिटिश पत्रकारिता ने इस लेखन को जन्म दिया है उसमें यह प्रवृत्ति ख़ासतौर पर *डेली मिरर* जैसी *टैबलॉयड* पत्रकारिता के ख़ाने में आती है। *ऑब्ज़र्वर, टाइम्स और गार्जियन* जैसे गंभीर अख़बार इस भाषा का प्रयोग करने में कहीं अधिक संयम बरतना पंसद करते हैं। हम जानते हैं कि *टैबलॉयड* पत्रकारिता से ही पीत या यलो या सस्ती पत्रकारिता का मुहावरा शुरु हुआ है।

प्रभाष जोशी क्रिकेट के कोई मामूली चाहने वाले नहीं हैं। उनका क्रिकेट से नाता उस ज़माने का है जब इंदौर में होलकरों की टीम अपने जौहर दिखाया करती थी। सीके नायडू और मुश्ताक़ अली के बल्ले की करामातें उन्हें आज तक याद हैं और अक्सर उनकी क्रिकेटीय स्मृतियों में अतीत की ये तरंगें उठती रहती हैं। उसूलन वे यक़ीन करते हैं कि क्रिकेट निर्मल आनंद के लिए खेला और देखा जाना चाहिए। टेनिस पर लिखते समय वे वास्तव में यही निर्मल आनंद प्राप्त करते और पाठकों को भी उपलब्ध कराते हैं (उदाहरण के लिए डेविस कप के मैच में रमेश कृष्णन की कलाकारी, यूएस ओपन के फ़ायनल में एडबर्ग और चैंग के लंबे संघर्षपूर्ण मैच और मार्टिना नवरातिलोवा के रिटायर होने पर लिखे गये जज़्बाती लेख)। क्रिकेट में भी वे यह आदर्श स्थिति प्राप्त कर सकते हैं बशर्ते मैच भारत और पाकिस्तान के बीच न हो रहा हो और उनके लिए सबसे अच्छी स्थिति तो यह होती है कि खेलने वाली दोनों टीमों में न भारत की टीम हो और न पाकिस्तान की। पाकिस्तान के साथ अगर श्रीलंका या ऑस्ट्रेलिया की टीम भी खेल रही हो, तो वे फ़ौरन उनके समर्थक हो जाते हैं और वसीम और वक़ार की गेंदों में विपक्षी बल्लेबाज़ों द्वारा भरे जा रहे भुस का हिंसक वर्णन करने से उनकी क़लम परहेज़ नहीं करती। प्रभाष जोशी कोई शिव सेना शैली में पाकिस्तानी क्रिकेट के विरोधी नहीं हैं। शिव सेना द्वारा पिचें खोदने की उन्होंने कड़ी निंदा की है। वे पंथनिरपेक्ष राष्ट्रवाद के समर्थक और संघ परिवार के आलोचक के रूप में भी मशहूर हैं। उन्हें यह भी अच्छा लगता है कि भारतीय टीम में मुसलमान खिलाड़ियों के साथ-साथ अन्य धर्मों के खिलाड़ी भी हैं। क़ायदे से उन्हें उग्र राष्ट्रवाद का विरोधी होना चाहिए। राजनीति और समाजनीति के सिलसिले में वे ऐसे दिखते भी हैं, लेकिन पाकिस्तान और क्रिकेट का संदर्भ आते ही एक क्रिकेटविज्ञ के रूप में उनके व्यक्तित्व का क्रिकेट-प्रेम स्थगित हो जाता है। वे क्रिकेट के भारतीय इतिहास

से कट जाते हैं और उन्हें सिर्फ़ युद्ध याद रह जाता है। वे किसी पाकिस्तानी खिलाड़ी के क्रिकेट कौशल की ज़रा भी तारीफ़ नहीं करते। उन्हें न तो वसीम की बायें हाथ की तेज़ गेंदबाज़ी में दिलचस्पी है और न ही वक़ार की यॉर्कर गेंदों में। इमरान की कप्तानी की उन्होंने शायद ही कभी खुले दिल और निर्मल हृदय से प्रशंसा की हो। 'महान जुझारू बल्लेबाज़' जावेद मियाँदाद उनकी निगाह में 'दंभ और खोखले गर्व' से भरा हुआ है। खेल के सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से वे अपने पाठकों को उसकी बारीकियों के बारे में शायद ही कभी कुछ बताते हों। वे लगातार सांस्कृतिक उग्रता का आख्यान रचते रहते हैं। जीतने की इच्छा, आक्रामकता और महानायकी उनका प्रिय विषय है। नायडू उनके पहले महानायक थे, फिर उन्हें गावस्कर में महानायकी दिखी, कपिल देव में मिली, आजकल उनके महानायक सचिन तेंदुलकर हैं। सचिन की विफलताओं की वे कम से कम चर्चा करते हैं। उन्हें आज तक नहीं दिखा कि टेस्ट मैचों की दूसरी पारी में उनके महानायक का औसत दस से भी कम है और इसीलिये वह अक्सर न अपनी टीम को जिता पाता है और न ही मैच ड्रॉ करा पाता है। उपमहाद्वीप से बाहर होने वाली एक दिवसीय प्रतियोगिताओं में उनका यह महानायक अक्सर फ़ायनल मैचों में नाकाम हो जाता है। सचिन की महानायकी को अपना स्पर्श देने के चक्कर में प्रभाष जोशी ब्रायन लारा से निजी मुलाकात से बचते हैं और अपने लेख में स्वीकार करते हैं कि ऐसा करते समय उनके मन में यह बात भी थी कि लारा दुनिया के सर्वश्रेष्ठ कहलाने के मामले में सचिन के प्रतिद्वंद्वी हैं। खेल में राष्ट्रवादी तरफ़दारी के कारण हुआ यह है कि इतना पुराना क्रिकेट प्रेमी इस खेल के परंपराबोध से वंचित हो गया है। उनका इतिहास बोध ज़्यादा से ज़्यादा निजी संस्मरणों की शक्ल में पाठकों के सामने आ पाता है। वे उसका सामान्यीकरण करने में नाकाम रहते हैं। लाला अमरनाथ जैसे इतिहास पुरुष की मृत्यु तक उन्हें उनको श्रद्धांजलि देने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती।

क्रिकेट को युद्धप्रिय उग्र राष्ट्रवाद का वाहक बनाने वाली यह हस्ती पश्चिमी वैचारिक साम्राज्यवाद की भी आलोचक है और लोहिया की तर्ज़ पर मानती है कि गाँधी के आश्रम में पश्चिम का अश्वमेधी घोड़ा बँधा हुआ है। वे भूमंडलीकरण और बाज़ार की ताक़तों को अक्सर आड़े हाथों लेते रहते हैं। बाज़ार का क्रिकेटीय संदर्भ भी उनकी निगाहों से ओझल नहीं है और वे खेल पर टीवी और विज्ञापन के वर्चस्व का अफ़सोस करते हुए सवाल उठाते हैं कि क्रिकेट बाज़ार का यह हमला कैसे बर्दाश्त कर पायेगा। उनकी निगाह में टेस्ट क्रिकेट असल है और एक दिन का क्रिकेट छाया। बाज़ार वाले छाया को पकड़े रहना चाहते हैं और बाज़ार के बोलबाले से खेल की भावना और आत्मा का हनन हो जाता है। पर इस हनन में उनका खुद का योगदान कितना है यह देख पाना उनके लिए तक़रीबन नामुमकिन ही हो गया है। वे समझ पाने में नाकाम हैं कि क्रिकेटीय राष्ट्रवाद के प्रमुख पैरोकार के रूप में उनका लेखन भारत-पाकिस्तान की क्रिकेटीय होड़ की उग्र व्याख्या करके भूमंडलीय पूँजीवाद का ही हित साधन कर रहा है और वे विरोधी होते हुए भी भूमंडलीकरण के औज़ार बने हुए हैं, ठीक उसी तरह जैसे सांप्रदायिकता विरोधी होते हुए भी वे अपने खेल संबंधी लेखन के सांप्रदायिक असर को समझने के लिए तैयार नहीं हैं। यहाँ सांप्रदायिक असर उनके लिए वास्तविकता की पुष्टि बन जाता है। यह क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की ताक़त ही है कि वह गाँधीवादी, पंथनिरपेक्ष और भूमंडलीकरण विरोधी प्रभाष जोशी को अपने जाल में फंसा लेता है। वे फटाफट क्रिकेट के उस 'मॉडर्न फ़ैन' की तरह हो जाते हैं जो सिर्फ़ इंस्टैन्ट जीत चाहता है। एक 'फ़ैन' के रूप में प्रभाष जोशी अमेरिकी बेसबॉल के उस फ़ैन से अलग नहीं हैं जो खेल के मैदान में पूरी तरह स्मृतिभ्रंश का शिकार हो जाता है और समझता है कि खेल देखने से उसकी तबीयत पहले से हल्की हो जाती है। रोज़मर्रा के तनावों, संयमों और वैचारिक आग्रहों से परेशान यह फ़ैन पिच पर बल्लेबाज़ी करती हुई अपनी टीम के साथ जुड़ते ही महसूस करता है कि उसका रक्तचाप बेहतर हो गया है।

क्रिकेट के समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि यह खेल अपनी स्वाभाविक संरचना में टीवी के लिए ही बना लगता है। हर ओवर ही नहीं, हर गेंद के बाद क्रिकेट में ऐक्शन कम से कम इतनी देर के लिए तो रुक ही जाता है कि विज्ञापकों के लिए गुंजाइश निकलती रहे। खेल दिन भर या फिर पाँच दिन के लिए चलता है। यानी विज्ञापन का ज़्यादा से ज़्यादा मौक़ा मिलता है। टीवी दर्शक और मैदान में बैठे हुए दर्शक के बीच बुनियादी फ़र्क़ यह होता है कि मैदान वाला दर्शक टीवी दर्शक को नहीं देख सकता लेकिन टीवी दर्शक उसे हँसते, चिल्लाते और उदास होते हुए देख सकता है। स्लो मोशन में रीप्ले देखने के साथ-साथ वह केवल खेल और खिलाड़ी ही नहीं, झंडा

सेहवाग के शतक से भारत संभला

फहराते हुए, रंग-बिरंगे दर्शकों को भी देखता है। इस अंतर को स्टेडियम में बैठा दर्शक जानता है कि टीवी का कैमरा उसे भी दिखा रहा है इसलिए उसकी व्यवहार-शैली सायास और असामान्य होती है। वह अपनी वफ़ादारियों, नफ़रतों, ग़म और खुशी को बढ़-चढ़ कर शिद्दत के साथ ज़ाहिर करता है। इस तरह टीवी स्क्रीन पर बनने वाला समूचा दृश्य एक अलग तरह के सामाजिक-राजनीतिक संदेश के साथ घरों के बैठकख़ानों में पहुँचता है। जो खिलाड़ी खेल रहे होते हैं, वही विज्ञापनों में भी मौजूद होते हैं। लोकप्रियता में वे लगभग फ़िल्म स्टारों जैसी हैसियत प्राप्त कर चुके हैं। युवा मानस में वे देवता जैसे हैं। भारतीय और हिंदू संदर्भों में यह विशेषता उस समय और बढ़ जाती है जब हम दैनंदिन जीवन में दर्शन के धार्मिक महत्त्व पर विचार करते हैं। टीवी पर दिखने वाले ये खिलाड़ी-देवता पुराण की पोथी में बंद देवताओं से भी ज़्यादा प्रभावी हैं। वे उन कामनाओं को साकार करने की उम्मीद बँधाते हैं जो मन के गहरे अतल में छिपी बैठी होती हैं। पीठ के दर्द से परेशान हो कर क्रिकेट से कुछ दिनों तक दूर रहने वाले सचिन के लिए उनके आराधक मनौती मनाते हैं कि वह आये और बॉलरों के पीट-पीट कर धुर्रे उड़ा दे। बाज़ार के रणनीतिकारों को और क्या चाहिए!

क्रिकेट से जुड़ी उपभोक्ता क्रांति के ब्रिटिश और भारतीय संदर्भ को भी एक ही पलड़े में रख कर नहीं देखा जाना चाहिए। इंग्लैंड में क्रिकेट को एक उदास परंपरावाद के चश्मे से देखा जाता है। इसलिए वहाँ बैंक और बीमा कंपनियाँ उसकी प्रायोजक हैं। पर भारत में विज्ञापकों के लिए क्रिकेट सेक्सी और ट्रेंडी है इसलिए यहाँ उसे कार, मोटरसाइकिल, सिगरेट और शीतल पेय बनाने वाली कंपनियाँ प्रायोजित करती हैं। वर्ल्ड टेल के भारतीय संचालक मार्क मस्करनहैस का मानना था कि खेल के प्रसारण की रणनीति देशों के हिसाब से अलग-अलग बनायी जाती है यानी जो भारत में चल सकता है वह इंग्लैंड में नहीं चल सकता। टीवी कंपनियाँ जानती हैं कि मैच किसी भी रफ़्तार से चल रहा हो, वे दर्शकों के एक हिस्से पर कैमरा केंद्रित करके और अंपायर के किसी विवादास्पद फ़ैसले का रिप्ले बार-बार दिखा कर कम से कम ड्राइंग रूम में तो मैच हिट करवा ही सकती हैं। क्रिकेट का टीवी प्रसारण भारतीय दर्शकों को खिलाड़ियों के वे रूप दिखाता है जिनकी वे रेडियो कमेंटरी के ज़रिये कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अस्सी के दशक से पहले की रेडियो कमेंटरी और अख़बारी लेखन भारतीय खिलाड़ियों साथ-साथ विदेशी खिलाड़ियों को भी महिमामंडित कर देता था। लेकिन टीवी ओवर-दर-ओवर खेल के ज़रिये ही नहीं, ओवरों के अंतराल में दिखाये गये विज्ञापनों के ज़रिये भी भारतीय खिलाड़ियों के क़द को इतना बढ़ा देता है कि विदेशी खिलाड़ी अपना प्रभामंडल खो देते हैं। पिछले ऑस्ट्रेलियाई दौरे के वक़्त कुछ विदेशी खिलाड़ियों को भी विज्ञापनों में मॉडल की तरह इस्तेमाल करने की कोशिश की गयी थी, लेकन उनके अभारतीय चेहरे और ग़ैरहिंदी लहज़े की व्यावसायिक सीमाएँ अपने-आप में साफ़ थीं। भारतीय खिलाड़ी विज्ञापन के अंतरालों में बल्लेबाज़ी और गेंदबाज़ी के जौहर नहीं दिखाते बल्कि वे जलते हुए टायरों के ऊपर से छलाँगें भरते हुए गेंद रोकते हुए दिखाये जाते हैं। वे विपक्षी बल्लेबाज़ों पर आग की लपटें छोड़ती हुई गेंदें फेंकते हैं। वे ऐसे गेंदबाज़ों के सामने बल्लेबाज़ी करते हुए दिखते हैं जो गेंद फेंकने के बजाय मशीनगनों से गोलियाँ चला रहे हैं। क्रिकेट का यह विज्ञापनीय मॉडल सिर्फ़ खिलाड़ी ही नहीं रह जाता वह योद्धा में बदल जाता है।

युद्ध और योद्धा की महिमा से मंडित हो जाने के बाद खिलाड़ी की समस्या यह हो जाती है कि हारते हुए दिखने पर उसे दर्शकों की नाराज़गी का सामना करना पड़ता है। कोलकाता में भारत और श्रीलंका के बीच हुए विश्व कप सेमीफ़ायनल में दर्शकों का व्यवहार इसका प्रमाण है। लेकिन उस अत्यंत भद्दे दृश्य से भी प्रसारण कंपनियाँ हतोत्साहित नहीं हुईं। दरअसल, टीवी ने विजय और आक्रामकता के लिए छटपटाते क्रिकेटीय राष्ट्रवाद को मुनाफ़े के लिए भूखे कॉरपोरेट क्षेत्र के हाथों में रख दिया है। अमेरिका में जो व्यावसायिक हैसियत बास्केटबॉल की और युरोप में जो स्थिति फ़ुटबॉल की है, भारत में टीवी प्रसारण व्यवसाय के लिए क्रिकेट की है। यहाँ टीवी प्रसारण के अधिकार करोड़ों रुपयों में बेचे जाते हैं। स्पोर्ट्स मार्केटिंग की दुनिया के सबसे बड़े व्यावसायिक समूह इंटरनैशनल

मैनेजमेंट ग्रुप (आईएमजी) के सामने समस्या यह थी कि कोलकाता की घटना और शिव सेना जैसे उग्रराष्ट्रवादी दल द्वारा पाकिस्तान को भारत की धरती पर न खेलने देने की ज़िद के बाद भी उपमहाद्वीप की क्रिकेट शक्तियों की मुठभेड़ें कैसे करायी जायें। आईएमजी के कर्ताधर्ता मार्क मेककॉरमैक (विश्व की सबसे ज़्यादा बिकने वाली स्पोर्ट्स पत्रिका *स्पोर्ट्स इलस्ट्रेटेड* के अनुसार खेल दुनिया के सबसे ताक़तवर आदमी) ने इसके लिए एक नया तरीक़ा खोज निकाला। विश्व कप के बाद एक प्रेस सम्मेलन करके उन्होंने ऐलान किया कि दोनों देशों के बीच कनाडा में एक सालाना फ्रेंडशिप कप आयोजित किया जायेगा। भारतीय और पाकिस्तानी क्रिकेट अधिकारियों के बीच घिरे बैठे मेककॉरमैक ने दावा किया कि उत्तरी अमेरिका के निवासियों के दिल में क्रिकेट बहुत बड़ी जगह बना लेगा। प्रेस कॉन्फ्रेंस के बाद आईएमजी के एक अधिकारी ने असली बात कही कि असली बाज़ार तो दक्षिण एशिया में है और इसके दोहन की तो अब शुरुआत हुई है। यही वास्तविकता थी। कनाडा के टोरंटों में सुबह साढ़े नौ बजे मैच शुरु होने थे। उस वक़्त भारत में शाम के छः बजे जो मध्य और उच्च-मध्यवर्गीय टीवी दर्शक दफ़्तर और दुकानों से आकर ख़ाली बैठे होते हैं उनकी शाम को क्रिकेटमय करने का इंतज़ाम था यह। कनाडा का भारतीय और पाकिस्तानी डायस्पोरा भी मैच देख ले तो वह बोनस हो गया। आईएमजी ने इस प्रतियोगिता को अपनी देखरेख में कराने का निर्णय किया। भारत और पाकिस्तान की युद्धोन्माद से भरी हुई टक्कर से ज़्यादा टीवी दर्शक आईएमजी को दक्षिण एशिया में क्रिकेट को छोड़ कर किसी और बहाने नहीं मिल सकते थे।

4.

खेलों का निर्मल आनंद बनाम क्रिकेटीय राष्ट्रीयता की रचना

ज़ाहिर है कि पाकिस्तान से दुश्मनी पर आधारित उग्रराष्ट्रवाद ने क्रिकेट को भारतीय अस्मिता की कुछ लोकप्रिय परिभाषाओं में से एक बना दिया है। फ़िलहाल नियंत्रण रेखा पर तैनात जवान के बाद अगर कोई चीज़ भारतीयों को राष्ट्रीय और देशभक्तिपूर्ण लगती है तो वह क्रिकेट के मैदान में पाकिस्तान को हराते हुए भारतीय खिलाड़ी ही लगते हैं। सीमा के उस तरफ़ भी ऐसा ही माहौल है। पाकिस्तानियों को लगता है कि वे अपने कहीं ज़्यादा ताक़तवर पड़ोसी को जंग के मैदान में तो कभी हरा नहीं सकते पर क्रिकेट के मैच में उन्हें यह मौक़ा मिल सकता है। इस तरह वे भी अपनी भारत विरोधी उग्रराष्ट्रवादी कामनाओं की पूर्ति कर लेते हैं। पाकिस्तान की सामरिक कमज़ोरियों को देखते हुए क्रिकेट पर उसके भरोसे का एक तर्क बनता है। एक राष्ट्र के तौर पर उसे पहचान की तलाश भी है जो उसे भारत को ही नहीं, दुनिया की दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रिकेट टीमों को हरा कर मिल सकती है। लेकिन भारत के पास तो एक राष्ट्र के तौर पर पहले से ही एक सुपरिभाषित पहचान है, जिस पर सभी भारतीय गर्व भी करते हैं। फिर उसके राष्ट्रवाद को क्रिकेट की बैसाखी की क्या ज़रूरत होनी चाहिए? वह उस शक्तिशाली सिंह की तरह आचरण क्यों नहीं कर सकता जिसे अपने ऊपर उछल-कूद मचाने वाले चूहों की कोई चिंता नहीं होती? पर यथार्थ यह है कि यह मुहावरा राष्ट्रवाद के संदर्भ में काम नहीं करता क्योंकि राष्ट्र की ताक़त सिर्फ़ हथियारों से तय नहीं होती। खेल-कूद का सांस्कृतिक मैदान भी उसका एक पैमाना होता है। दुनिया में महाशक्तियाँ स्टेडियमों में लड़े जाने वाले युद्धों को भी जीत लेना चाहती हैं।

एक ताक़तवर राष्ट्र और कमज़ोर पड़ोसी का रिश्ता राजस्थान में प्रचलित बूँदी के क़िले की लड़ाई की दिलचस्प कहानी से समझा जा सकता है। एक राणा ने बूँदी का दुर्ग जीतने का प्रण किया लेकिन काफ़ी कोशिशें करने के बाद भी वह क़िला दुर्जेय बना रहा। सलाहकारों की तरक़ीब के मुताबिक़ उसने क़िले की एक छोटी सी अनुकृति बनवायी ताकि उस पर चढ़ाई करके अपना हठ पूरा कर सके। राणा के आक्रमणों से क़िले की सफलतापूर्वक रक्षा करने वालों को जब पता चला तो उन्होंने फ़ौज ले कर नक़ली क़िले की हिफ़ाज़त के लिए प्रस्थान कर दिया। विजय का जो खेल प्रतीकात्मक रूप से बिना किसी हिंसा के थोड़ी देर में ही ख़त्म हो जाने वाला था, एक वास्तविक रक्तरंजित युद्ध में बदल गया। लाशों के अंबार लग गये। असली क़िला अपनी जगह खड़ा रहा और हार-जीत का फ़ैसला प्रतीकात्मक किले की लड़ाई में हुआ। क्रिकेटीय राष्ट्रवाद पर यह रूपक एकदम फ़िट बैठता है। भारतीय राष्ट्रवाद पाकिस्तान को राष्ट्रवाद की प्रतीकात्मक लड़ाई भी जीतने से वंचित कर देना चाहता है।

अगर राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों पर नज़र दौड़ाई जाये तो मानना पड़ेगा कि उसकी संरचना में प्रतीकों का केंद्रीय महत्त्व है और जैसे ही राष्ट्रवाद विकास, प्रगति और सीमाबद्धता के ठोस दायरों को लाँघता है, हवाई प्रतीक उसकी जगह ले लेते हैं। सवाल यह है कि हमारे राष्ट्रीय समुदाय की रचना-प्रक्रिया में क्रिकेट जैसे प्रतीक की क्या भूमिका हो सकती है?

खेलों और अस्मिताओं के अंतर्संबंध की गहराइयों में जाने वालों की सिफ़ारिश के अनुसार हमें इस बारे में ज़्यादा चिंतित नहीं होना चाहिए क्योंकि खेल के आधार पर बनने वाली अस्मिता ठोस नहीं होती। उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध होती है क्योंकि वह जीतने पर कुछ ज़्यादा ही निर्भर करती है और खेल में, ख़ासकर क्रिकेट में सदैव जीतना संभव नहीं होता। यह एक क्षणजीवी अस्मिता है जो खेल के मैदान पर संघर्ष और टकराव के लम्हे के निकल जाने के बाद तिरोहित हो जाती है। इतिहासशास्त्री रिचर्ड सी. क्रेप्यू का यह निष्कर्ष विचारणीय है लेकिन इसे राष्ट्रवादी अस्मिता के बरक्स रखते ही तस्वीर बदल जाती है। किसी स्पोर्ट्स क्लब के प्रति वफ़ादारियों के आसपास बनी अस्मिता और किसी ख़ास खिलाड़ी के महानायकत्व से जुड़ने के कारण बनी अस्मिता बुनियादी तौर पर अराजनीतिक होती है। उसकी तुलना खेलों के आधार पर बनी राष्ट्रीय अस्मिता से नहीं की जा सकती। खेल-आधारित राष्ट्रीय अस्मिता अविकसित ही नहीं, विकसित देशों को भी सामूहिकता के बोध से आवेशित करने की भूमिका निभाती है। उसके ज़रिये विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्य पूरे करने की कोशिश की जा सकती है। अमेरिका और सोवियत संघ के बीच होने वाले आइस हॉकी के मैच शीतयुद्धकालीन राजनीति के अध्याय की तरह पढ़े जा सकते हैं। बोरिस स्पास्की और बॉबी फ़िशर के बीच हुई शतरंज की चैंपियनशिप और उसके बाद कारपोव और कोर्चनॉय के बीच हुई बाज़ियों का प्रकट राजनीतिक आख्यान यही था। इसी तर्ज़ पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाली क्रिकेट की राजनीतिक शक्ल पहचानी जानी चाहिए। इन मैचों की उत्तेजना क्षण से आगे जाती है, कभी तिरोहित नहीं होती और दो टूर्नामेंटों के अंतराल में अवचेतन को मथती रहती है। अख़बारी लेखन हर नये मैच की पूर्व संध्या पर किसी पुरानी अवमानना की याद दिलाता है, राष्ट्रीय चरित्र का प्रश्न उठाता है और आह्वान करता है कि इस बार तो बदला ले ही लेना है। टीवी में बार-बार दिखाये जाने वाले तनाव के उन विगत क्षणों के ज़रिये सुनिश्चित कर लिया जाता है कि टीआरपी रेटिंग किसी तरह न गिर पाये। अक्सर 'कर्टेन रेज़र' मैदान में होने वाली होड़ से भी ज़्यादा भड़काऊ होता है।

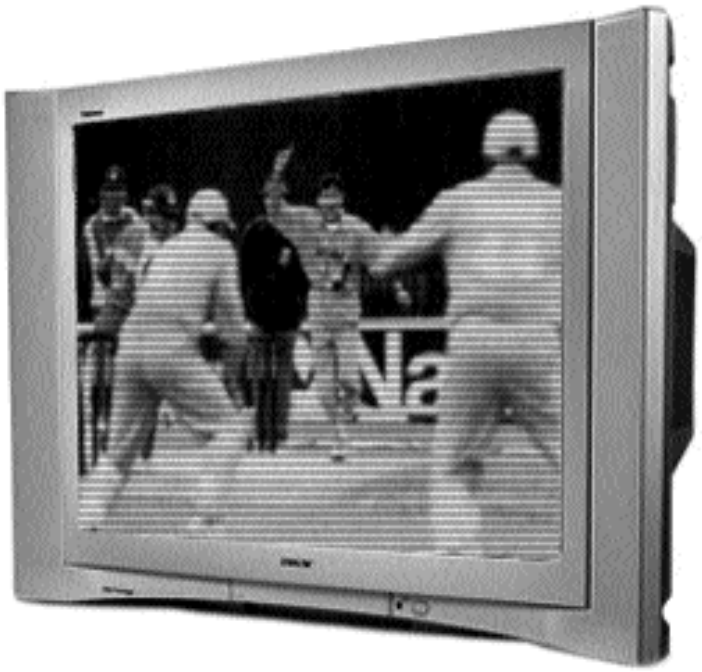

तेंदुलकर का शानदार शतक, भारत मजबूत

अलग-अलग देश-काल में खेलों का राष्ट्रवाद भिन्न-भिन्न असर डाल सकता है। आर्जेंटीना और इंग्लैंड के बीच होने वाले फ़ुटबॉल मैचों में फ़ॉकलैंड युद्ध की पटकथा दोहरायी जाती है और ईरान-इराक के मैचों में खाड़ी युद्ध की प्रतिध्वनियाँ सुनायी पड़ती रही हैं। भारत और पाकिस्तान का क्रिकेट संदर्भ इन उदाहरणों से परे जा कर एक अधिक वृहत्तर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भ की ओर ध्यान खींचता है। पाकिस्तान के मुक़ाबले जीतने और हारने का मतलब अक्सर बूँदी के किले के लिए हुए प्रतीकात्मक युद्ध तक ही सीमित नहीं होता। उसमें भारतीय चरित्र और स्वभाव की वे व्याख्याएं भी शामिल रहती हैं जो उन्नीसवीं सदी से ही भारतीयों (यानी हिंदू) में ऐतिहासिकता, आक्रामकता, प्रतिहिंसा, दृढ़निश्चय, मर्दानगी और सामूहिकता की कमी बताती रही हैं। हम जानते हैं कि संघ परिवार का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद इसी भित्ति पर टिका हुआ है। इसके जवाब में उदारवादी विमर्श (इसे गाँधीवादी और लोहियावादी भी कह सकते हैं) भारतीय चरित्र को परस्पर साहिष्णुता, स्वाभाविक बहुलता, बहुसांस्कृतिकता, सर्वधर्मसमभाव, सभ्यतामूलक समावेशन और वसुधैव कुटुंबकम के बोध से संपन्न बताता है। क्रिकेट पर होने वाले लेखन के अनुसार भारतीय खिलाड़ी पाकिस्तान के मुक़ाबले हीनता की मनोग्रंथि के शिकार है। उनमें पाकिस्तानियों का बड़बोलापन और बदतमीज़ी नहीं है। उनमें जीतने की इच्छा का ज्वालामुखी नहीं खदबदा रहा है। भारतीय खिलाड़ी अपनी हार पर उतना बुरा नहीं मानता, जितना अन्य देशों के खिलाड़ी मानते हैं। टीवी इस व्याख्या में कुछ नये दृश्य और बिंब जोड़ देता है। वह हार जाने के बाद ड्रेसिंग रूम में उदास बैठे हुए भारतीय खिलाड़ियों को दिखाता है। साथ में की गयी टिप्पणी का तात्पर्य यह होता है कि अब भारतीय खिलाड़ी हार से ज़्यादा प्रभावित होने लगे हैं जबकि पहले ऐसा नहीं था और हार जाने के बावजूद वे आपस में चुहलबाज़ी करते रहते थे।

आशीष नंदी भले ही क्रिकेट को अर्धनारीश्वर प्रवृत्तियों वाले खेल के रूप में (जिसमें बल्ला मर्द की और गेंद औरत की भूमिका निभाती है) अर्थात भारतीय स्वभाव के ज़्यादा नज़दीक खेल के रूप में व्याख्यायित करते रहें, पर खिलाड़ियों के पूर्ण पुरुष बनने पर भी हिन्दी लेखन ख़ासा चिंतित है। वह सचिन तेंदुलकर के विवाह के मौक़े पर उम्मीद जताता है कि आज वह पूर्ण पुरुष बन जायेगा। पुरुषत्व की दूसरी भूमिका परिवार के मुखिया की होती है और हिन्दी लेखन को इस मामले में अज़हरुद्दीन और संदीप पाटिल जैसे खिलाड़ियों के आचरण पर आपत्ति है। आख़िर इन खिलाड़ियों ने 'परिवार तोड़ा, तलाक़ लिया, खेल डुबाया, देश डुबाया'।

ज़ाहिर है कि हिन्दी के क्रिकेट लेखन और टीवी प्रसार ने इस खेल को निर्मल आनंद का स्रोत नहीं रहने दिया है। खेल अब निजी धरातल पर सांस्कृतिक और दैहिक स्वैरकल्पनाओं की फ़सल नहीं उगाता। अगर यह कहीं संभव रह गया है तो सिर्फ़ कविता की दुनिया में हीः

तभी दूसरे छोर से प्रकट होता है वह
अश्वारोही जैसा तेज़ फिर भी मानो चाँद पर चलता हुआ
काल सी पोशाक में जैसे चोगा उड़ रहा हो पीछे
फेंकता है वह गेंद सिर झटक कर
उसका पंजा झलकता है एक पल के लिए
कनपटी और जबड़े की रेखाएँ उभरती हैं
आँखें धसीं हुईं इसलिए सिर्फ़ काले विवर दिखते हैं
उसके दाँत चमके थे एक बार देखा हुआ सा लगता है फिर भी
कौन है पोशीदा वह जिसका मुक़ाबला मैंने पहले कभी नहीं किया।

.....

फिर अंधेरे में ही उसके काले नक़्श पहचान कर कहता हूँ
वेल बोल्ड सर
पिच मैदान बुझी बत्तियाँ अँधेरा स्टेडियम
सब जैसे नीचे होते जाते हैं तब तलक
फिर वह गेंद फेंकता रहता है मेरे हाथों में और मैं वापस उसे
जब हम ओझल होते चलते हैं
कहीं और किसी अगले दौर के एकल खेल के लिए

आभार और संदर्भ:

हालाँकि यह लेख लिखने की योजना बहुत दिनों से थी लेकिन इसे लिखवाने का फ़ौरी श्रेय रविकांत को जाता है जिन्होंने समय सीमा निर्धारित करके मुझे लिखने के लिए मजबूर किया। सामग्री जुटाने में कई मित्रों और परिचितों ने मदद की। मैं उन सबका शुक्रगुज़ार हूँ। क्रिकेट में राष्ट्रवाद और भूमंडलीकरण की ताक़तों द्वारा उसके दोहन में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका का परिप्रेक्ष्य विकसित करने में माइक मार्क्यूजी, शारदा उग्र, बोड़िया मजूमदार, सुभयु बनर्जी, राजगोपाल अभयनायके, शर्मिला टैगोर, आई.एस. बिंद्रा, क्रोकर स्नो जूनियर, अमृत माथुर, कैथरीन ज़ुन, स्टीफन विसिंक, हर्ष भोगले, फ्रांकोइ गोतिये, संदीप बामज़ई, रामचंद्र गुहा, उमर कुरैशी, साईं सुरेश शिवस्वामी और चंदन मित्रा के लेखों और टिप्पणियों से काफ़ी मदद मिली। लेख के विश्लेषण और तात्पर्यों की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ मेरी है। पुस्तकीय स्रोत इस प्रकार हैः

1. प्रभाष जोशी का समूचा खेल संबंधी लेखन इंडियन एक्सप्रेस समूह के हिन्दी दैनिक *जनसत्ता* में प्रकाशित हुआ है। खेलों पर उनके तीन लेख उनकी रचनाओं के संकलन *मसि कागद* में भी प्रकाशित हुए हैं। यह किताब प्रभात प्रकाशन, दिल्ली ने 1990 में छापी थी.
2. विष्णु खरे, *सब की आवाज़ के पर्दे में* (कविता संकलन), राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1994.
3. आशीष नंदी, *द ताओ ऑव क्रिकेटः ऑन गेम्स ऑव डेस्टिनी एंड डेस्टिनी ऑव गेम्स,* वाइकिंग, 1989.
4. सी.एल.आर. जेम्स, *बियॉन्ड द बाउंडरी,* डरहम, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993.
5. एड्रियन बियर्ड, द *लैंग्वेज ऑव स्पोर्ट्स, इंटरटेक्स्ट सीरीज़,* रटलेज, न्यूयार्क, 1998.
6. अर्जुन अप्पादुरई, *मॉडर्निटी ऐट लार्जः कल्चरल डाइमेंशंस ऑव ग्लोबलाइज़ेशन,* यूनिवर्सिटी ऑव मिनेसोटा प्रेस, चौथा मुद्रण, 1998.

मास मीडिया और साहित्य

मनोहर श्याम जोशी

मैंने अपना साहित्यिक होश सन् 50 के आस-पास के उस दौर में सम्हाला जिसमें हाथीदाँत-मीनार छाप आधुनिकता और सर्वहारा छाप क्राँतिकारिता दोनों ही अपने पूरे उरूज पर थीं। हम तरुण साहित्यकार उनके प्रेमी थे। अपने अकेलेपन में उनको याद कर-कर के लिखा करते थे और जो भी लिखते थे गोया उनको रिझाने के लिए ही लिखते थे। लखनऊ कॉफ़ी हाउस में दूसरे नौजवान लेखकों के साथ-साथ मैंने भी अक्सर उनकी सोहबत की — ज़्यादातर बारी-बारी से, एकाध मर्तबा साथ-साथ भी। ये दोनों हसीनाएँ ही हमारी प्रेरणाएँ थीं। कुछ बुज़ुर्ग साहित्यकारों की तरह चर्खा छाप या रामायण छाप राष्ट्रीयता जातीयता नामक दो अन्य प्रेरणाओं के साथ दूध जलेबी खाते हुए स्वाधीनता संघर्ष या धर्मपुराण की चर्चा करने का हम नौजवानों में ज़रा भी उत्साह न था।

उसी दौर में पश्चिम में मास मीडिया उभर रहा था और मास कल्चर का ज़िक्र चल रहा था। तमाम देशों में सिनेमा अपनी उठान पर था और अगर एक तरफ़ हॉलीवुड की शक्ल में यह घटियापन और बाज़ारूपन का प्रतीक ठहराया जा रहा था तो दूसरी तरफ़ उसे सातवीं कला का दर्जा देने की बात चल पड़ी थी। सिनेमा की लोकप्रियता का तब भी यह आलम था कि भले ही हम साहित्यकारों के हीरो प्रेमचंद और निराला रहे हों, आम जनता के हीरो अशोक कुमार और दिलीप कुमार ही थे। यह हक़ीक़त हमें बहुत परेशान किया करती लेकिन साथ ही हम इस बात को भी अच्छी तरह समझते थे कि साहित्य-कला बिरादरी में सिनेमा-बायोस्कोप की बात व्यंग्य-विनोद के स्तर पर तो की जा सकती है लेकिन उसके बारे में गद-गद या गुरु-गम्भीर चर्चा करना हमें आधुनिकता और क्राँतिकारिता की नज़रों में गिरा ही सकता है।

अगर कभी हम कॉफ़ी हाउस में अपनी प्रेरणाओं के सामने सिनेमा के भी कलात्मक या क्राँतिकारी होने की बात उठा देते तो वे हमें आँख तरेर कर देखतीं और सावधान करतीं कि दुनिया के हर देश में फ़िल्मी दुनिया साहित्यिक प्रतिभा के लिए क़ब्रगाह साबित हुई है। मेरे साहित्यिक गुरु अमृतलाल नागर उन्हीं दिनों फ़िल्मी दुनिया से लौट कर आए थे। जब मैंने उनसे बम्बई जाने के लिए आशीर्वाद और सिफ़ारिशी चिट्ठी देने का अनुरोध किया तब उन्होंने कहा, "सिनेमा से जुड़ोगे तो घटिया लेखक कहलाओगे, हो जाओगे। मैं खुद वहां जाकर पछता रहा हूँ"। नागर जी हिन्दी के अन्य साहित्यकारों की तरह फ़िल्मी दुनिया में विफल नहीं रहे थे। लेकिन एक लोकप्रिय माध्यम में उनका

सिनेमा की लोकप्रियता का तब भी यह आलम था कि भले ही हम साहित्यकारों के हीरो प्रेमचंद और निराला रहे हों, आम जनता के हीरो अशोक कुमार और दिलीप कुमार ही थे।

सफल होना ही उन्हें उस आधुनिक साहित्यिक बिरादरी के लिए घटिया बनाये दे रहा था जिसे नागर जी इंटेलेक्चुअलता की मारी हुई बताते थे। इस इंटेलेक्चुअलता का इतना दबदबा था कि स्वयं नागर जी ने बम्बई से लौटने के बाद लोकप्रिय लेखन से भरसक परहेज़ बरता।

जो हो लोकप्रियता का सवाल मेरे-जैसे कुछ नौजवान लेखकों को ख़ासा परेशान करता था। हम सोचते कि अगर आधुनिकता का लोकतंत्र से चोली-दामन का रिश्ता है तो वह लोकप्रियता के ख़िलाफ़ कैसे हो सकती है? यह कोई जलन का मामला है या सिद्धान्त का? अगर हम आधुनिकता से पूछते तो वह हमारी नादानी पर हँसती और कहती जो चीज़ लोकप्रिय हो वह आधुनिक कैसे होगी भला? अरे आम आदमी की समझ में तो वही आएगा जो उसके लिए जाना-पहचाना होगा। और जाना-पहचाना वही होगा, जो पहले से चला आ रहा हो। और जो पहले से चला आ रहा होगा वह आधुनिक कैसे होगा? आधुनिकता यह भी कहती है कि मैं लोकतंत्र-विश्वासी हूँ इसीलिए लोकप्रियता का विरोध करती हूँ। जिस तरह लोकतंत्र हर व्यक्ति को सामन्ती बंधनों से मुक्त करके अपना जीवन अपने ढंग से जीने की छूट दिलाता है उसी तरह वह हर रचनाकार को परम्परा की बेड़ियों से मुक्त करके अपने ढंग से और अपने संतोष के लिए सिरजने की छूट दिलवाता है।

लोकतंत्रात्मक देशों में मास मीडिया के बढ़ते हुए बोलबाले की ओर जब आधुनिकता का ध्यान दिलाया जाता तब वह आह भरकर इसे आम जनता के दिमाग़ी तौर से सामन्ती संस्कृति से ही जुड़े रह जाने का एक दुखद सबूत ठहराती। वह दावा करती कि देख लेना एक दिन, जन-जन को निर्बन्ध बनाकर मैं ही सच्ची क्राँति कराउँगी। हम आधुनिकता के मुँह से युरोप के 'अवाँगार्द' के क़िस्से सुनते जिसके सदस्य आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों के ही मामले में सबसे आगे थे। हम सुनते और सोचते कि हम भी इसी तरह की आधुनिक क्राँतिकारिता से जुड़ेंगे। हमें ख़ुशी होती कि रूसी क्राँति की सांस्कृतिक अगुवाई भी अवाँगार्द से जुड़े लोगों ने की थी।

लेकिन जब हम क्राँतिकारिता के साथ चर्चा करते तब वह अवाँगार्द की आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों के आगे सवालिया निशान जड़ देती। वह कहती कि सर्वहारा की तानाशाही अनुशासन से चलती है, उच्छृंखलता से नहीं। जिसे तुम लोग प्रयोगवाद कह रहे हो, वह पूँजीवाद का ही एक मुखौटा है। इसीलिए सोवियत संघ में न कला में प्रयोग करने की इजाज़त दी गयी है और न जीवन-पद्धति में। तुम्हें जीवन में प्रयोग करने से दिलचस्पी हो तो स्वीडन जाओ और कला में प्रयोग करने से दिलचस्पी हो तो फ्रांस। क्राँतिकारी सोवियत संघ का ह्रासोन्मुख पूँजीवादी संस्कृति से कुछ लेना-देना नहीं है।

क्राँतिकारिता हमें बहुत फ़ख़्र के साथ बताती, "क्लासिकी नृत्य, संगीत, नाटक और साहित्य का सोवियत संघ में जितना प्रचार-प्रसार है उतना और कहीं नहीं। बैले और ऑपेरा अपने शुद्धतम रूप में सोवियत संघ में ही देखे जा सकते हैं इस बात को पूँजीवादी देशों में समीक्षक तक स्वीकार करते हैं"। अगर हम शंका करते कि क्या क्लासिकी, सामन्ती भी नहीं है? तो क्राँतिकारिता कहती कि क्लासिकी का मतलब श्रेष्ठ है, सामन्ती नहीं। सोवियत संघ ने यह साबित कर दिखाया है कि जनरुचि परिष्कृत होती है और जनसाधारण भी श्रेष्ठ संस्कृति के ग्राहक होते हैं।

क्राँतिकारिता के सामने लोकप्रियता का सवाल उठाना तो और भी बड़ा जोखिम मोल लेना साबित होता। अगर कोई उससे कह देता कि जनवादी होते हुए भी वह लोकप्रियता का विरोध कैसे कर सकती है? तो वह कहती कि "जिसे तुम लोकप्रिय संस्कृति समझ रहे हो वह लोकमानस से नहीं, पूँजीवादी मण्डी से उपजी है। तुम्हें मास कल्चर और फ़ोक कल्चर में तमीज़ करनी चाहिए। लोक संस्कृति को सोवियत संघ में जितना बढ़ावा दिया जा रहा है, उतना दुनिया में और कहीं नहीं"। हमें थोड़ी-सी बौद्धिक परेशानी होती कि लोक संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है या किसी तरह जीवित रखा जा रहा है? और क्या यह लोक संस्कृति भी सामन्ती कृषि-व्यवस्था से नहीं जुड़ी हुई है? और अगर क्राँति ने उस व्यवस्था को समाप्त कर दिया तो इस संस्कृति को जीवित रखने में क्या तुक है?

जो हो, इप्टा के अनुयायियों के रूप में हम भी लोक संस्कृति को जीवित रखने के लिए प्रयत्नशील रहे। हमने अल्मोड़ा में उस दौर में शहरी और उच्च वर्गीय कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों के साथ हुड़का लेकर वे लोक

गीत गाने शुरु किये, जो गाँव वाले तब भी खुद गाना छोड़ रहे थे। यही नहीं, हमने अपनी आधुनिक कविता में लोक गीतों का रूप-रंग झलकाने की भी भरसक कोशिश की। मगर इस सब के बावजूद लोकप्रिय संस्कृति का सवाल हमें कचोटता ही रहा। कभी-कभार किसी वामपंथी का ऐसा लेख भी पढ़ने को मिल जाता जिसमें मास कल्चर को ही जनवादी सिद्ध किया गया होता। सिनेमा से आकृष्ट मेरे-जैसे लेखक इस तरह का लेख पढ़कर बहुत उत्साहित होते और उसे फ़ौरन कॉफ़ी हाउस में ले जाकर क्राँतिकारिता की सेवा में प्रस्तुत करते। मुझे इस तरह के एक लेख की अब भी याद है जो *ऐंगुइन न्यू राइटिंग* में छपा था और जिसमें अमेरिकी जैज़ संगीत को जनवादी और क्राँतिकारी ठहराया गया था। लेकिन क्राँतिकारिता ऐसी चीज़ों को 'डिविएशन' की मारी हुई बुद्धि की देन ठहरा देती।

उसी दौर में जर्मनी से भागकर अमेरिका गये वामपंथी बुद्धिजीवियों ने अमेरिकी रेडियो और सिनेमा का अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि मास कल्चर पूँजीवादी मण्डी में सक्रिय शक्तियों की देन है और इसका एकमात्र उद्देश्य पूँजीवादी यथास्थिति को बनाये रखना है। पूँजीवाद का गढ़ होने के नाते अमेरिका ही इसका गढ़ है और अमेरिका मास कल्चर के ज़रिए सारी दुनिया पर अपनी चौधराहट क़ायम करना चाहता है। मास कल्चर का नाम उस दौर में ही कोकाकोला कल्चर रखा गया और हमारी बिरादरी ने 'कोलोनाइज़ेशन' के वज़न पर एक नया फ़िक़रा चला दिया 'कोकाकोलोनाइज़ेशन'। आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों ही हमें बताने लगीं कि कोकाकोलोनाइज़ेशन क्राँति-विरोधी, व्यक्ति-स्वतंत्रता-विरोधी और बुद्धि-विरोधी जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा करता है। उसका माहौल बुद्धिजीवियों के लिए दमघोंटू साबित होता है। यही वजह है कि महायुद्धों के बीच के दौर में अमेरिकी साहित्यकारों और कलाकारों की एक पूरी पीढ़ी अपना देश छोड़ कर आधुनिकता और क्राँतिकारिता के गढ़ फ़्रांस में जा बसी थी।

जब हममें से कोई यह ज़िक्र छेड़ता कि फ़्रांसीसी लेखक फ़्लॉबेयर को यह आधुनिक और क्राँतिकारी फ़्रांस दमघोंटू मालूम हुआ था तब आधुनिकता कह देती कि फ़्लॉबेयर आधुनिक लेखक है ही नहीं और क्राँतिकारिता सार्त्र के हवाले से कहती कि फ़्लॉबेयर घटिया उपन्यासकार है। फ़्लॉबेयर जितना ही ह्रासोन्मुखी ठहरा दिया जाता, इस्पहानी चिंतक ऑर्तेगा इ गास्से जिसने आधुनिक प्रगतिशील युरोप को दुर्गतिशील ठहरा दिया था। जिसका कहना था कि लोकतंत्र भीड़तंत्र का ही पर्याय है। उसके अनुसार आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों ही वैश्य संस्कृति को, व्यक्ति केन्द्रित दृष्टि को बढ़ावा दे रही हैं और जीवन-दर्शन के केन्द्र से खुदा को हटाकर बनिये को बैठा रही हैं। इसके चलते संस्कृति में घटियापन का बोलबाला होना अनिवार्य है। उससे बचने का एक ही उपाय है कि विद्धानों की सामन्तशाही स्थापित की जाए।

फ़्लॉबेयर और गास्से ने अपने लोकतंत्र विरोधी होने की कहीं कोई पर्दादारी नहीं की थी लिहाज़ा आधुनिकता और क्राँतिकारिता लोकतंत्र के नाम पर हमें सावधान करतीं कि इन दोनों के विचारों से हम गुमराह न हों। ख़ैर, तो इस तरह अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही मैं मास मीडिया को लेकर ज़बरदस्त दोचित्तेपन का शिकार हो गया। अपनी तमाम इंटलेक्चुअलता के बावजूद मेरे लिए यह मान सकना कठिन था कि जन-रंजन करना अपने में ही कोई घटिया काम हो सकता है और अगर आधुनिक और क्राँतिकारी होने के नाते मैं लोकप्रियता को घटियापन की निशानी मानने को मजबूर हूँ तो फिर गास्से की तरह लोकतंत्र को भी घटियापन का जनक मान लेने से मुझे क्यों रोका जा रहा है? अगर लोकतंत्र में मास मीडिया होगा और वह ग्राहक की पसन्द पर चलेगा तो अनिवार्य रूप से 'लो ब्राउ' का उसमें बोलबाला नहीं होगा? आख़िर जन-जन तो 'हाइ ब्राउ' हो नहीं सकते।

मैं मनोरंजन-विश्वासी था, इस नाते मास मीडिया का मुरीद और ग्राहक दोनों था। मैं फ़िल्में देखता था, फ़िल्मी गीत गुनगुनाया करता था, पत्र-पत्रिकाएँ बहुत उत्साह से पढ़ता था, रेडियो सुनता था और लोकप्रिय उपन्यास पढ़ता था। उस ज़माने में टेलीविज़न नहीं था लेकिन अगर होता तो निश्चिय ही मेरी शाम उसके आगे कटा करती। मेरे सामने सवाल पेश हुआ कि जिस चीज़ का मैं ग्राहक हूँ उस चीज़ का उत्पादक होने में मुझे परहेज़ क्यों होना चाहिए? और लेखक तथाकथित हाइ ब्राउ और लो ब्राउ दोनों की तरह की चीज़ों का आनन्द ले सकता है तो दोनों तरह की चीज़ें ख़ुद लिख क्यों नहीं सकता? इस सिलसिले में मुझे ग्राहम ग्रीन का उदाहरण बहुत प्रेरणाप्रद मालूम होता जो

गम्भीर उपन्यासों के बीच-बीच मनोरंजक उपन्यास भी लिख रहे थे। लेकिन इस बारे में भी साहित्यिक बिरादरी की मान्यता बहुत स्पष्ट थी कि अगर कोई गम्भीर लेखक व्यावसायिक लेखन करेगा तो वह मास मीडिया को सुधार नहीं सकेगा, हाँ, मास मीडिया उसके साहित्यकार को मार ज़रूर देगा। इसलिए हर गंभीर लेखक का कर्त्तव्य है कि अपनी प्रतिभा को श्रेष्ठ साहित्य के लिए सुरक्षित रखे और मास मीडिया के घटिया काम को घटिया लेखकों के लिए छोड़ दे। गोया उसे और-और घटिया बनते रहने दे।

मुझे यह सवाल भी परेशान करता था कि अगर मैं आधुनिक हूँ तो मुझे आधुनिक युग के अभिव्यक्ति के माध्यमों से जुड़ने में परहेज़ क्यों करना चाहिए? अगर सारी आधुनिकता उद्योग-व्यापार से जुड़ी है तो हम संस्कृति के उद्योग-व्यापार पर ही नाक-भौं क्यों सिकोड़ें? लेकिन साहित्यिक बिरादरी को यह तर्क न तब स्वीकार था न अब है। वह यह मानकर चलती है कि जिस चीज़ की पहुँच जितनी व्यापक होगी, वह उतनी ही घटिया होगी। इस तर्क के अनुसार पत्रकारिता साहित्य से घटिया है, सिनेमा पत्रकारिता से घटिया है और टेलीविज़न सिनेमा से भी घटिया है। साहित्य में भी कविता सर्वश्रेष्ठ है, बशर्ते वह कवि सम्मेलनों में श्रोताओं को रिझाने के लिए न लिखी गयी हो। आधुनिक कथा-साहित्य मशीन युग में लोकरंजन के माध्यम के रूप में ही उभरा था इसलिए सदियों से चली आई कविता के मुक़ाबले में उसे कमतर ही माना जा सकता था। कवि कथाकारों से ऊँचे क़िस्म के प्राणी हुआ करते थे और सारे साहित्यिक आन्दोलन कविता के ही इर्द-गिर्द घूमते थे। यही कारण है कि उस दौर में जहाँ एक ओर मेरे-जैसे मूलतः कथाकार भूलतः नये कवि बनने की कोशिश करते रहे, वहाँ दूसरी ओर कथाकारों को भी अंततः अपने अलग आन्दोलन गढ़ने पड़े।

इसे एक विडम्बना ही कहा जायेगा कि अपनी दोनों प्रेरणाओं यानी आधुनिकता और क्राँतिकारिता से मिली मास-मीडिया-विरोधी दीक्षा के बावजूद मुझे लिखना शुरु करने के तुरन्त बाद "पापी पेट की ख़ातिर" मास मीडिया से जुड़ जाना पड़ा। आधुनिकता और क्राँतिकारिता के चक्कर में पढ़ाई-लिखाई की ओर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण मैं अपनी पीढ़ी के बहुत से लेखकों की तरह डॉक्टर साहब कहलाने का और विश्वविद्यालय से वेतन पाने का हक़दार नहीं बन सका। स्कूल-कॉलेज में पढ़ाना ही उस दौर से स्त्रियों और साहित्यकारों के लिए निरापद व्यवसाय समझा जाता था। स्त्रियों के प्रसंग से भले ही यह नज़रिया थोड़ा बदला हो, साहित्यकारों के लिए अब भी मुदर्रिसी ही उत्तम व्यवसाय है।

तो रोज़ी-रोटी की ख़ातिर मैं बहुत संकोच में क्रमशः पत्रकारिता, रेडियो, फ़िल्म और टेलीविज़न से जुड़ा। संकोच से इसलिए कि आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों ही पुरातनपंथियों से इस मामले में पूरी तरह सहमत थीं कि लक्ष्मी और सरस्वती में बुनियादी वैर है। मुझे और भाषाओं का तो पता नहीं लेकिन हिन्दी लेखकों की बिरादरी में ऐसा ही माना जाता रहा कि लेखक रेवोलूशनरी ही नहीं होता, ऋषि भी होता है और ऋषि किसी के आगे हाथ नहीं फैलाता। हमारी पीढ़ी ने अपनी लघु पत्रिकाओं में राज्याश्रय और सेठाश्रय के विरोध में बाक़ायदा आन्दोलन चलाया था। अफ़सोस कि तब भारत भवन नहीं बना था इसलिए न्यासाश्रय जैसी कोई निरापद चीज़ नहीं थी। यों न्यासाश्रय को भी प्रच्छन्न राजाश्रय और सेठाश्रय ठहराया जा सकता है। तरुण क्राँतिकारी लेखक ठहरा भी रहे हैं।

प्रसंगवश, जिस समय मैं मास मीडिया से जुड़ा था साहित्यिक बिरादरी के लिए सबसे घटिया सिनेमा, उससे कुछ कम घटिया रेडियो और उससे कम घटिया ऐसी पत्रकारिता थी जो साहित्य को या अपनी राजनीतिक विचारधारा को समर्पित हो। लेकिन लोकप्रिय पत्रकारिता सिनेमा जितनी ही घटिया मानी जाती थी और उसमें काम करना तो दूर उसके लिए कुछ लिख देना एक सेठाश्रय लेने का नमूना ठहराया जाता था। जब डॉक्टर केसकर की कृपा से साहित्यकार आकाशवाणी में सलाहकारों के पद पर नियुक्त किये गये तो रेडियो पहले

> मैं मनोरंजन-विश्वासी था, इस नाते मास मीडिया का मुरीद और ग्राहक दोनों था। मैं रेडियो सुनता था और लोकप्रिय उपन्यास पढ़ता था। उस ज़माने में टेलीविज़न नहीं था

जितना अछूत नहीं रह गया। इसी तरह बाद में लोकप्रिय पत्रकारिता भी पहले जितनी घृणित नहीं रही। ख़ासकर तब जब सेठ व्यावसायिक मिर्च-मसाले के बीच आपको यहाँ-वहाँ थोड़ा साहित्य परोसने की और अपनी आन्दोलनबाज़ी करने की छूट दे रहा हो। सेठाश्रय-विरोधी मुहिम छेड़ने वाले डॉक्टर भारती का स्वयं एक लोकप्रिय पत्रिका *धर्मयुग* का सम्पादक बन जाना अन्ततः हिन्दी भाषी इंटेलेक्चुअलों के लिए लोकप्रिय पत्रकारिता को अछूत से सवर्ण की श्रेणी में ले आया। साप्ताहिकों में ही नहीं, दैनिकों में भी हिन्दी के नये कवि अख़बारी गद्य में कूजने लगे। इसी तरह सिनेमा के क्षेत्र में समान्तर अथवा कलात्मक सिनेमा का मोर्चा खुल जाने से हिन्दी लेखक बिरादरी के लिए यह माध्यम भी उतना अस्पृश्य नहीं रहा। इस समय घटियापन का अन्यतम प्रतीक है टेलीविज़न और दुर्भाग्य से मैं उसी से जुड़ा हुआ हूँ।

टेलीविज़न और तमाम बातों के अलावा इसलिए भी घटिया माना गया है कि उसकी पहुँच व्यापकतम है, गोया उसमें ऐसी ही चीज़ चल सकती है जो बहुसंख्य लोगों को पसन्द आ सकती हो। इससे कलावादी आधुनिकता को आपत्ति हो यह बात तो मेरी समझ में आती है लेकिन जनवादी क्राँतिकारिता को भी हो यह मेरी समझ से परे था और है। जनवादी लेखक मास मीडिया से जुड़ कर अपनी बात जन-जन तक क्यों न पहुँचाये? मैंने कॉफ़ी हाउस में क्राँतिकारिता का ध्यान इस ओर दिलाने की कोशिश की कि स्वयं कोकाकोला कल्चर के गढ़ अमेरिका में वामपंथी लेखक बड़ी तादाद में मास मीडिया से जुड़े हैं। उनकी उपस्थिति से ही अमेरिकी पत्रकारिता और लोकप्रिय सिनेमा का तेवर काफ़ी हद तक सत्ता प्रतिष्ठान विरोधी रह सका है। क्राँतिकारिता का कहना था कि मास मीडिया पूँजीवादियों के हाथ में है, इसलिए कुछ वामपंथी लेखकों के उससे जुड़ जाने के बावजूद अमेरिका में न कोई क्राँति हुई है, न हो सकेगी। उस दौर में हमें यह नहीं पता था कि क्राँतिकारिता के बावजूद सोवियत संघ में भी कोई क्राँति नहीं हुई।

प्रसंगवश, भारत में भी उसी दौर में उर्दू के अनेक प्रगतिशील कवि और लेखक रेडियो-सिनेमा से जुड़ रहे थे। इसके चलते बम्बइया निर्माताओं को अमीर बनाने वाली ज़्यादातर फ़िल्में कुछ भोंडे ढंग से ही सही ग़रीब के पक्ष में अमीरों के विरोध में आवाज़ें उठाती रहीं। उर्दू के तरक़्क़ीपसन्द शोअरा की नज़्में और ग़ज़लें फ़िल्मी धुनों में बंध कर अवाम तक पहुँच सकीं। लेकिन इसे हमारी इंटेलेक्चुअल बिरादरी ने उर्दू वालों के शिल्पी अधिक और बुद्धिजीवी कम होने का प्रमाण माना। हमारी बिरादरी को यह तर्क स्वीकार नहीं हुआ कि लेखक बुद्धिजीवी होने के साथ-साथ शिल्पी भी है और उसे अपने शिल्प का जनसाधारण के ज्ञानवर्धन और मनोरंजन के लिए उपयोग करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। शिल्प या भाषा की बात करना ही इंटलेक्चुअलता की कमी का प्रमाण हमारी बिरादरी में माना जाता रहा है। एक गोष्ठी में जब मैंने शिल्प और भाषा की बात उठाई तब एक जनवादी युवक लेखक ने मुझे याद दिलाया कि शिल्प तो मोची को भी आता है और लच्छेदार बातों से रिझाना तो रंडी भी जानती है। विचारणीय है कि शिल्प को घटिया ठहराने वाला यह तेवर कहीं "मनुवादी" तो नहीं है? क्या इसी मनुवाद के चलते हिन्दी में नाटकों का अभाव हुआ है? कथा साहित्य में कहानीकारों की भरमार है और उपन्यासकार बहुत कम नज़र आते हैं? कवियों की आबादी निर्बाध बढ़ रही है और उनकी महत्वाकाँक्षा बौने पेड़ की फुनगी पर बैठी एक अदद छोटी-सी चिड़िया तक पहुँच जाने की कोशिश में ही इतनी पस्त होती जा रही है कि पड़े-पड़े शास्त्रीय संगीत सुनने और आधुनिक कलाकारों के चित्र देखकर ही संतोष कर ले रही है।

आज भी हिन्दी साहित्यकारों की बिरादरी में आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों उसी तरह की बातें कर रहीं हैं जिस तरह की मैंने अपना साहित्यिक होश सम्हालते समय लखनऊ कॉफ़ी हाउस में सुनी थीं। हाल में कुछ तरुण

फ़िल्में देखता था, फ़िल्मी गीत गुनगुनाया करता था, पत्र-पत्रिकाएँ बहुत उत्साह से पढ़ता था, लेकिन अगर होता तो निश्चय ही मेरी शाम उसके आगे कटा करती।

लेखकों ने मुझे देर रात तक यह समझाने के लिए जगाये रखा कि घटिया मास मीडिया से जुड़े होने के कारण ही आप घटिया उपन्यासकार साबित हुए हैं। हिन्दी साहित्यकार बिरादरी का समय मानो सन् 50 के आसपास थम गया है। उसमें बैठने वाले को इस बात का कोई आभास ही नहीं होता कि इस दौरान आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों के ही गढ़ ढह गये हैं।

क्राँतिकारिता के आराध्य देश सोवियत संघ में गोया क्राँति-विरोधी क्राँति हो गयी है और ऐसा कहा जा रहा है कि इसे लाने में उसी कोकाकोला कल्चर का बहुत बड़ा हाथ है जिसे कभी क्राँतिकारिता कोसा करती थी। कुछ वर्ष पहले न्यूयॉर्क के एक सेमिनार में कुछ अमेरिकी बुद्धिजीवियों ने यह स्थापना की कि अमेरिकी मास कल्चर उदारता, समानता और लोकतंत्र के सिद्धान्तों से बुनियादी तौर पर जुड़ा हुआ है। यही वजह है कि सोवियत संघ में कम्युनिस्ट तानाशाही का जो गढ़ ठंडी लड़ाई के योद्धा नहीं ढहा सके उसे अमेरिकी मास कल्चर ने टेलीविज़न की तरंगों पर सवार होकर देखते ही देखते मिट्टी में मिला दिया। ग्लास्नॉस्त के दौर में जब मैं सोवियत संघ गया तब मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ कोकाकोला कल्चर अपना लेने को ही खुलापन आ जाने का अकाट्य प्रमाण माना जा रहा है। सोवियत संघ को नाज़ है कि उसकी युवा पीढ़ी भी पंक वेशभूषा धारण करने लगी है, जंक फूड खाने लगी है, कोला पीने-पिलाने लगी है और पॉप संगीत गाने-बजाने लगी है। जो कुछ ही दशकों पहले तक पूँजीवादी संस्कृति की सड़ांध मानी जाती थी, वही खुलेपन और ताज़गी की बयार बताई जा रही है। क्राँतिकारिता ने लोकप्रियता के आगे हथियार डाल दिये हैं।

कुछ ऐसी ही उलट-फेर इस बीच आधुनिकता के ख़ेमे में भी हो चली है। आधुनिकता के अलग और अनूठे होने के दावे के आगे सवालिया निशान लगाते हुए उत्तर आधुनिकता नामक एक नयी हसीना ने रूढ़िवाद का विरोध करने वाली आधुनिकता को स्वयं एक रूढ़ि ठहरा दिया है। वह हाइ ब्राउ और लो ब्राउ को गड्ड-मड्ड करने में बड़ा आनन्द ले रही है। उसे आधुनिक लेखक को अपने औरों से कुछ ऊपर और अलग मानने वाले तेवर मंज़ूर नहीं हैं। प्रॉटेस्टेन्ट परम्परा से उपजी युरोपीय आधुनिकता और क्राँतिकारिता दोनों की केन्द्रीय सत्ता को उत्तर आधुनिकता ने चुनौती दे डाली है और परिधि में उपेक्षित पड़ी हुई ग़ैर-युरोपीय परम्पराओं को केन्द्र में लाने का क्रम शुरु कर दिया है। वामपंथी बिरादरी बड़े पैमाने पर उत्तर-आधुनिकता से जुड़ गयी है और अब उसकी इंटेलेक्चुअलता ने मार्क्सवादी की जगह उत्तर आधुनिक मुहावरा अपना लिया है।

उत्तरआधुनिकता ने एक ओर साहित्य को पौराणिक और लोक कथाओं वाला तेवर देना शुरु किया है तो दूसरी ओर यह जताने की कोशिश की है कि मास कल्चर आधुनिक नागर समाज की लोक-संस्कृति ही है। उत्तर आधुनिकता मनमोहन देसाई की फ़िल्म कहानियों को भारत की वाचिक परम्परा से जोड़ सकती है। या बम्बइया फ़िल्मों का संस्कृत नाटकों से तादात्म्य बैठा सकती है। वह यहाँ तक कह सकती है कि जिसे आज प्राचीन युगों का श्रेष्ठ साहित्य ठहराया जा रहा है वह स्वयं अपने युग के मास कल्चर का एक अंश था। इस सिलसिले में इतालवी विद्वान उम्बर्तो इको ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि यूनानी त्रासदियाँ और शेक्सपीयर के नाटक अपने-अपने युग के सोप ऑपेरा थे। आम जनता उन्हें उसी चाव और लगाव से देखती थी जैसे वह आज टेलीविज़न धारावाहिकों को देखती है और कोई अचरज नहीं जो आज के सोप ऑपेरा कभी आगे चलकर विद्वानों द्वारा गम्भीर अध्ययन के विषय मान लिये जाएँ।

> एक गोष्ठी में जब मैंने शिल्प और भाषा की बात उठाई तब एक जनवादी युवक लेखक ने मुझे याद दिलाया कि शिल्प तो मोची को भी आता है और लच्छेदार बातों से रिझाना तो रंडी भी जानती है। विचारणीय है कि शिल्प को घटिया ठहराने वाला यह तेवर कहीं 'मनुवादी' तो नहीं है?

हम इस आत्यन्तिक स्थापना से भले ही सहमत न हों उत्तर आधुनिकता की यह बात मानने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि आधुनिकता के दौर से पहले संस्कृति को लोकप्रिय और श्रेष्ठ दो बिल्कुल अलग-थलग हिस्सों में भी कभी नहीं बाँटा गया था। यह भी कभी नहीं कहा गया था कि बौद्धिक लोगों का रचा हुआ साहित्य तमाम पुराने साहित्य से और जनता की समझ में आने वाले साहित्य से अलग और अनूठा होता है। आधुनिकता की मुसीबतें बढ़ाते हुए स्वयं मास कल्चर ने उसका अनूठापन, उसका प्रयोगवादी तेवर अपना लिया है। आज हालत यह है कि विज्ञापन और एमटीवी जैसे युवाओं के बीच लोकप्रिय कार्यक्रम प्रयोगधर्मिता के मामले में आधुनिक साहित्य से बीस ही हैं उन्नीस नहीं।

मुसीबत-दर-मुसीबत यह है कि इस दौरान मास मीडिया ने हाथी दाँत की मीनारों में रहने वाले आधुनिकता के अनुयायियों को मास मीडिया में नज़र आने वाले सेलेब्रिटीज़ बन जाने के लिए मजबूर कर दिया है। मास मीडिया से विज्ञापित होना उनके लिए आवश्यक बन चला है। अब कोई भी बुद्धिजीवी अपनी एकांत साधना से उतनी प्रसिद्धि नहीं पाता जितनी कि अपना चेहरा मास मीडिया की चकाचौंध में बनाये रखने से। बक़ौल शख़्से "सेलेब्रिटिज़ आर फ़ेमस फ़ॉर बीइंग फ़ेमस", यानी आज की दुनिया में जाने-माने लोग जाने-माने जाने के लिए ही जाने-माने जाते हैं। मक़बूल फ़िदा हुसैन भारत के सबसे जाने-माने कलाकार बन पाते हैं क्योंकि और तमाम बातों के साथ-साथ वह कभी नंगे पाँव रहने के कारण तो कभी सफल फ़िल्म *हम आपके है कौन* की सफल नायिका माधुरी दीक्षित के चित्र आँकने के कारण चर्चा में रह पाते हैं। खुशवंत सिंह इसलिए सबसे ज़्यादा जाने-माने पत्रकार हो जाते हैं कि वह अपने स्तम्भ में चौंकाने वाली बात कहने का कोई मौक़ा नहीं चूकते।

मास कल्चर, और मण्डी का, आधुनिकता और उपभोक्ता संस्कृति का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। इस दौर में जिस तरह *हम लोग* के सहारे 'मैगीनूडल्स' बिकते हैं उसी तरह 'मैगीनूडल्स' के सहारे *हम लोग* चलता है। ऐसे ही आज विदेशों में कई लोकप्रिय टॉक शो हाइ ब्राउ सेलेब्रिटीज़ उनमें चेहरा दिखाते रहने के कारण ही चल पाते हैं। तो क्या आश्चर्य जो साहित्य, कला और वाणिज्य के मास मीडिया नामक इस संगम पर बौद्धिक साधु-संतों का अच्छा जमावड़ा होने लगा है। प्रकाशक लेखक कोशिश कर-कर के लोकप्रिय पत्रकारिता के पृष्ठों पर और टेलीविज़न के पर्दे पर जगह दिलवा रहे हैं। उसे किसी भी तरह ख़बरों में ला रहे हैं। इस तरह गम्भीर साहित्य भी बेस्ट सेलर लोकप्रिय साहित्य की टक्कर में आ पा रहा है।

जब एक मर्तबा न्यूयॉर्क टाइम्स की बेस्ट सेलर की लिस्ट में कथा साहित्य में सलमान रुश्दी की *सैटनिक वर्सेज़* और ग़ैर-कथा साहित्य में स्टीफ़ेन हॉकिन्स की *अ ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ टाइम* जैसी दुरूह पुस्तकें सर्वोच्च स्थान पा गईं तब अमेरिका में सर्वेक्षण करके पता चला कि इन्हें ख़रीदने वालों में से एक प्रतिशत से भी कम ने इन्हें पूरा पढ़ा है। चार प्रतिशत ने थोड़ा-सा पढ़ कर अलग रख दिया, बाक़ी 95 प्रतिशत ने पढ़ने के लिए लिया ही नहीं है। सजाने के लिए अथवा किसी को भेंट कर देने के लिए ख़रीदा है और इसलिए ख़रीदा है कि इनके लेखक मास मीडिया में चर्चा के विषय रहे थे। रुश्दी इसलिए कि कट्टरपंथी मुसलमानों ने उन्हें मारने के लिए फ़तवा दिया, और हॉकिन्स इसलिए कि वह जवानी के क़दम रखते ही ऐसी बीमारी के शिकार हो गये कि उनके अंगों को लकवा मारता चला गया और अब वह बोल भी मशीनों की मदद से पाते हैं।

लेखक और उसकी कृति को ख़बर बनाने की सबसे मज़ेदार घटना थी मूलतः कवि विक्रम सेठ को, जिनका पहला उपन्यास भी पद्य में ही था, दूसरे उपन्यास *सूटेबल बॉय* के लिए एक कल्पनातीत रक़म पेशगी में दे दिया जाना। इसकी वजह से यह उपन्यास प्रकाशन से पूर्व ही मास मीडिया की मेहरबानी से विश्वव्यापी ख्याति पा गया और निहायत ही भारी-भरकम तथा किसी हद तक उबाऊ होने के बावजूद शीर्षस्थ बेस्ट सेलर बन सका और प्रकाशक को भारी मुनाफ़ा दिला गया।

विचारधारा की समाप्ति और अर्थ के वर्चस्व की बात आज तो सर्वत्र की जा रही है लेकिन बरसों पहले पी.इ.एन. के पेरिस सम्मेलन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए आर्थर मिलर इस ओर ध्यान दिला चुके थे कि पूँजीवादी व्यवस्था में कलाकारों और साहित्यकारों के विप्लवी-विद्रोही तेवर महज़ एक शगल का दर्जा रखते हैं सत्ता-प्रतिष्ठान के लिए। सत्ता-प्रतिष्ठान बग़ावत करने वाले लेखकों को सज़ा नहीं, इनाम देता है। उन्होंने कहा था कि यह वह दौर है जिसमें समाज की तमाम मान्यताओं की ऐसी-तैसी फेरने वाला, तमाम तरह के छिटपुट अपराधों के लिए क़ैद

किया गया ज़्यां ज़ेने एक प्रतिष्ठित लेखक सार्त्र द्वारा खोजा जाता है और फिर मीडिया इस अजूबे को जमूरा बनाकर दुनिया के सामने पेश करता है कि तालियाँ बजाओ और इस पर पैसा बरसाओ। अगर मिलर की बात आगे बढ़ाएँ तो कहा जा सकता है कि मास मीडिया क्राँतिकारियों को इस आशय से आमंत्रित करता है कि वे कोई क्राँतिकारी बात कहकर लोगों को चौंकाएंगे। "इस विश्वास से बुलाया जाता है कि उनकी क्राँतिकारी बात कहने से कोई क्राँति हो नहीं सकती। आर्थर मिलर जिस बदलते माहौल की ओर इशारा कर रहे थे उसमें सजावटी कला का विरोध करने वाले आधुनिक क्राँतिकारी कलाकारों की कृतियाँ अमीरों के घरों-दफ़्तरों की सजावट के लिए मुँह माँगे दामों पर बेची और ख़रीदी जाती हैं। आधुनिक और क्राँतिकारी कलाकार मण्डी में अपना 'भाव बनाने के लिए मास मीडिया से अपना प्रचार करवाते हैं'।"

मेरे कहने का मतलब यह हरगिज़ न लगाया जाए कि मैं मास कल्चर का पक्षधर हूँ या कि मैं मास मीडिया को साहित्यकार के लिए स्वर्ग मानता हूँ। सच तो यह है कि साहित्यकार के लिए मास मीडिया अक्सर नर्क ही साबित होता है। जब तक पूँजी ख़ुद उनकी ही न हो या कि उसे पूरी रचनात्मक स्वतंत्रता न दी गयी हो तब तक उसे अपने मन के मुताबिक़ नहीं बल्कि दूसरों के कहे के मुताबिक़ लिखना पड़ता है, भले ही मास मीडिया में सरस्वती के साधक की भूमिका केन्द्रीय होती है तो भी लक्ष्मी के साधक उसे सबसे नीचे आसन पर बैठाते हैं। सफलता का श्रेय उसे कभी नहीं मिलता, हाँ विफलता का श्रेय अनिवार्य रूप से उसे ही दिया जाता है। अगर वह स्वयं निर्माता या पत्र-पत्रिका का मालिक बन जाए तो भी उसे मण्डी के तक़ाज़ों को स्वीकार करना पड़ता है — बाज़ार क्या चाहता है यह बताने का ठेका बाज़ार के तथाकथित जानकारों ने ले रखा है? ग़ुलामी पूंजी निवेश और विक्रय के विशेषज्ञ होते हैं जो पुस्तक और पापड़, टेलीविज़न धारावाहिक और टूथपेस्ट, अख़बार और अचार, फ़िल्म और फ्रूट जूस सभी को बेचने वाली मानते हैं। आजकल भारत के एक प्रतिष्ठित समाचारपत्र समूह में अपनी पत्र-पत्रिकाओं को विभिन्न 'ब्रान्ड' मानने और पुकारने का रिवाज चल पड़ा है।

जिस हद तक मास मीडिया व्यवसाय ही नहीं, कला भी है उस हद तक 'ब्रान्ड' की सफलता का आश्वासन देने वाला कोई फ़ॉर्मूला न निकल सकता है, न निकाला जा सकता है। अगर निकाला जा सकता होता तो ये जानकार एक के बाद एक हिट प्रोग्राम या फ़िल्में देते चले जाते। तो भी उन्होंने कुछ मान्यताएं बना रखीं हैं जिन्हें वे लेखकों पर लादते हैं। उदाहरण के लिए उनकी मान्यता है कि सेक्स और हिंसा वाले कथानक अधिक सफल होते हैं क्योंकि सेक्स और हिंसा सार्वभौम हैं। हर देशकाल में बिक सकती हैं, चल सकती हैं। इसी तरह उनकी मान्यता है कि कथानक में ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिए जो क्षेत्र विशेष की भाषा संस्कृति में बहुत ज़्यादा रचा बसा हो। क्योंकि उस दशा में फ़िल्म या टेलीविज़न कार्यक्रम क्षेत्र विशेष से बाहर बिल्कुल पिट जाएगा। आजकल हमारे यहाँ टेलीविज़न कार्यक्रमों का चुनाव करने में विज्ञापन एजेंसियों की बहुत बड़ी भूमिका है। इन एजेंसियों में काम करने वाले ज़्यादातर लोग पूरी तरह शहरी ही नहीं पश्चिमी रंग में भी रंगे हुए हैं। कोजागरी पूर्णिमा पर खीर खाए जाने का प्रसंग आने पर वे सिर खुजाते हुए पूछते हैं कि "वाट्स दैट मिस्टर जोशी", फिर जवाब को ऐसी दिलचस्पी से सुनते हैं मानो किसी अज्ञात क़बीले की अद्भुत रस्म के बारे में सुन रहे हों। फिर शंका करते हैं कि इस तरह की चीज़ सारी दुनिया में क्या, सारे देश में ही नहीं समझी जाएगी। शंका करते हैं और कटवा देते हैं।

इन विशेषज्ञों की यह मान्यता है कि अमीर ग्राहक तक पहुँचना ज़रूरी है और अमीर ग्राहक स्वयं उनकी तरह पूरी तरह पश्चिमी रंग में रंगा हुआ है। उनका बार-बार आग्रह होता है कि 'प्रॉडक्ट' को 'अपमार्केट', गोया पश्चिमी रंग में रंगे हुए अमीर भारतीयों को पसन्द आ सकने लायक़ बनाया जाए। कथानक अमीरों के बारे में हो और वे सब के सब अंग्रेज़ीदां अमीर हों। हर सोप ऑपेरा में हर दृश्य किसी पात्र को किसी अन्य पात्र द्वारा थप्पड़ रसीद कर दिये जाने और 'बास्टर्ड' या 'बिच' का ख़िताब अता फ़रमाए जाने के साथ ख़त्म किया जाए। ये विशेषज्ञ बार-बार दावा करते हैं कि पिछले दशक में दर्शक की रुचि में ज़बरदस्त परिवर्तन आ चुका है। अब वह *हम लोग* नहीं *सैण्टा बार्बरा* चाहता है। यह बात अपनी जगह पर किसी हद तक सही हो भी सकती है किन्तु जैसा मास मीडिया का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों ने बताया है कि बदलते समाज का मास मीडिया पर जितना असर होता है उससे ज़्यादा असर समाज को बदलने में मास मीडिया का होता है और मास मीडिया 'अपमार्केट' होने की कोशिश

में हमेशा उन परिवर्तनों को अपनाता है जो समाज के मुट्ठीभर अत्यन्त अमीर, आधुनिक, निर्बन्ध लोगों की बिरादरी में उसे होते नज़र आते हैं। गोया अगर भारत में चन्द अमीर शहरी लोग देसी अभिवादन भूल कर 'हाय-बाय' कहना शुरु कर देते हैं तो मास मीडिया यह मान लेता है कि समाज के सभी वर्गों में ऐसा ही होता है और अगर नहीं होता है तो होना चाहिए। फिर देखते-देखते मास मीडिया के प्रभाव में समाज के अन्य वर्ग भी अमीर और आधुनिक, शहरी समझे जाने के लालच में 'हाय-बाय' करने लगते हैं। अमेरिका के एक समाजशास्त्री ने कुछ वर्ष पहले इस ओर ध्यान दिलाया था कि जहाँ मतगणना के आँकड़ों के अनुसार अमेरिका में अविवाहित माताओं का अनुपात 20 प्रतिशत है वहाँ अमेरिकी सोप ऑपेराओं में यह प्रतिशत 90 हो चला है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि मण्डी के इशारों पर नाचने वाला मास मीडिया ज़्यादातर कचरा ही परोसता है। इस सम्बन्ध में अमेरिकी लेखक-दिग्दर्शक-हास्य अभिनेता वुडी ऐलेन की यह उक्ति अक्सर उद्धृत की जाती है कि हॉलीवुड के साफ़-सुथरा होने का राज़ यह है कि वहाँ फ़िल्म और टेलीविज़न निर्माता सारे कूड़े-कचरे को अपनी कृतियों में बदल देते हैं। कोकाकोला कल्चर के दुष्प्रभाव के बारे में जितनी चिन्ता भारत-जैसे देशों के बुद्धिजीवी व्यक्त कर रहे हैं उतनी ही, बल्कि उससे भी ज़्यादा चिन्ता स्वयं अमेरिकी बुद्धिजीवी व्यक्त कर चुके हैं। किन्तु उनकी चिन्ताओं के बावजूद यह संस्कृति अमेरिका में ही नहीं उन देशों तक में हावी होती जा रही है जहाँ प्रशासनिक और राजनैतिक स्तर पर बाक़ायदा इसका विरोध किया गया है। जैसा कि फ़्रांस के एक बुद्धिजीवी ने झल्लाकर कहा था, ख़ुद फ़्रांसीसी टेलीविज़न अमेरिकी टेलीविज़न जैसे कार्यक्रम बनाना चाहता है और कचरा कार्यक्रम बनाने के मामले में अमेरिकी हमसे कहीं बेहतर हैं। आख़िर दूसरे देशों के लोग भी अमेरिकी कार्यक्रम या उनकी नक़ल पर बने कार्यक्रम क्यों देखना चाहते हैं? अमेरिकी धारावाहिक *डैलेस* के अपने देश में लोकप्रिय होने पर जब डेनमार्क के बुद्धिजीवियों ने हो-हल्ला मचाया तब एक अमेरिकी टिप्पणीकार ने कहा कि हम लोगों ने आपके दर्शकों के सिर पर पिस्तौल तान रखी है कि *डैलेस* देखें!

कोकाकोला कल्चर के अमेरिकी पक्षधरों का कहना है कि अमेरिका आज सारे विश्व के लिए लोकतंत्र, समानता, आशावादिता और भरपूर उपभोग का प्रतीक बन चुका है। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद संस्कृति के क्षेत्र में युरोप की केन्द्रीय सत्ता नहीं रही है। और अब अमेरिका का ही वर्चस्व है। साम्यवादी सोवियत संघ के विघटन के बाद मुक्त मण्डी, मुक्त व्यक्ति और उन्मुक्त उपभोग की पैरवी करने वाले अमेरिकी पूँजीवाद का सारी दुनिया में डंका बजने लगा है। अमेरिकी मास कल्चर की विश्वव्यापी स्वीकृति बताती है कि सारे विश्व में युवा पीढ़ी ने आधुनिक अमेरिकी जीवन दर्शन शिरोधार्य कर लिया है। अमेरिकी मास कल्चर जवानी के जोश और जवानी की उम्मीदों का कल्चर है। अमेरिकी मास मीडिया के कार्यक्रम सारी दुनिया में इसलिए देखे और सराहे जा रहे हैं कि जिस तरह स्विट्ज़रलैण्ड वाले सबसे अच्छी घड़ियाँ बनाते हैं उसी तरह अमेरिका वाले सबसे अच्छा युवा-स्वप्न बनाते हैं।

अमेरिकी मास कल्चर के पक्षधरों का कहना है कि वह इसलिए विश्वव्यापी हो सका है कि अमेरिका में सारे विश्व का, अमेरिकी, एशियाई, अफ़्रीकी और युरोपीय मूल के लोगों का संगम हुआ है। वे इस ओर ध्यान दिलाते हैं कि अमेरिकी लोकप्रिय संगीत अलग-अलग उपमहाद्वीपों के संगीतों को अपने में समाये हुए है। इन लोगों के अनुसार कोकाकोला कल्चर सार्वभौम युवा कल्चर है। उसे आज की दुनिया के युवाओं की लोक-संस्कृति का दर्जा दिया जा सकता है और उसकी फ़िल्मों और टेलीविज़न धारावाहिकों को मिथक पुराण का। इस तरह के दावे हद से हद आंशिक रूप से ही सत्य माने जा सकते हैं। लोक-संस्कृति और मिथक-पुराण लोक-मानस से सहज ही उत्पन्न होते हैं और स्थायी होते हैं। मास कल्चर लोक से ऊपर और अलग बैठी मनोरंजन उद्योग की सत्ता द्वारा जनरुचि के बारे में अपनी अटकलों के आधार पर निर्मित और प्रसारित किया जाता है। उसे फ़ैशन की तरह चलाया जाता है और फ़ैशन की तरह ही वह आया-गया हो जाता है। इसी तरह जहाँ इसमें कोई संदेह नहीं कि जन-जन तक पहुँच रखने वाला और ताज़ा विचार और समाचार पहुँचाने वाला मास मीडिया लोकतंत्र का प्रतीक है। वहाँ मास मीडिया का संचालन करने वाली मण्डी अर्थव्यवस्था की यह स्थापना भ्रामक है कि 'पब्लिक इण्ट्रेस्ट इज़ पब्लिक इण्ट्रेस्ट' गोया जनरुचि ही जनहित को परिभाषित करती है। जो लोगों को पसन्द आता है वह लोगों के लिए अच्छा होता है। जैसा कि अमेरिकी टिप्पणीकार ने यह कहा थाः

जनता की रुचि तो नशीले पदार्थ खाने में हो सकती है लेकिन नशीले पदार्थों का चलन जनहितकारी तो नहीं कहा जा सकता।

जब बात यहाँ पहुँचती है तब मर्यादा और संस्कृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की बात उठती है। समाजशास्त्री कहते हैं बिना वर्जना और निषेध के कोई संस्कृति नहीं हो सकती। उनकी बातें सुनकर दिमाग़ में इस तरह के फ़िक़रे उठते हैं कि संस्कृति की सीता वर्जनाओं की लक्ष्मण रेखा के मध्य ही शोभायमान होती है। ज़ाहिर है कि इस तरह के फ़िक़रों से रूढ़िवाद की गन्ध आती है और सारी आधुनिकता रूढ़िवादी-विरोधी रही है। जो लोग कोकाकोला कल्चर को विश्वव्यापी युवा कल्चर कहते हैं वे इस अर्थ में सही हैं कि यह कल्चर युवा मन की सारे सामाजिक बन्धन तोड़ने, परम्परा के पिजंड़े से उड़ निकलने और अपना जीवन अपने ढंग से जीने की ललक की अभिव्यक्ति करता है। यह पहली संस्कृति है जो युवाओं को समर्पित है और किसी भी प्रकार का अनुशासन स्वीकार नहीं करती और पुराने संस्कारों को तिलांजलि देने में विश्वास रखती है। अफ़सोस कि यही आधुनिक जीवन दृष्टि का सार भी है। अनुशासन या संस्कार की बात करते ही इंसान पोंगापंथी नज़र आने लगता है। लोकतंत्र और निर्बंध मण्डी अब पर्यायवाची बन चले हैं और निर्बंध मण्डी में संस्कृति पर माँग और खपत के अलावा और कोई प्रतिबन्ध लगाने नहीं दिया जा सकता है। यों भी सेंसर की बात करना व्यक्ति स्वातंत्र्य के उस आग्रह के ख़िलाफ़ पड़ता है जो आधुनिक जीवन दृष्टि का आधार है।

तो मास मीडिया और ग्लोबल इकॉनमी की मेहरबानी से सारा विश्व एक बड़ा सा बाज़ार बनता जा रहा है और उसमें पुराने, जिन्हें सामन्ती भी कह सकते हैं, मानकों के अनुसार बाज़ारू संस्कृति पनप रही है। भारत जैसे देशों में जो कोलोनाइज़ेशन के दौर में पहले ही सांस्कृतिक हीन-भावना से ग्रस्त हो चुके थे, इस कोकाकोलोनाइज़ेशन के इस दौर में दुहरी हीन-भावना पनप रही है और उनका मास मीडिया बाज़ारू भी अपने ढंग से नहीं हो पा रहा है। ध...ध...ध...ध...धड़ल्ले से अमेरिकी हुआ जा रहा है। साहित्य और वाणिज्य के, कला और वाणिज्य के इस तालमेल से मैं भी उतना ही दुखी हूँ जितना कि मेरे वे बन्धु जो मास मीडिया से अपना दामन बचाकर रख सके हैं। लेकिन अगर वाणिज्य सर्वव्यापी है तो लेखक अपनी गुज़र-बसर के लिए क्या करे? क्या वह सरकार से या सेठों से कहे कि सामन्तों की तरह आप भी अपने दरबार में साहित्यकार, संगीतकार, कलाकार वग़ैरह पालें? न्यास बना दें जो उनकी गुज़र-बसर का बढ़िया प्रबन्ध कर दें? क्या इन न्यासों के सांस्कृतिक सामन्तों की ग़ुलामी किसी रचनाकार के लिए मण्डी की ग़ुलामी से बेहतर हो सकती है? या कि पीठों की स्थापना करवा के समस्त रचनाकारों के लिए निरापद व्यवसाय अध्यापन की व्यवस्था करवा ली जाए? संस्कृति को अकादमियों और विश्वविद्यालयों तक सीमित करा दिया जाए?

मास मीडिया के घटियापन पर नाक-भौं सिकोड़ने वाली हाइ ब्राउ बिरादरी क्या यह चाहती है कि जनता-छाप मास मीडिया उसकी इंटेलेक्चुअल-छाप कृतियों का प्रसारण करे? टेलीविज़न से फ़िल्मी गीतों की जगह नई कविता का प्रसारण होता रहे? क्या इस मान में इसे विरोधाभास नज़र नहीं आता? या कि इस बिरादरी का यह कहना है कि लोकप्रिय माध्यम से लोकप्रिय कार्यक्रम तो हों लेकिन बेहतर ढंग के? लोकतंत्र के झंडाबरदार की हैसियत से मास मीडिया जन-जन का जो मनोरंजन करे वह स्वस्थ श्रेणी का हो? और इस मनोरंजन के साथ-साथ वह ज्ञान-वर्द्धन शिक्षण-प्रशिक्षण का दायित्व भी सम्भाले। अगर ऐसा है तो अनिवार्य हो जाता है कि वे स्वयं मास मीडिया से जुड़ें और मण्डी के तमाम दबावों के बीच भी बेहतर कार्यक्रम बनायें और उन्हें लोकप्रिय कर दिखायें।

अगर यह बिरादरी यह मानती है कि संस्कृति को मण्डी के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता तो क्या वह मास मीडिया के सरकारी बना दिये जाने के पक्ष में है या कि वह संस्कृति की सीता को बाज़ार व्यवस्था के रावण द्वारा हरण कर लिया जाना रोकने के लिए लक्ष्मण रेखाएँ खींचने वाली सेंसर-व्यवस्था के पक्ष में है? क्या वह सेंसर-व्यवस्था को लोकतंत्र के विरुद्ध नहीं मानती? लक्ष्मण रेखाओं का निर्धारण वह किस पर सौंपना चाहती है? विवेकहीन दफ़्तरशाही पर? मत-मतान्तरों से ग्रस्त राजनीति पर कि आज लाल कृष्ण आडवाणी का सेंसर चल रहा है तो कल कांशीराम का? आज नरसिम्हाराव का सेंसर चल रहा है तो कल ज्योति बसु का? या कि वह लोकतंत्र के विरोधी फ़्लॉबेयर और ऑर्तेगा इ गास्से की तरह यह मानने लगी है कि राज-काज का संचालन प्रबुद्ध विद्वत समाज को सौंप देना चाहिए? इस विद्वत सभा का चुनाव कौन करेगा?

इसमें संदेह नहीं कि अपमार्केट के नाम पर मास मीडिया अपसंस्कृति का प्रचार-प्रसार कर रहा है लेकिन उससे निपटने के लिए पुरातनपंथियों का "सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" का मंत्र जितना नाकाफ़ी है उतना ही नाकाफ़ी है आधुनिकता क्राँतिकारिता का फ़्रॉयडम्-मार्क्सम-अवाँ गार्दम का जाप। कोकाकोला कल्चर से लड़ने के लिए उस आधुनिक युरोपीय जीवनदर्शन को हथियार नहीं बनाया जा सकता जो स्वयं कोकाकोला कल्चर का जीवनदाता है। किन्तु साथ ही उससे लड़ने के लिए सामन्ती अतीत में भी लौटा नहीं जा सकता। तो किया क्या जा सकता है? शायद केवल यह आशा कि बाज़ारू संस्कृति को देने वाली वह बाज़ार अर्थव्यवस्था, जो एक विद्वान के अनुसार लोकतंत्र का आभूषण नहीं आत्महत्या का औज़ार है, लोक द्वारा उसी तरह अस्वीकार कर दी जाएगी जिस तरह सर्वहारा की तानाशाही अस्वीकार कर दी गयी। व्यक्ति-केन्द्रित पश्चिमी चिन्तन की जगह कोई समष्टि केन्द्रित और समग्रतावादी जीवन-दर्शन उभरेगा और मास मीडिया की मेहरबानी से उसे विश्वव्यापी स्वीकृति मिलेगी।

इसमें संदेह नहीं कि अपमार्केट के नाम पर मास मीडिया अपसंस्कृति का प्रचार-प्रसार कर रहा है लेकिन उससे निपटने के लिए पुरातनपंथियों का "सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" का मंत्र जितना नाकाफ़ी है उतना ही नाकाफ़ी है आधुनिकता क्रांतिकारिता का फ़्रॉयडम्-मार्क्सम-अवाँ गार्दम का जाप।

'लुगदी' साहित्य के अँधेरे-उजाले

प्रभात रंजन

"वेद प्रकाश शर्मा वह लेखक है जिसने 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' के इस युग में उपन्यास-जगत का परचम गर्व से फहरा रखा है।"

(ट्रिकः वेद प्रकाश शर्मा, तुलसी पॉकेट बुक्स, मेरठ)

हिन्दी में 'लोकप्रिय उपन्यास' कहते ही अंग्रेज़ी के 'पल्प फ़िक्शन' से अनूदित संज्ञा 'लुगदी साहित्य' का स्मरण हो आता है जो उस विधा का उपहास उड़ाता ही लगता है। बरसों गम्भीर-साहित्य के अध्ययन-शोध की अकादमिक 'अपब्रिंगिंग' ने अपने अन्दर यह हिचक भी भर दी है कि उस तरह के साहित्य पर बातचीत से बचना ही चाहिए, 'महान' साहित्य का अध्ययन-स्मरण ही करते रहना चाहिए; कि उसके अलावा भाषा का सारा का सारा लेखन उसी 'साहित्य' का भ्रष्ट रूप है — और लोकप्रिय उपन्यासों की विधा तो उसका भ्रष्टतम रूप है। बचपन में पढ़े गये इन्द्रजाल कॉमिक्स के पात्र फ़ैण्टम, जादूगर मैनड्रेक, बहादुर, 'राजन-इकबाल सीरीज़' (जिसके लेखक एस.सी. बेदी होते थे) आदि-आदि साहित्य का स्मरण हम बचपन के 'अपराधों' के तहत ही करते चले जाने के आदी हो जाते हैं, 'गम्भीर' हिन्दी साहित्यिकों के बीच बैठते-बैठते।

कम से कम मेरी पीढ़ी के हिन्दी पढ़ने वालों के भीतर उनकी शिक्षा ने यह बात तो बिठा ही दी है कि 'लोकप्रिय' पर बात करना 'सस्तापन' है। 'बाज़ारू' है। वैसे भी आज हिन्दी जनपद में साहित्येतर बातचीत ऐसे होती

है मानो वह अवान्तर-प्रसंग हो। 'हिन्दी साहित्य' का दायरा सिकुड़ता ही गया है। वहाँ आज भी 'मैं टीवी नहीं देखता', 'बम्बइया फ़िल्में बकवास होती हैं' जैसे मुहावरे ऐसे चल रहे हैं मानो वे सनातन सत्य हों।

ऐसे माहौल में रहते काम करते 'लोकप्रिय' को लेकर एक हिचक पैदा हो जाती है। 'लोकप्रिय उपन्यासों' पर मेरे इस लिखे में मेरी बरसों की 'उच्च-भ्रू' हिचक भी शामिल है।

पुस्तक-समीक्षा की पत्रिका *पुस्तक-वार्ता* के अंक-4 में वागीश शुक्ल ने 'पुस्तक और मैं' स्तम्भ में लिखा है, "जहाँ तक गम्भीर साहित्य की बात है, मेरा ख़याल हमेशा से यह रहा है कि यह नामकरण ही ऐसी कमज़ोरी को बताता है जिसके तहत रसिकों के सामने जाने से साहित्य कतराता है। हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में हम इसे कवि-सम्मेलन और पारिवारिक पत्रिका जैसी संस्थाओं के ह्रास के रूप में देख सकते हैं। पहले राही मासूम रज़ा की ग़ज़लें जासूसी दुनिया जैसी पत्रिका में छप सकती थीं और निराला जी की कविता के नीचे ही असली तान्त्रिक अंगूठी का विज्ञापन छप सकता था। अब हम देखते हैं कि प्रथमतः तो पत्रिका को पारिवारिक बनाने के नाम पर उसमें से साहित्य निकल जाता है, अर्थात अच्छी कविताएँ, अच्छी कहानियाँ नहीं छापी जातीं, और बाद में पत्रिका बन्द कर दी जाती है"। प्रसंगवश, ऊपर के उद्धरण में राही मासूम रज़ा का ज़िक्र आया है, तो उस क्रम में यह बात भी आती है कि राही साहब ने 'जासूसी दुनिया' के लिए छद्म नाम से जासूसी उपन्यास भी लिखे थे।

कब बच्चन की *मधुशाला*, आचार्य चतुरसेन के उपन्यास *वैशाली की नगरवधू*, *वयम् रक्षामः*, शिवानी की *स्वयंसिद्धा*, *चौदह फेरे* आदि पढ़ना 'अगम्भीर' लगने लगा याद नहीं। इन पुस्तकों की स्मृतियों के साथ 'हिन्द पॉकेट बुक्स' की 'घरेलू लाइब्रेरी योजना' का नाम जुड़ा हुआ है, जिसने हिन्दी प्रकाशन जगत में पॉकेट बुक्स छापकर क्रान्ति पैदा कर दी थी। 'घरेलू लाइब्रेरी योजना' के तहत पाँच रुपए के वीपीपी से एक-एक रुपए की छह पुस्तकें भेजी जाती थीं। पोस्टेज फ़्री होता था। इसकी सदस्य संख्या पौने छह लाख तक पहुँची थी। हर महीने औसतन अड़तीस हज़ार पैकेट भेजे जाते थे, तीन अस्थायी पोस्ट ऑफ़िस हिन्द पॉकेट बुक्स के कंपाउण्ड में 'घरेलू लाइब्रेरी योजना' के पैकेट भेजने के काम में लगे रहते थे।

'घरेलू लाइब्रेरी योजना' की आज हिन्दी में वह पीढ़ी भी चर्चा नहीं करती जो उसका 'सस्ता साहित्य' पढ़कर बड़ी हुई। उस योजना में डॉ. राधाकृष्णन से लेकर गुलशन नन्दा, कुशवाहा कान्त तक सारे लेखक घर-घर पहुँचे। जवाहर लाल नेहरू की *मेरी कहानी* और *हिन्दुस्तान की कहानी* भी हिन्दी में पहले-पहल वहीं छपी, तो टैगोर की *गीतांजलि* उसके पहले सेट का हिस्सा बनी। *झील के उस पार*, जो कि गुलशन नन्दा का उपन्यास था, जिस पर धर्मेन्द्र, मुमताज़ अभिनीत फ़िल्म उसी नाम से बनी थी, का पाँच लाख का एडीशन छपा था, जो कि बहुत दिनों तक एक रेकॉर्ड ही रहा। 'घरेलू लाइब्रेरी योजना' से कमलेश्वर, मोहन राकेश, रमेश बक्षी, *सूखा पत्ता* उपन्यास के लेखक अमरकान्त, *वंशज* उपन्यास की लेखिका मृदुला गर्ग जैसे साहित्यिक भी घर-घर पहुँचे। कर्नल रंजीत, कुशवाहा कान्त, रानू (जिनका असली नाम था आर.एच.ग्रे रानू), प्रेम वाजपेयी आदि के उपन्यास तो पहुँचे ही। अमृता प्रीतम भी ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने से पहले और बाद में 'हिन्द पॉकेट बुक्स' की 'स्टार' लेखिका रहीं और अगर उनको पंजाबी साहित्य का ज्ञानपीठ पुरस्कार न मिला होता तो हिन्दी के अनगिनत पाठकों के लिए यह रहस्य ही रह जाता कि अमृता प्रीतम मूलतः पंजाबी में लिखती थीं। उनकी आत्मकथा *रसीदी टिकट* की लोकप्रियता में भी 'हिन्द पॉकेट बुक्स' की 'घरेलू लाइब्रेरी योजना' का बड़ा हाथ था। उसी तरह बाद में गम्भीर साहित्य का अध्येता बनने के बाद यह बात समझ में आई कि कृश्न चंदर मूलतः उर्दू के लेखक थे। उन दिनों जैसे राजेन्द्र कुमार, शम्मी कपूर, जॉय मुखर्जी की फ़िल्मों में पहले-पहल कश्मीर के दर्शन हुए थे, तो कश्मीर की प्राकृतिक सुषमा का पहला वर्णन कृश्न चंदर की कहानियों में ही पढ़ा था जो कि 'हिन्द पॉकेट बुक्स' से छपा था। कृश्न चंदर का उपन्यास *एक गधे की आत्मकथा* जिसमें गधा प्रधान मंत्री नेहरू से मिलता है, भी 'हिन्द पॉकेट बुक्स' से ही छपा था और उनकी आत्मकथा *आधे सफ़र की पूरी कहानी* भी।

'हिन्द पॉकेट बुक्स' की 'घरेलू लाइब्रेरी योजना' ने उर्दू शायरी को भी घर-घर पहुँचाने का काम किया। *दीवान-ए-ग़ालिब* से लेकर फ़ैज़, इक़बाल, साहिर तक की शायरी छापने वाले उस सीरीज़ के संपादक थे प्रकाश पंडित। बाद में 'हिन्द पॉकेट बुक्स' के प्रकाशकों ने 'हिन्द पॉकेट बुक्स' को तो साहित्यिक कृतियों के लिए रख छोड़ा और लोकप्रिय उपन्यासों को छापने के लिए 'अभिनव पॉकेट बुक्स' शुरु की। प्रसंगवश, वेद प्रकाश शर्मा के

आरम्भिक दो उपन्यासों *भगवान नम्बर-२* और *शीशे की अयोध्या* को भी उसी प्रकाशन ने छापा था। 'राजहंस' उन रोमांटिक उपन्यासों के 'स्टार राइटर' थे जो 'अभिनव पॉकेट बुक्स' सीरीज़ से छपते थे।

प्रसंगवश, इन प्रकाशनों में पाठक को कितना महत्व दिया जाता था इसका अन्दाज़ा इस बात से भी होता है कि वेद प्रकाश शर्मा का उपन्यास *शीशे की अयोध्या* जब अभिनव पॉकेट बुक्स से छपा तो एक पाठक ने यह पत्र लिखा कि वह उपन्यास किसी और नाम से 'नीलम पॉकेट बुक्स' से छप चुका है। उसके बाद उस प्रकाशक ने 'बिकाऊ' होने के बावजूद वेद प्रकाश शर्मा को कभी नहीं छापा।

वह हिन्दी में 'पाठकों' का दौर था। उपन्यास, कथा-साहित्य के अलावा *सारिका* जैसी साहित्यिक पत्रिकाएँ थीं। *धर्मयुग*, *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* जैसी पारिवारिक पत्रिकाएँ थीं। *पराग*, *नंदन* आदि बाल-पत्रिकाएँ थीं। समाचार साप्ताहिक *दिनमान* तो था ही। इसके अलावा, *मनोहर कहानियाँ*, *सत्यकथा* जैसी पत्रिकाओं का बड़ा पाठक-वर्ग था ही। कुल मिलाकर पाठक-प्रधान दौर की वह आख़िरी ख़ुशनुमा याद है।

अपने बचपन के दिनों में भारत-नेपाल सीमा पर स्थित छोटे से क़स्बे सीतामढ़ी के कई गाँवों में मैंने ऐसी अल्मारियाँ देखी थीं जिन पर बाक़ायदा लिखा होता था 'घरेलू लाइब्रेरी योजना'। मुझे याद है कि बाद में मिथिला के एक गाँव में बात-बात में अपनी एक मुँहबोली भाभी के मुँह से 'भोगा हुआ यथार्थ' मुहावरा सुनकर मैं चौंक उठा था क्योंकि तब तक मेरा यह मानना था कि यह 'नयी कहानी' का मुहावरा है और इसीलिए साहित्यिकों के ही काम का है। मेरा ख़याल है कि हिन्दी में पाठकों को जोड़ने का इतना बड़ा प्रयास फिर कभी हुआ नहीं और देखते ही देखते 'हिन्द पॉकेट बुक्स' और उसकी योजना इतिहास का हिस्सा बनकर रह गयी।

बॉद्रीला ने 1983 में अपने निबन्ध 'द एक्सटेसी ऑफ़ कम्युनिकेशन' में लिखा है कि "दृश्य और दर्पण का अस्तित्व नहीं रहा, बल्कि अब एक 'स्क्रीन' है और उसका तंत्र है"। मीडिया ने हिन्दी परिदृश्य को प्रभावित किया है और उसे हम सामान्य तौर पर पारिवारिक पत्रिकाओं के साथ-साथ *सारिका* जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका, *दिनमान* जैसी समाचार-पत्रिका, ताज़ा झोंके की तरह परिदृश्य पर छाए *रविवार* जैसी पत्रिकाओं के बन्द होते चले जाने के दौर के रूप में देखते हैं।

हिन्दी का परिदृश्य ख़ासा 'गम्भीर' और साहित्यिक होता चला गया। उस दौर के लोकप्रिय साहित्य के परिदृश्य पर नज़र डालना दिलचस्प रहेगा। यह देखना कि जहाँ एक ओर *मनोहर कहानियाँ* और *सत्यकथा* जैसी अपराध-कथाओं की पत्रिकाओं की पहले प्रसार संख्या कम होती गयी और अन्ततः वे भी बन्द हो गयीं। उस दौर को आमतौर पर हिन्दी के 'साहित्यिक' माहौल के वेद प्रकाश शर्मा और उसके उपन्यास *वर्दी वाला गुंडा* के दस लाख के संस्करण की घटना से जोड़कर याद किया जाता है। उन दिनों हिन्दी के साहित्यिक माहौल में एक ओर जहाँ टीवी, बाज़ार, अपसंस्कृति की चर्चा थी, तो दूसरी ओर *वर्दी वाला गुंडा* की बिक्री का रोना था।

अंग्रेज़ी में एड्गर एलन पो और आर्थर कॉनन डॉयल के लेखन से शुरु हुए माने गए जासूसी कथा-लेखन का ब्रिटिश परम्परा में बड़ा सम्मान रहा है और अमेरिकी लेखन की भी वह प्रमुख विधा रही है। उर्दू में उस विधा के एक मौलिक लेखक इब्ने सफ़ी को पटकथाकार-गीतकार जावेद अख़्तर ने नसरीन मुन्नी कबीर के साथ बातचीत की अपनी पुस्तक *सिनेमा के बारे में* बड़े अदब से याद किया है। हिन्दी की जासूसी कथा-लेखन परम्परा एक ओर अंग्रेजी से प्रभावित रही है तो दूसरी ओर उस पर उर्दू का भी प्रभाव रहा है।

समकालीन लेखकों में *वर्दी वाला गुंडा* के लेखक वेद प्रकाश शर्मा और उन्हीं के समानान्तर दिल्ली के लेखक सुरेन्द्र मोहन पाठक की चर्चा की जा सकती है। यह धारा आमतौर पर 'थ्रिलर' या 'अपराध-कथाओं' की धारा है। यह जासूसी कथा धारा से ही निकली है। पिछली सदी के आख़िरी दशक में मेरठ में वेद प्रकाश शर्मा और राज पॉकेट बुक्स, मनोज पॉकेट बुक्स, राजा पॉकेट बुक्स और उनसे जुड़े 'बड़े' लेखक सुरेन्द्र मोहन पाठक के इर्द-गिर्द मेन रोड, बुराड़ी, दिल्ली - 110084 लोकप्रिय उपन्यासों के छापने-बेचने का एक अच्छा व्यवसाय-केन्द्र बनकर उभरा। मेरठ में वेद प्रकाश शर्मा ने 'तुलसी पॉकेट बुक्स' नाम का अपना प्रकाशन-गृह ही शुरु कर दिया। उन दिनों पाठकों को याद होगा कि वेद प्रकाश शर्मा की पुस्तकों के पीछे उनकी तस्वीर छपी होती थी जिनमें वे अपने आलीशान घर के सामने लम्बी-सी कार पर कुहनी टिकाए खड़े होते थे। कहा जाता है कि उस दौर में मेरठ न सिर्फ़ प्रकाशकों का, बल्कि 'छद्म लेखकों' का भी बहुत बड़ा केन्द्र बनकर उभरा। उस विधा के कुछ और 'लेखक नाम' जो आपको

बस स्टैण्ड, रेलवे स्टेशन या पत्र-पत्रिकाओं के किसी भी स्टॉल पर सहज ही दिखाई दे जाते हैं, वे ओम प्रकाश शर्मा, परशुराम शर्मा, कुमार कश्यप, अरुण कुमार शर्मा, गोपाल शर्मा, ओम प्रभाकर, विक्की आनन्द, अनिल मोहन, केशव पंडित, पवन, प्रकाश पाराशर, अरुण अंबानी, राकेश पाठक, मोना चौधरी, रीमा मोहन आदि हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में असंख्य ऐसे ही नाम जुड़ते चले जाते हैं।

इस विधा के लेखक हैं तो पाठक भी हैं। उन दोनों का आपसी रिश्ता है। लोकप्रिय लेखक अपने पाठकों का ख़ास ध्यान रखते हैं। अपने 'लक्ष्य पाठकों' तक पहुँचने के दिलचस्प तरीक़े ईजाद करते हैं। 'लेखक पाठक संवाद' एक ऐसा ही तरीक़ा है जिसमें लेखक अपने उपन्यासों, कथा-प्रविधि इत्यादि पर पाठकों के पत्रों के जवाब में अपनी बात रखते हैं और उपन्यासों में उसका प्रकाशन भी हो जाता है। टेलीविज़न के दर्शकों को याद होगा कि हिन्दी के आरम्भिक धारावाहिक *हमलोग* की हर कड़ी के आख़िर में अशोक कुमार दर्शकों से कथा-गुत्थी की चर्चा करते थे। आजकल हिन्दी के 'गम्भीर' प्रकाशक 'राजकमल प्रकाशन' ने 'लेखक पाठक संवाद' कार्यक्रम शुरु किया है जिसका उद्देश्य साहित्यिक माहौल की गम्भीरता को कुछ कम करना बताया जाता है।

बहरहाल, सुरेन्द्र मोहन पाठक और वेद प्रकाश शर्मा इस विधा के 'बिकाऊ' लेखकों में रहे हैं। आइए देखते हैं वे 'लेखक पाठक संवाद' की प्रविधि का इस्तेमाल किस प्रकार करते हैं। वेद प्रकाश शर्मा का एक उपन्यास है *केशव पंडित*। बाद में यह नाम तो इतना लोकप्रिय हुआ कि इस नाम से एक लेखक 'ब्राण्ड' भी बना। केशव पंडित के नाम से लिखे उपन्यास भी आज बाज़ार में उपलब्ध हैं। *केशव पंडित* उपन्यास 1986 में छपा था यानी तब जब *वर्दी वाला गुण्डा* नहीं छपा था – वेद प्रकाश शर्मा एक बड़ा 'ब्राण्ड नेम' नहीं बना था। उसमें पाठकों से संवाद क़ायम करने का उनका अन्दाज़ देखिए – "मेरे प्रेरक पाठकों, केशव पंडित हाज़िर है। इससे पूर्व प्रकाशित एक उपन्यास के कथानक से सम्बन्धित आपके पत्र मुझे निरन्तर मिल रहे हैं – आपमें से किसी को वह उपन्यास पसन्द नहीं आया है, आपकी सारी शिकायतें वाजिब हैं – उपन्यास वैसा ही लगेगा जैसा वक़्त ने मुझसे लिखवाया है – आप समझ सकते हैं कि अगर लेखक की मानसिक अवस्था ठीक न हो तो वह लिख क्या सकेगा? हालाँकि प्रचार माध्यमों से मैंने आपको पहले ही सचेत कर दिया था कि मेरे क़लम से निकलने वाले जिस अभूतपूर्व कथानक का इन्तज़ार आप बेसब्री से कर रहे हैं वह सिर्फ़ और सिर्फ़ *केशव पंडित* में दिया जा रहा है, इसके बावजूद अगर आप धोखा खा गये तो इसे मेरा दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। दरअसल हुआ यह है कि पिछले दिनों कुछ दुश्मनों ने मेरे खिलाफ़ एक साज़िश रची। लेखन क्षेत्र से मेरा नाम मिटा देना उनकी साज़िश का उद्देश्य था। मुझे यह दिखाना है कि बिकता सिर्फ़ वह लेखक है जिसे पाठक और बुकसेलर चाहें, पसन्द वे उपन्यास किये जाते हैं जिसमें लेखक अपने पढ़ने वालों को मनोरंजन का भरपूर मसाला देता है"।

(*केशव पंडित,* वेद प्रकाश शर्मा, राज पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1996) वेद प्रकाश शर्मा के इस 'लेखकीय' का शीर्षक है 'क्या रिवॉल्वर की नोक पर उपन्यास लिखा जा सकता है?'

उपन्यास के आख़िर में उनका नोट छपा है — “आप जानते हैं कि कानून एक जटिल विषय है और वैसा कथानक लिखना बेहद दुश्कर जैसा मैंने अपने इस उपन्यास के लिए बुना — जानने के लिए बेचैन हूँ कि मैं कितना सफल हो सका?”

क़ानून का ज्ञान अगर वेद प्रकाश शर्मा के लेखन की ताक़त रही है तो सुरेन्द्र मोहन पाठक की शक्ति रही है परिवेश की पकड़। सुरेन्द्र मोहन पाठक ने एक तरफ़ ‘थ्रिलर’ लिखे हैं जिसमें ‘विमल सीरीज़’ सबसे पॉपुलर रहा है। वैसे वे आजकल *सजीली दुनिया, छबीली दुनिया, अठरंगी दुनिया* शीर्षकों से ‘जोक बुक सीरीज़’ भी लिखने लगे हैं। कह सकते हैं कि इस तरह से उस विधा में और कोई लेखक इतना ‘वर्सेटाइल’ नहीं है। *आग का दरिया* 2002 में प्रकाशित उनका नवीनतम उपन्यास है जो कि ‘विमल सीरीज़’ का थ्रिलर है। प्रकाशक है बुराड़ी, दिल्ली के मनोज पॉकेट बुक्स। आइए पाठकों से संवाद बनाने की उनकी प्रविधि पर ग़ौर करते हैं —

> प्रस्तुत उपन्यास मेरी आज तक की पुस्तकाकार में प्रकाशित कुल रचनाओं के क्रम में 231वाँ है। *शेर की सवारी* तो एकाध अपवाद को छोड़कर हर किसी को बहुत पसन्द आया, इतना कि इसे ‘शेर शहकार’ का दर्जा दिया गया। उपन्यास के जिस प्रसंग ने मेरे समस्त पाठकों को मुग्ध कर दिया और जिसके लिए आपका लेखक बेमिसाल वाहवाही से नवाज़ा गया वो पंडित भोजराज शास्त्री का विमल के लिए आख्यान वाला था। प्रीतम पारवानी के कथनानुसार शंखनाद और घण्टियों की कसर रही तो रही वरना कथा-वाचन प्रसंग ने सत्संग का-सा समां बाँध दिया। इस सन्दर्भ में निवेदन है कि मैं हमेशा इस बात की झण्डाबरदारी करता रहा हूँ कि जासूसी उपन्यास फ़िल्मों की तरह केवल मनोरंजन का ज़रिया होते हैं लेकिन मेरे हर पाठक का मानना है कि शास्त्री जी वाले प्रसंग ने मेरे इस वक्तव्य को पूरी तरह झुठला दिया है। मुझे बहुत खुशी है कि मेरे सुबुद्ध पाठक ऐसी बातों का — जो जासूसी उपन्यासों में ज़रूरी तक नहीं समझी जातीं — नोटिस लेते हैं; ऐसी बातों की नोटिस इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि यही बातें, यही ख़ास फुंदने, लेखन के क्षेत्र में गधों घोड़ों में फ़र्क़ पहचानने के काम आते हैं।

आगे वे पाठकों की इस शिकायत पर कि उनके उपन्यासों में कुछ ख़ामियाँ रह गयी हैं, का जवाब देते हुए लिखते हैं — “ताक़ीद रहे कि जासूसी उपन्यास की स्क्रिप्ट तैयार होते ही सीधा प्रिंटर के पास जाती है और पुस्तक बनकर पाठक के पास पहुँचती है। तभी दो से तीन महीने में एक उपन्यास छपना मुमकिन हो पाता है अन्यथा साल में एक ही छपे। अब आप ख़ुद फ़ैसला कीजिए कि आपको क्या क़ुबूल होगा! कोई छोटी-मोटी विसंगति समाहित अपने पसन्दीदा लेखक के साल में चार नये उपन्यास या ठोंक-बजाकर तैयार की गयी सालाना पेशकश! ताक़ीद रहे कि ग़लती ठोक-बजा के तैयार की गयी कथित सालाना पेशकश में भी हो सकती है”। (*आग का दरिया*, सुरेन्द्र मोहन पाठक, मनोज पब्लिकेशंस, मेन रोड, बुराड़ी, दिल्ली-110084).

सुरेन्द्र मोहन पाठक के एक अन्य उपन्यास *छह करोड़ का मुर्दा* में छपे एक पाठक श्री गौरीशंकर भारती के पत्र की बानगी देखिए — “उपन्यास के टाइटल पर भूत प्रेतों सम्बन्धी मैटर छपा देखकर मन भीतर ही भीतर आशंकित था कि आप भी कहीं सस्ते लेखकों की श्रेणी में तो नहीं उतर आये। भूत प्रेत नहीं तो क़त्ल को कोई वैज्ञानिक करामात ही न बता दें। पर ख़ुशी हुई कि आपने हमें धोखा नहीं दिया और सारगर्भित, मान्य तथ्यों को ही उपन्यास के समापन का आधार बनाया।” (*छह करोड़ का मुर्दा*, सुरेन्द्र मोहन पाठक, मनोज पब्लिकेशंस)। पाठक गौरीशंकर भारती ने जहाँ उपन्यास की तारीफ़ की है, हालाँकि उसमें उपन्यास के ‘सस्ते लेखक’ के लिखे जैसा होने की शंका भी शामिल है, तो दूसरी ओर उसी के साथ धुलिया के एक पाठक विजय वानखेड़े का पत्र भी छपा है जिन्होंने उपन्यास की निन्दा करने में कोई कोताही नहीं बरती है - “विश्वास नहीं होता यह उपन्यास आपने लिखा है। जैसे आपका हर उपन्यास एक ही बैठक में पठनीय होता है, वैसी कोई बात इसमें नज़र न आयी। मनोरंजन के नाम पर यह कोरा है। उपन्यास का एक भी पात्र खुलकर सामने नहीं आया है। कोई सनसनी नहीं, कोई रोमांच नहीं,

कोई ड्रामा नहीं"। (*छह करोड़ का मुर्दा*, मनोज पब्लिकेशंस)। उपरोक्त पत्र सुरेन्द्र मोहन पाठक के उपन्यास *कोई गवाह नहीं* को पढ़कर लिखे गये हैं।

वेद प्रकाश शर्मा और सुरेन्द्र मोहन पाठक ही नहीं, इस विधा के अन्य लेखक भी 'सीरीज़' लिखने में आस्था रखते हैं। 'विक्रान्त सीरीज़', 'जगत सीरीज़', 'सुनील सीरीज़' आदि कुछ प्रमुख सीरीज़ हैं। यह कुछ इस तरह है कि लेखक एक 'लार्जर दैन लाइफ़' चरित्र गढ़ता है, उसे एक नाम देता है और फिर उसके कारनामों का समां बाँधकर पाठकों को आकर्षित करता है। फिर कथा-श्रृंखला बनती चली जाती है। उदाहरण के लिए — "छह करोड़ का मुर्दा 'विमल सीरीज़ का 31वाँ शाहकार' है। उस 'विमल सीरीज़' का परिचय आगे बढ़ाते हुए उपन्यास की विज्ञप्ति में लिखा है, "'विमल सीरीज़' एक ऐसा करिश्मा है जो सालों-साल के इन्तजार के बाद कभी एक बार वाकया होता है। ग़ैरमामूली किरदार, नाक़ाबिलेबर्दाश्त सस्पेंस, करिश्माई वाकयात और चुम्बकीय चरित्र चित्रण की जुगलबन्दी से पैदा होने वाले हैरतबरपा अहसास का नाम 'विमल सीरीज़' है"। (*छह करोड़ का मुर्दा* उपन्यास से)

उसी उपन्यास की विज्ञप्ति में विमल का परिचय देते हुए लिखा है - "हरदिल अज़ीज़ सरदार सुरेन्द्र सिंह सोहल जेल ब्रेकर उर्फ़ विमल कुमार खन्ना डोमेस्टिक सर्वेंट उर्फ़ गिरीश माथुर मर्डर सस्पेक्ट उर्फ़ बनवारी लाल ताँगेवाला उर्फ़ रमेश कुमार शर्मा कार ड्राईवर उर्फ़ कैलाश मल्होत्रा कैसीनो क्लर्क उर्फ़ वसन्त कुमार मोटर मैकेनिक उर्फ़ नितिन मेहता रिसर्च स्कॉलर उर्फ़ कालीचरण मवाली उर्फ़ पी.एन. घड़ीवाला सौदागर उर्फ़ अरविन्द कुमार व्हाईट कॉलर एम्पलाई उर्फ़ राजा गजेन्द्र सिंह एनआरआई का नवीनतम कारनामा"। (*छह करोड़ का मुर्दा* उपन्यास)। विमल के इतने विविध रूप जहाँ उसके चरित्र को मिथकीय विस्तार देते प्रतीत होते हैं वहीं विविध पाठक-वर्ग का संकेत देते लगते हैं और कथारूढ़ियों का भी।

एक दिलचस्प चीज़ जो हिन्दी के 'सड़क साहित्य' की विधा 'थ्रिलर' के अध्ययन में दिखाई देती है जो 'विक्रान्त सीरीज़' से ही सम्बन्धित है कि जब शीतयुद्ध का दौर चल रहा था तो अन्तर्राष्ट्रीय जासूसों का दल होता था जिसमें भारत और रूस के जासूस मिलकर काम करते थे। रूसी जासूस का नाम था बागारोफ। उस तरह के उपन्यासों के लेखक के रूप में 'जनप्रिय' उपन्यासकार ओम प्रकाश शर्मा का नाम याद आता है। हर बार भारत और रूस के जासूस मिलकर अमेरिका के लिए मुश्किलें खड़ी करते रहते थे। 'विक्रान्त सीरीज़' एक ऐसी सीरीज़ रही जिसमें इस विधा के लेखकों के लिए हाथ आज़माना अपनी योग्यता दिखाने जैसा था।

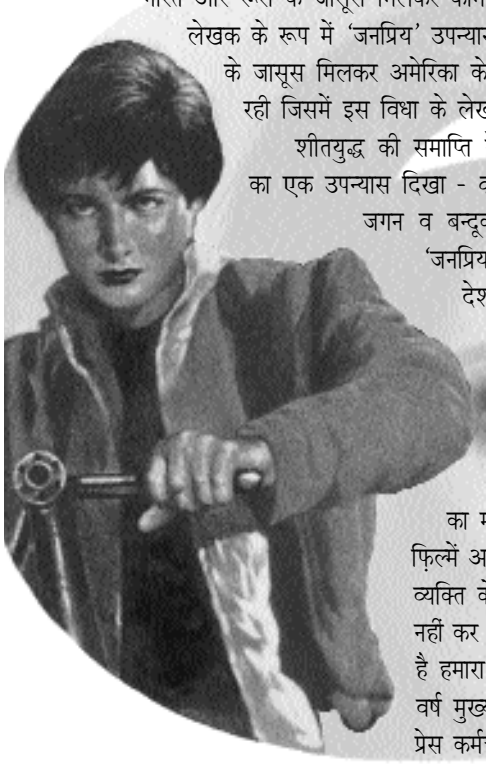

शीतयुद्ध की समाप्ति ने उस 'फ़ार्मूले' का अन्त कर दिया। बहुत दिनों बाद ओमप्रकाश शर्मा का एक उपन्यास दिखा - *वह पाकिस्तानी जासूस थी*। सीरीज़ भी बदली हुई थी — 'जगत, गोपाली, जगन व बन्दूक सिंह सीरीज़'। अन्तर्राष्ट्रीय जासूसों की बड़ी-बड़ी कथाएँ कहने वाले 'जनप्रिय' लेखक के जासूस बेचारे राजस्थान की सीमाओं पर भटक रहे थे। देशभक्ति एक बड़ा 'फ़ार्मूला' बनकर उभरा। अपराध-कथाओं की इस धारा का यह वरिष्ठ लेखक अपनी विधा के वर्तमान परिदृश्य से कुछ निराश ही दिखता है — "यह मेरा चार सौ इकतीसवाँ उपन्यास है ऐतिहासिक, सामाजिक और जासूसी उपन्यासों को मिलाकर। परन्तु विशेष रूप से जासूसी उपन्यासों के बारे में आपसे कुछ कहना है। जो अन्य लेखक लिख रहे हैं, मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। जासूसी उपन्यास तो बुद्धि चातुर्य का मनोरंजन है। उपन्यासों को फ़िल्मों से प्रभावित नहीं होना चाहिए। अधिकांश फ़िल्में अमेरिकी फ़िल्मों की कहानी से मिलती है। ह्यूस्टन और डलास के गुण्डों से। व्यक्ति के जीवन का मोल होता है और एक आदमी दस आदमियों से मारा-मारी नहीं कर सकता। आग्नेय हथियारों का प्रचार भारतीय परम्परा के विरुद्ध है। अंडरवर्ल्ड है हमारा पड़ोसी देश और माफ़िया सरगना हमारे राजनीतिज्ञ हैं। एक एक्ट्रेस कुछ वर्ष मुख्यमंत्री रही और उसके पास से अरबों रुपए बरामद हुए। नोट छापने वाले प्रेस कर्मचारियों तथा बैंक कर्मचारियों के अतिरिक्त इतना धन भारत के दो सौ कुछ

घरानों ने ही देखा होगा। जासूसी उपन्यासों को उस मज़ाक से भी बचना चाहिए — एक व्यक्ति ने जासूसी उपन्यास खरीदा। पढ़ना शुरु किया तो पहले ही पृष्ठ पर छह हत्याएँ हो गयीं, अधिक भी हो सकती थीं परन्तु रिवॉल्वर के चेम्बर में छह ही बुलेट थे। समाचार छपा कि एक व्यक्ति ने स्त्री की हत्या करके उसे तन्दूर में जलाने की चेष्टा की, तलाशी में उसके घर से हिन्दी उपन्यास बरामद हुआ जिसमें ऐसी तरक़ीब लिखी हुई थी। उस लेखक पर सौ बार लानत, जासूसी उपन्यासों को इस आरोप से मुक्त होना चाहिए कि वह अपराध प्रचारक हैं। धन्यवाद।" (*वह पाकिस्तानी जासूस थी*, ओम प्रकाश शर्मा)।

यद्यपि 'पाठकों से' के स्तम्भ में तन्दूर में जलाने के प्रसंग में यह स्पष्ट नहीं है कि वह कौन-सा 'हिन्दी उपन्यास' बरामद हुआ पर यह लम्बा उद्धरण अपने आप में जासूसी कथा धारा के पतन पर आँसू बहाता भी लगता है, उस विधा के नुक़्ते सुझाता भी लगता है और कुछ-कुछ सुधारवादी भी। बहरहाल, कथन में लेखक का भरपूर अनुभव झलकता है।

'विक्रान्त सीरीज़' में भी शुरुआती हाथ आज़माने वाले वेद प्रकाश शर्मा के नवीनतम उपन्यास *ट्रिक* में भी कथानक हाल ही की अमेरिकी आतंकवादी घटनाएँ, अफ़ग़ान युद्ध के रास्ते भारत-पाकिस्तान की सरहद पर आ जाता है। यहाँ भी 'ब्राण्ड देशभक्ति' है। उपन्यास में एक जगह संवाद आता हैः

"हैरी।" वह बहुत धीरे से बोला — "मामला हमारे राष्ट्र की सुरक्षा का है।"

"राष्ट्र की सुरक्षा?" सजग हो गया लड़का। एक मात्र यही तो थी उसकी कमज़ोरी।

(पृ. 18, *ट्रिक*, वेद प्रकाश शर्मा, तुलसी पॉकेट बुक्स, देहली रोड, मेरठ)।

'ब्राण्ड देशभक्ति' का जोश लेखक में इतना ज़्यादा है कि आगे एक जगह आता है — "इस रुमाल पर मुल्क के अनेक सीक्रेट्स लिखे हैं। ये गुण्डे रूस के एक जासूस के लिए काम कर रहे हैं। ये लोग इस रुमाल को हासिल करना चाहते हैं। अगर ये उनके हाथ लग गया तो हमारे देश को भारी नुक़सान उठाना पड़ेगा"। आप हैरत में पड़ जाएँगे रूस के जासूसों को भारत में पाकर। भारत-रूस की दोस्ती जासूसी कहानियों से भी तो विदा ले चुकी है — अब 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के युग में उपन्यास-जगत का परचम फहराए रखने वाले' वेद प्रकाश शर्मा के उपन्यास में भारत-रूस के दुश्मन जासूस आपको मिल जायेंगे। यह उद्धरण भी उनके उपन्यास *ट्रिक* का ही है।

ट्रिक उपन्यास पाठकों से यह सवाल पूछकर समाप्त होता है कि आतंकवादियों को जेल में डालकर मुक़दमा चलाना चाहिए या वह करना चाहिए जो विकास ने किया। प्रसंगवश, वेद प्रकाश शर्मा के एक 'लोकप्रिय' सीरीज़ 'विकास सीरीज़' का उपन्यास है *ट्रिक*। आतंकवाद की लड़ाई में अमेरिका का साथ देने की होड़ में जल्दबाज़ी में रूस को ही बड़ा शत्रु मान लिया गया है — शायद इसलिए कि पाकिस्तान का नाम लेने से कहीं यह न मान लिया जाये कि वेद प्रकाश शर्मा जैसा अब तक का सबसे विख्यात लोकप्रिय उपन्यासकार भी दूसरे छोटे-मोटे लेखकों की तरह सरहद पर अपने पात्रों को टहलाता फिर रहा है। लोग यह मान सकते हैं कि वह उनमें से किसी से प्रभावित हो रहा है। ऊपर उद्धृत ओम प्रकाश शर्मा के उपन्यास *वह पाकिस्तानी जासूस थी* में शत्रु पाकिस्तान है तो *ट्रिक* के प्लॉट में शत्रु रूस। यह दोनों की कथा में भिन्नता का नुक़्ता है।

ट्रिक उपन्यास के अन्त में एक विज्ञापन भी छपा है जो करिश्माई लेखक वेद प्रकाश शर्मा के अपने कथा-धारा में महत्व का परिचय देता है — "वेद प्रकाश शर्मा द्वारा आशीर्वाद प्राप्त लेखक केशव शर्मा का नया उपन्यास 'केशव पण्डित का मायाजाल'।"

पाठकों से सीधा संवाद बनाये रखने के इन तरीक़ों के अलावा 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के इस युग में' और भी नये-नये तरीक़े ईजाद किये जाते हैं, अपनाये जाते हैं। मेरठ के एक और पुराने लेखक हैं परशुराम शर्मा। देहली रोड, मेरठ के 'माया पॉकेट बुक्स' के लिए वे आजकल 'लवली सीरीज़' लिख रहे हैं। लवली सीरीज़ के दो सौ पचास-साठ पृष्ठों की पुस्तक में क्या-क्या होता है, देखते हैं — *खिलाड़ी नम्बर वन* (मुकम्मल नॉवल), *डरपोक*ः एक डरपोक आदमी की कहानी, *साथ-साथ*ः जज़्बाती कहानी, *बुलबुल*ः बुलबुल के कारनामे, *एक अचम्भा*ः मर्डर मिस्ट्री, *शेर का बाप*ः क़िस्तवार नॉवल, *मुर्दे का फोन*ः एक ब्लैक मेलर की कहानी, *मेहनत रंग लाई*ः एक चोर की कहानी, *तेरे बिन भी क्या मरना*ः एक क़ैदी की कहानी, *कोमा*ः क़िस्तवार नॉवेल, *लवली खिलाड़ी नम्बर वन*ः परशुराम शर्मा, माया पॉकेट बुक्स, देहली रोड, मेरठ।

वेद प्रकाश शर्मा
फिर

आप देखेंगे कि यह एक तरह से 'सोनीपत के पचरंगा' अचार जैसा है। यूँ लगता है जैसे विभिन्न लोकप्रिय कथा-धाराओं का एक गुलदस्ता जैसा तैयार किया जा रहा है — पाठकों को एक पैकेज दिया जा रहा है। कई तरह के फ़ार्मूले, प्लॉट एक साथ परोसे जा रहे हैं। कुछ-कुछ टेलीविज़न के उन धारावाहिकों की तरह भी जिनमें हर एपीसोड में अलग- अलग कहानी दिखाई जाती है। यहाँ एक लोकप्रिय माध्यम टेलीविज़न के प्रभाव में पुस्तक की कल्पना की जा रही है। जासूसी, थ्रिलर आदि विधाओं का एक 'लोकप्रिय' लेखक कई विधाओं में हाथ आज़माकर अपनी विविधता दिखा रहा है। 'लवली टॉप टेन सीरीज़' लिख रहा है।

'लवली टॉप टेन सीरीज़' में एक प्रतियोगिता भी है — कौन बनेगा करोड़पति? जिसमें कहानियों के सही क्रम बनाने पर पुरस्कार का प्रावधान है। आइए इस सीरीज़ का लेखकीय देखते हैं — शीर्षक है — 'स्वागत'।

> लवली टॉप टेन सीरीज़ के प्लेटफ़ॉर्म पर मैं परशुराम शर्मा उन सब लोगों का स्वागत करता हूँ जो लवली को आन्दोलन की शक्ल देने में मेरे साथ-साथ आ खड़े हुए हैं। लवली के प्रशंसकों की कुछ फ़रमाइशें, कुछ मशवरे आये हैं। इसलिए उन पर ग़ौर करते हुए कुछ मशवरे क़ुबूल भी कर लिए गये हैं। मसलन लवली के हर अंक में एक मुकम्मल उपन्यास ही प्रकाशित हो जो भले ही कम पृष्ठों का हो लेकिन हो असरदार और ख़ूबसूरत। अधिक पृष्ठों वाले मोटे उपन्यासों की भरमार है और पाठकों को इतने सारे पृष्ठ पढ़कर भी कुछ हासिल नहीं होता। इनमें से अधिकांश में तो नंगापन भरा पड़ा है जो हरगिज़ हरगिज़ परिवार में पठनीय नहीं है। पॉकेट बुक्स में उपन्यासों की निरन्तर घटती सेल को हमारा ट्रेड टीवी के बढ़ते प्रभाव के कारण समझता है — जबकि बात ऐसी है नहीं। अगर बात ऐसी होती तो विदेशों में अमेरिका इंगलैण्ड फ़्रांस वग़ैरह में उपन्यासों का प्रकाशन तो अब तक ठप्प हो गया होता क्योंकि वहाँ का टीवी मीडिया तो हमसे बहुत आगे हैं लेकिन वहाँ का ट्रेड अब भी सलामत है। यह अलग बात है कि समय के साथ लेखन में परिवर्तन जरूर आ गया है। असल में हमारे यहाँ भी परिवर्तन की धारा बह रही है। दिलचस्प बात यह है कि हमारे लेखक बन्धुओं ने टीवी के हमले से मुक़ाबला करने के लिए यही बेहतर सोचा कि क्योंकि टीवी में नंगापन नहीं दिखाया जाता इसलिए अगर हम बोल्ड सीन लिखें तो पाठक हमारा दीवाना हो जायेगा। यह घटती सेल की बौखलाहट का नतीजा था। और यह नहीं सोचा कि ऐसे लेखन से पाठक हमें घर की दहलीज़ से बाहर धकेल देगा। जो चीज़ छुपकर देखी या पढ़ी जाये उसकी उम्र बहुत छोटी होती है। इसी भीड़भाड़ में मैंने लवली का तजुर्बा कर डाला। (लवली खिलाड़ी नम्बर वन, माया पॉकेट बुक्स, देहली रोड, मेरठ, 2001)

'लवली' सीरीज़ में लेखक की जगह लिखा हैः 'डायरेक्टर परशुराम शर्मा'। पुरानी विधा का एक सफल लेखक नये बाज़ार की तलाश में अपनी पहचान बदल रहा है। ऊपर लम्बे उद्धरण में टीवी के हमले से मुक़ाबले की बात आती है तो दूसरी उसी किताब में यह शुभ समाचार भी छपा हैः "लवली में प्रकाशित बुलबुल की कहानी पर आधारित टीवी धारावाहिक का निर्माण प्रारम्भ"। कुल मिलाकर बदले हुए पाठक-वर्ग के मुताबिक़ नयी पैकेजिंग चल रही है। टेलीविज़न माध्यम से होड़ चल रही है।

'लवली सीरीज़' की क़ीमत है 'पच्चीस रुपए मात्र'। यही क़ीमत मेरठ के 'स्टार' लेखक वेदप्रकाश शर्मा के नवीनतम उपन्यास *ट्रिक* की है, सुरेन्द्र मोहन पाठक के उपन्यास *छह करोड़ का मुर्दा* की क़ीमत 'बीस रुपए मात्र'

है। 'जनप्रिय' लेखक ओम प्रकाश शर्मा के उपन्यास *वह पाकिस्तानी जासूस थी* की क़ीमत भी 'बीस रुपए मात्र' है, पर वह आपको पन्द्रह रुपए में भी मिल जाएगी। उसकी पृष्ठ संख्या भी कम है। इतनी कम क़ीमत में मोटा उपन्यास भी उसे ख़रीदकर पढ़ने के लिए आकर्षित करता है।

हालाँकि आज इन लोकप्रिय उपन्यासों के प्रकाशक राज पॉकेट बुक्स, मनोज बुक्स आदि सिर्फ़ उपन्यासों के सहारे नहीं चल रहे हैं। वे कॉमिक्स छाप रहे हैं, *विदुर नीति*, *क़िस्सा हातिमताई* छाप रहे हैं। मेरठ का तुलसी पॉकेट बुक्स भी अब केवल उपन्यासों के सहारे नहीं चल रहा है।

'टेलीविज़न माध्यम' ने हिन्दी पाठकों को ग्रस लिया है – यह कहना एक सरलीकरण ही होगा। 2002 के नैशनल रीडरशिप सर्वे के मुताबिक़ पाठकों का दायरा पिछले दो वर्षों में एक सौ तिरेसठ मिलियन से बढ़कर एक सौ अस्सी मिलियन हो गया है, जिसमें ज़्यादातर हिन्दी भाषी क्षेत्रों में बढ़ा है। हालाँकि पत्रिकाओं का पाठक-वर्ग प्रभावित हुआ है, पर हिन्दी के अख़बारों की प्रसार संख्या बढ़ी है ('हिन्दी मेक्स न्यूज़', मृणाल पाण्डे, *हिन्दुस्तान टाइम्स*, 27 जून, 2002)। 'माध्यम' के बावजूद यह पाठक-वर्ग है।

'हिन्द पाकेट बुक्स' की घरेलू लाइब्रेरी योजना का मुख्य आकर्षण उसकी कम क़ीमत रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने एक साझा पाठक-वर्ग तैयार किया – एक ऐसा पाठक-वर्ग जो 'गम्भीर-अगम्भीर' साहित्य समान भाव से पढ़ता था। हिन्दी परिसर को दिनोंदिन गम्भीर बनाने के क्रम में हमने हिन्दी 'लोकप्रिय स्पेस' को ख़त्म किया है, पाठक-वर्ग गँवाया है। सारी बहसें अकादमिक 'स्पेस' में ही हो रही हैं।

"बाज़ार के दबाव में जासूसी उपन्यासों का वह शान्तिप्रिय जासूस जो अपराध सुलझाता था, अब एक मनोविक्षिप्त, हिंसक व्यक्ति में बदल चुका है। जासूस अपराधी लगने लगे हैं। इन लेखकों का जासूसी लेखन की यशस्वी परम्परा से कोई लेना-देना नहीं है"। (*ट्वेण्टी फ़ोर कनवर्सेशंस विद बोर्ख़ेज़*, बोर्ख़ेज़, लसॉक्स पब्लिशर्स, 1984)। ऊपर विवेचित लेखकों की धारा को हिन्दी में अपराध कथा लेखन की धारा कहा जा सकता है। वही जिसके वर्चस्व पर महान इस्पहानी लेखक बोर्ख़ेज़ ऊपर चिन्तित दिखाई दे रहे हैं। साझा पाठकों के दौर के बाद हिन्दी के लोकप्रिय उपन्यासों की धारा में भी यही विधा बढ़ी।

अपराध कथाओं की इस धारा की बिक्री को अगर एक ओर टेलीविज़न ने प्रभावित किया है, जैसा कि ऊपर एक उद्धरण में परशुराम शर्मा कहते दिखाई देते हैं, तो दूसरी ओर 'सड़क लाइब्रेरी' के नेटवर्क ने। इन पुस्तकों को किराए पर दिए और लेकर पढ़े जाने का चलन है। उत्तर भारत के शहरों में गली-मुहल्ले के नुक्कड़ पर ऐसे 'सड़क पुस्तकालय' दिखाई दे जाते हैं जहाँ आप किराए पर पुस्तक लेकर पढ़ सकते हैं। इन पुस्तकों के विक्रेता ख़रीदारों को यह सुविधा भी देते हैं कि आप किताब ख़रीदने के बाद अगर चाहें तो उसे बदलकर अगले दिन नया दूसरा उपन्यास भी ले सकते हैं। इस पाठक-वर्ग और इन पुस्तकालयों के तंत्र के स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है। 'सड़क पुस्तकालय' या 'नुक्कड़ पुस्तकालय' ने इन उपन्यासों की बिक्री को कितना प्रभावित किया है इसका अन्दाज़ा 'लवली सीरीज़' में छपी 'क़ानूनी चेतावनी' को पढ़कर लगाया जा सकता है – 'लवली को ख़रीदकर ही पढ़ें – किराए पर देने पर क़ानूनी कार्रवाई होगी' (*लवली खिलाड़ी नम्बर वन* से)।

'मात्र मनोरंजन' के उद्देश्य से लिखे गये इन उपन्यासों से नाक-भौं सिंकोड़ने की बजाय अगर हम उसका अध्ययन मनोरंजन के एक 'माध्यम' के रूप में करें तो एक रास्ता निकल सकता है। या आज 'टेलीविज़न यथार्थ' के इस दौर में जबकि यथार्थ दृश्य में तब्दील होता जा रहा है – क्या पता उनसे कुछ 'अलग' इसमें दिख जाये, कुछ ऐसा यथार्थ जिसे जानना रह गया हो। जब सारा यथार्थ 'फ़ॉर्मूला' लगने लगा हो तो शायद 'फ़ॉर्मूले' में ही कुछ 'यथार्थ' दिखे।

संदर्भ

'घरेलू लाइब्रेरी योजना' सम्बन्धी जानकारी 'हिंद पॉकेट बुक्स' में छब्बीस वर्ष तक प्रकाशन का काम देखने वाले श्री सोहनलाल शैली से बातचीत पर आधारित है।

इस प्रपंच में सिर्फ़ स्त्री न थी

सुधीश पचौरी

'नो मोर बाथरूम'। मुस्कराकर वह बोली। जैसे बिहारी की नायिका 'पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि'। झरोखा नहीं था। बाथरूमनुमा किसी जगह की किवाड़ें थीं। किवाड़ें न कहें। 'किवाड़ों' में भारी दरवाज़ों का बोध होता है। वे दरवाज़े थे। 'डोर'। 'किवाड़ों' में जो भारीपन है, वह 'डोर' में कितना हल्का हो जाता है। तो पहले दृश्य में सुन्दरी 'पावक झर' की तरह झाँकी और बोली 'नो मोर बाथरूम'।

एक झटका। उसके यों बिकने का। वह बिजली के झटके से भी अधिक ख़तरनाक जानलेवा था। बेचने की कला का झटका था यह। इतनी अधिक सुन्दर वह बेची जा रही थी। कह रही थी, 'नो मोर बाथरूम'। सामने हल्के नीले-हल्के चमकदार सेरेमिक में एक कमोड दिप रहा था। पास में बेसिन था उसी रंग का जिसका कमोड था। बाजू में बाथरूम था वह भी उसी रंग का। हम कहाँ आ गए थे? एक रंग की इतनी सारी चीज़ें आसपास प्रकृति ने कहीं नहीं बनाईं। तब यह किसकी दुनिया थी? झटके से उबरते हुए देखा तो सुन्दरी ग़ायब थी। अब एक धुन थी और मर्द की आवाज़ थी फिर अंग्रेज़ी इबारत थीः 'ओनली ग्लैमर रूम्स्!' और फिर सब ख़त्म! यह एक प्रपंच था। जादुई करामात!

ओह! तो जो उसने दिखाया वह उसकी भव्यता नहीं थी! भव्य कमरा था वह। उस सुन्दरी के लिए बाथरूम नहीं थे। भव्य, चकाचौंध भरे कमरे थे। 'ग्लैमर'। मैंने सोचा, ग्लैमर का अनुवाद शब्दकोश में ऐसा दिया है कि दृश्य को समझाता ही नहीं। 'चमक-दमक', 'चकाचौंध', 'दिखाऊ', 'दिखावटी'। अंग्रेज़ी से हिन्दी बनाने वाले कोशकार ग्लैमर को खींचकर लाए तो 'दिखाऊ', 'दिखावटी' तक। बहुत सोचा तो 'भव्यता' तक किन्तु ये तमाम शब्द हिन्दी में जिन स्थितियों का विशेषण बनते हैं वे स्थितियाँ 'ग्लैमर' से नितान्त रहित भी हो सकती हैं। किसी के पास झोंपड़ी है और वह अपनी बीवी को चमकदार साड़ी देता है। वह पहनकर निकलती है। उसे देख उदात्त क़िस्म का मध्यवर्ग कहेगा कि देखो! कैसी दिखावट आ गई है ग़रीबों में। वे गाजा-बाजा करेंगे तो हम कहेंगे दिखावट! चमक-दमक। राष्ट्रपति भवन पर रोशनी हो जाएगी तो कहेंगे 'भव्य'! उसे 'ग्लैमर' फिर भी न कहेंगे। तो ग्लैमर 'चमक-दमक' मात्र ही नहीं था! तब क्या है ग्लैमर मैंने पूछा। मगर किससे?

एक विचित्र-सी संरचना लहरा रही थी। जो देखा उसको। जो न देखा उसको। फिर जो न देखा था, वही टिका रह गया। बाथरूम वाक़ई न था। न उसका विचार था। इतने ग्लैमर में वह कहाँ टिकता। तो जो था वह 'बाथरूम' नहीं था। 'ग्लैमर रूम' था। बाथरूम में ग्लैमर था। ग्लैमर में बाथरूम था। मुक्ति का ऐसा लुभावना चक्कर था। बाथरूम में था! ग्लैमर रूम में!

'बाथरूम में क्या है?'

बाथरूम में होती है कभी न जाने वाली नमी। हल्की किन्तु स्थायी ऐसी गन्ध जो पेशाब, टट्टी, साबुन, पानी के रुकने-टिकने से बस जाती है। यह उन बाथरूमों की बात है जो फ़्लैटों, छोटे-बड़े पक्के मकानों में होते हैं। ये उन नगरों में होते हैं जहाँ जलमल संस्थान कम से कम दिल्ली-मुम्बई के संस्थानों की भाँति पाँच-दस फ़ीसदी क्षमता

तक काम करते हैं। क़स्बों में खुले संडास होते हैं। ग़रीब हरिजन उन्हें साफ़ करते हैं। नालियाँ बजबजाती होती हैं। जितना ग़रीब मुहल्ला, नालियाँ उतनी ही बजबजाती हैं। गाँवों में भी क़स्बों की तर्ज़ पर अब संडास बनने लगे हैं किन्तु यहाँ बहुमंज़िला न होने से वैसी दुर्गंध अधिक देर शायद न ठहरती हो और फिर भारतीय किसान दिशा-मैदान का अभी भी आदी है।

तो इतना तय था कि वह बाथरूम ही था। तब वह सुन्दरी क्या चाहती थी। वह सुन्दरी एक यथार्थ की जगह दूसरा यथार्थ रख देना चाहती थी। कहती थी कि 'बाथरूम' नहीं 'ग्लैमररूम' बनाइए घर में। चूँकि हम विज्ञापन देख रहे थे इसलिए इतना तो शुरु में ही लग गया कि इसने ऐसा कहा है। फिर भी चित्त चकराया। यह देख कि इसमें बेचने की भाषा तो है ही नहीं। 'सुन मेरी ए बिल्लो बॉबी पन्द्रह रुपये किल्लो' या 'आज ही ख़रीदें एक गिलास मुफ़्त' वाली विज्ञापन की आदिम शैली के आदी हमारे कान उन आदेशों को ढूँढ रहे थे जो डपटकर हमें सभ्य रहने के नुस्ख़े बताते आए हैं। और इस विज्ञापन में वह कहीं नहीं थे।

यह विचित्र था। अपह्नुति अलंकार था। प्रस्तुत यथार्थ का निषेध था। बाथरूम न था। काव्यशास्त्र के पण्डितों ने जिसे बनाया, सदियों पहले बनाया — वह अलंकार सुन्दरी के पास था। नायिका भेद की वह कौन-सी नायिका थी जो चुरा लाई आचार्यों के अलंकार? शुक्लाभिसारिका? कृष्णाभिसारिका? हल्के लाल, नीले सेरेमिक रंगों वाली उसी में छिपी हुई। अपह्नुति अलंकार था कि व्यभिचार, जो हो रहा था। बाथरूम नहीं था। चमक-दमक कमरा था। निवास था। आख़िर वह स्त्री क्या कह रही थी? कौन-सी दुनिया है इस दुनिया में? एक वह जो हमारी बनाई हुई है। और दूसरी वह जो फिर हमें बनाती है। हमारी दुनिया, हमें ही बनाती हुई। इन बनाने और बनने के बीच कितने चक्र हैं एक जो 'है', एक जो बना दिया गया है। ऑन्टॉलजी? कांट का 'होना' और 'बनना' यही है क्या? एक सुन्दरी ने कांट की तत्व-मीमांसा को शिला पर पटक दिया। उस दिन, उस क्षण। ओह! उस रमणी को देख जिन्हें बिस्तर याद आए, वे धन्य भाग कहाँ हैं? इस प्रपंच में सिर्फ़ स्त्री नहीं थी, और सिर्फ़ स्त्री से बँधी हुई वस्तुएँ नहीं थीं बल्कि अगली सदी के विचार थे।

इन विचारों को इससे पहले छुआ नहीं जा सका था! स्त्री ने उन्हें क़रीब ला दिया। छुला दिया। छूने योग्य बना दिया।

छुआ। तरल-चिक्कण। विचार आया।

क्या था?

वह थी।

क्या था?

वह था।

किसी ने एक स्त्री बाथरूम के कमोड से बाँध दी थी। वह इठलाकर कहती थी। कोई कराहता था और धुँधलके में सुन नहीं पड़ता था। बाथरूम में चिकनाई सोई थी। एक ही रंग में। हल्के उदास कुनकुने तौलिए में लिपटा कोई शिशु।

उस रमणी को सबने तो न देखा। जिस नायिका पर यह मार्जिनल कथा बाँधी गई, वह सबके नसीब में कहाँ। पिचासी करोड़ पचास लाख छप्पन हज़ार नौ सौ सात आठ नौ दस... में से कितनों ने देखी होगी हमारी यह सुन्दर बन्दरिया? दस फ़ीसदी, बीस-तीस फ़ीसदी। कितने देर तक देखी होगी? यही कोई पन्द्रह सेकेण्ड उसमें भी पाँच सेकेण्ड। शेष में तो बाथरूम ही दिखा। क्या जिसने उसे न देखा, उसके लिए वह थी? यानी यथार्थ के बिना भी एक कथा थी, एक नए यथार्थ की संरचना थी जो कुल पन्द्रह सेकेण्ड टिकती थी।

"तब 'नो मोर बाथरूम'?" बच्ची ने पूछा।

"हाँ! हाँ! बेटे ऐसा ही है यहाँ। तुम खेल खेलने जाओ अब।"

"ऐसा कितने दिनों से है?" क्षमा ने पूछा।

"शायद दस साल दस सौ साल से है। दस हज़ार से भी।"

"क्या वह बाथरूम नहीं था?"

"नहीं, वह हमारी बनाई हुई नयी माया थी। वह माया हमें बना रही थी।"

"ईश्वर की जगह विज्ञापन लीला करता था। वह बाथरूम नहीं होने की कह हमें बाथरूम बेचा करता था।"

"पहले लड़कियाँ क्या बेचा करती थीं?"

"जिस्म।"

"फिर कपड़े-लत्ते, नेल पॉलिश और माला।"

"वह किस युग की बात है?"

"वह अभी ख़त्म हुए युग की बात है। देखो आजकल एक सप्ताह में एक युग बदल जाता है। एक महीने में एक करुणांत कल्पांत। सालों ने सब पता लगा लिया है कि इस अजगर को ऐसे नहीं पड़े रहने देना है। बहुत हो लिया। साला पड़ा रहता है अपने मूर्ख अध्यात्म में। अब बेटा विश्वामित्र देख, इस सुन्दरी को! तेरे सिर पर न दे मारा तौलिया उसने तो अमेरिका नाम नहीं है मेरा।"

"ओह अमेरिका?" वह चिहुँकी, मेरी पत्नी जो बहुत हिम्मतवाली है, ट्रेड यूनियन किए हैं, पत्रकार है, फ़ेमिनिस्ट है।

फिर कुछ दिन गुज़रे। 'स्टारडस्ट' प्रिय पत्रिका थी पत्नी की। वह लाती। हम पढ़ते। इतनी रंगीनियों के बाद आप आसमान में गोते लगाते। महीने के कुछ दिन चैन से कटते।

उस दिन तेज़ दोपहर थी। धूप सीधी मारती थी। दीवारें तोड़ रही थी। खिड़कियों को चटकाती थी। कोई आग लगाने वाली लुक्की लगा गया था। सब कुछ जल रहा था। कूलर चल रहा था। हमारा महान खड़खड़ायमान कूलर। खाँटी भारतीय मशीन। तापमान को ढीला करने का औज़ार। ऐसी धौपर में वह रमणी फिर मुस्कराई। इस बार एक पन्ने पर फड़फड़ाती थी। हल्के गुलाब खिले थे और वह उसमें होती हुई आती थी। उसके पास एक त्वचा थी। जिसे वह एक गम्भीर उदात्त-सी सुन्दरता पर लटकाए थी जैसे गाड़ी की चाबी का छल्ला।

"जब कभी मुझे सम्पूर्ण त्वचा की ज़रूरत होती है तो मैं उसे सिर्फ़ पहन लेती हूँ।" वह फुसफुसाई।

"क्या?"

"हूँ..."

"बाथरूम के पास क्या हरित नीली त्वचा में थीं?"

"हूँ..."

"तो तुम कोई भी त्वचा पहन लेती हो? मेरा मतलब है, पहन सकती हो?"

"हाँ।"

"तुम हिन्दी बोल सकती हो?"

"बौद्रीआ का नाम सुना है?" पंखा एकदम बंद हो गया। कूलर भी जबकि बत्ती नहीं गई थी। बौद्रीआ के ज़िक्र पर भारत की डेसू मार्क़ा बिजली का आधा फ़्यूज उड़ गया था।

"बौद्रीआ को पढ़ो फिर आना हिन्दी में बहस करने। मैं यहीं मिलूँगी। इन्हीं पन्नों में।"

"तो क्या तुम खाल बिना पैदा हुई थीं?" किसी हिन्दी भाषी की तरह मैं डरा और खिसियाकर पूछ बैठा। विचित्र नैतिकता से मैं अकड़ गया था। दिमाग़ में ख़ून के थक्के जमा होने लगे थे। वह नाचने लगी थी।

"मैं सिर्फ़ त्वचा हूँ।" उसने उसी शान्त मनोहर मुस्कान में कहा। वह गुनगुनाने में लगी थी। उसके हाथ में एक ट्यूब थी। उसमें नयी खाल बन्द थी।

"तो तुम यथार्थवाद पर बात कर लो।" यह मैंने उससे नहीं। उसने मुझसे कहा मेरे छक्के छूट गए।

"मैं एकमात्र यथार्थ हूँ। हूँ कि नहीं! बोलो!" उसने ठिठोली के अन्दाज़ में कहा।

"नहीं। तुम माया हो। अनित्य। असत्य। यथार्थ नित्य होता है। तुम नित्य नहीं हो। काल नित्य है। तुम नहीं। सूर्य नित्य है। तुम अनित्य। असत्य। माया। प्रपंच।"

झूठ। फ़रेब। अमेरिका।

"अमेरिका जितनी सत्य! क्या तुम्हें वह अनित्य लगता है! तुम्हारे पेट में रोटी है न उसका रेचक है अमेरिका। तुम्हारी इस कमज़ोर बिजली को चमक देता है अमेरिका। जिस हिन्दुस्तान टाइम्स सोसाइटी में तुम रहते हो, वह क्या

है सिवाय अमेरिका की नक़ल के। साले! तेरी आत्मा तक में घुसा बैठा है वह और तू... चोटीधारी पण्डित की जनेऊ को कान पर लपेटता है और अध्यात्म की माँद में घुसा जा रहा है!"

अरे! ये क्या सुन रहा था मैं। वह खाल नहीं थी। मोडेस्टी ब्लेज़ थी। गाली उसके मुख से ऐसे निकलती थी जैसे शायरी करती हो। मैं एक बीहड़ विमर्श में उतर चुका था और पहले राउण्ड में उसने मेरे जबड़े पर एक धर दिया था। मेरी शर्म के गलपटे में कुनकुना दर्द गुम्बद बनने को जुट रहा था। वह सुन्दरी बॉक्सिंग में सिद्धहस्त थी। आक्रामक, वह यह सिद्ध करने पर उतारू थी कि वह सिर्फ़ त्वचा थी। उधर बाथरूम नहीं थे। इधर स्त्री नहीं थी। उधर ग्लैमर रूम्स थे, इधर सिर्फ़ त्वचा थी। क्या मैं एक चमड़े से लड़ रहा था। साली हिन्दी आलोचना ने अपने गौरवपूर्ण इतिहास में चमड़े पर चिन्तन ही नहीं किया। न एम.ए. में कोई पर्चा था, न एम.फिल. में। इस नए यथार्थ से झगड़ने के लिए हम पचास करोड़ लोग नाकाफ़ी थे। धूसर, मटमैले, बहते मैले में मह-मह करते उत्तर-दक्षिण के तमाम हम लोग उस एक औरत के आगे लाचार थे। मेरे मन में संचित मेरे भारत के तमाम लोग पराजित थे। मेरे पास जवाब नहीं था। मर्दानगी काम की नहीं थी। मैं उसे औसत भारतीय मर्द की तरह झापड़ रसीद नहीं कर सकता था। काश, वह हाड़-मांस की होती तो देख लेता। मैंने विचारों में संघर्ष जारी रखा। कुत्ती यथार्थवाद पर बहस करती थी।

"तेरा क्या है?"

"अपना कुछ नहीं है।"

"किसका है?"

"किसी का नहीं है। तू ले तो तेरा है। नहीं, ले तो नहीं है। बस!"

"जब तेरा कुछ नहीं तो तू सत्य कैसे हुई?"

"इसलिए कि तू इतनी देर से सिर्फ़ मेरी वजह से परेशान है। मैं तेरी परेशानी की बुनियादी वजह तेरी परेशानी जितनी तो यथार्थ हूँ। और तू कहता है, मैं अनित्य हूँ। अपने दार्शनिक ढीलेपन से तू मुझे असत्य मान रहा है। ज़रा चुस्त होकर सोच। कुछ नया पढ़-लिख तो तुझे मैं सत्य नज़र आऊँगी। तुम हिन्दी वाले बहुत सुस्त क़ौम हो। कम्पनी वाले कहते थे।"

"कम्पनी वाले? कौन कम्पनी वाले?

"त्रिकाया वाले।"

"त्रिकाया?"

"तुझे तो मालूम होगा। कबीर, निराला, मुक्तिबोध, वह बूढ़ा नागार्जुन और मंगलेश की आज़ादी में रहने वाले, तेरा जी.के. ढीला है। तुझे काल का ज्ञान नहीं है। तू पिछड़ गया है। एक युग पीछे है तू। अब तुझे समझाएँ। तेरे बस का नहीं। समूचे हिन्दी साहित्य में इस नए यथार्थ को समझने की अक़्ल नहीं। अच्छा! जेमसन को जानते हो।"

"जेमसन क्या कोई मल्टीनैशनल है वह?"

"तेरे ही कुनबे का है। मार्क्सवादी है। पण्डित है। उत्तर-आधुनिकता पर उसकी कमेंटरी मुझे भी प्यारी लगती है। तू पढ़ न उसे। तीनमूर्ति में उसकी कई किताबें है। अकेला अक़्लमन्द है वह तुम्हारे कुनबे में। नाम है फ़्रेडरिक जेमसन।"

स्टारडस्ट में उदात्त मुस्कान के साथ खाल बेचने वाली लड़की इतनी गहरी निकलेगी, मुझे सात जन्म ख़याल न होगा। पढ़ी-लिखी विदुषी नारियाँ होती हैं। पढ़ी-लिखी, ज्ञानी-ध्यानी और किसी मर्द से कम नहीं। वे बहस कर सकती हैं। शालीन, संकोची और स्पष्ट, फिर भी समाज में बनाए गए नियमों के भीतर ही विमर्श करती हैं। एकदम लीगल विमर्श। आप बोलिए। फिर हम बोलेंगे। कोई नहीं हँसेगा। और हम अंग्रेज़ी में बोलेंगे। भारत के बारे में बोलेंगे। उन तमाम विदुषी और सचमुच ही भली महिलाओं से मेरी बहस हो चुकी थी। किन्तु जो ज्ञान इस काग़ज़ की लड़की के पास था, किसी के पास न था। त्रिकाया वालों ने किसे भेज दिया मुझ फटीचर के घर! ये साला घर है या कबूतरख़ाना! मैं उसे क़ायदे में बिठा भी नहीं सकता। वह पड़ी थी, स्टारडस्ट के पन्ने में फड़फड़ाती।

फिर मैं उठा। स्टारडस्ट का तिरपनवाँ पन्ना फाड़ा। उसके पीछे श्रीदेवी, माधुरी दीक्षित, जैकी श्रॉफ़, अनिल कपूर, आमिर ख़ान, अमरीश पुरी, गुलशन ग्रोवर और संगीतकार नदीम-श्रवण, गायिका अनुराधा पौडवाल अपनी बिन्दी के साथ चली आई।

मैने गोंद लिया। इन सबके मुस्कराते थोबड़ों पर चिपकाया और बाथरूम के शीशे पर लगा आया।

क़रीब दो सप्ताह बाद डायरिया ने पकड़ा। अमेरिका प्रेरित एण्टीबायटिक्स खा गया कि मरते-मरते बचा। घर बच्चे-बीवी ख़ूब हलकान हुए। साले! दवाइयों के अमेरिकी यथार्थ ने मारकर धर दिया। किसी पुण्य से ठीक हुआ तो एक दिन केजी के पास पहुँच गया। केजी के पास हर चीज का नुस्ख़ा था। यह भरोसा था।

"यार केजी! क्या तुम अनुभव से बाहर के अनुभव का बयान कर सकते हो? मेरा मतलब है कि वह जो सीधा तुम तक न आए, तुम स्वयं उसे क्रियेट करो, अपने लिए, जैसे मैथेमैटिक्स में करते थे कि मान लो 'वन इज़ इक्वल टू एक्स'। हाइपॉथिसिस की तरह क्या हम अनुभव बना नहीं सकते?"

इस केजी के बारे में मित्रों सिर्फ़ इतना कहना हुआ कि वह एक कोमल-सा आदमी है। अब तक सिर्फ़ पढ़ता ही रहा है। कंजूस है... बाँटने में बहुत यक़ीन नहीं करता। और अपना दोस्त है। नयी कहानी के मेरे हमदमों से कुछ गहरा और ग़ैरतमाशाई हमदम। सो अपनी उससे चलती रहती है। वह भी कन्फ़्यूज़्ड है। अपन भी हैं। सो दोनों में बड़ी तत्त्व-मीमांसा हो जाती है। वह उड़ता है, मैं काटता हूँ। मैं उड़ाऊँ तो वो काटे। तीन-चार घण्टे के बाद जो पतंगें उड़ती हैं, वे कभी उतर नहीं पातीं। डोर भी उलझकर पिण्डा बन जाती है। उत्तर-समाजवाद के इन दुर्दिनों में बहुत सारी डोरें उलझी हुई हैं। माँझा झड़ गया है। सद्दी-सद्दी बची है हुचके में।

उस शाम उसके बन्द कमरे में बैठे मैंने उससे चंद सवाल किए। एक तो ऊपर वाला था। बल्कि कहिए बुनियादी ही था। मैं 'नो मोर बाथरूम' और 'व्हेन एवर आई वाण्ट परफ़ेक्ट लुकिंग स्किन, ऑल आई डू इज़ वेयर इट' की जटिल स्त्री के यथार्थ के बारे में पूछ रहा था कि क्या ऐसा हो सकता है कि हमें ऐसे लोग मिलें जो हमसे अधिक विद्वान हों और टीवी या स्टारडस्ट के पन्नों में सेकेण्ड्स को फड़फड़ाएँ। क्या उन पर कोई कहानी गढ़ी जा सकती है? क्या एक यथार्थपरक कहानी लिखी जा सकती है? कहानी यथार्थ से खाल की तरह किसने चिपका दी है। जब कहानी अलग हो चुकी है और खाल अलग से आती है तो क्यों हम ऐसा करें कि डोरी को हर्षद मेहता बना दें। क्या ऐसा नहीं हो सकता? यदि ऐसा करें तो क्या वह कहानी बनेगी या कि विमर्श, कहानी, आलोचना, बातचीत, रिपोर्ताज, कमेन्टरी का एक फेंटा हुआ बकवास। एक कथा लेख — क्या इस बकवास में अपने काल की कथा कही जा सकती है?

उस शाम से देर तक केजी अचरज भरे ढंग से ख़ामोश रहा। फिर तीन-साढ़े-तीन घण्टे बाद बोला, "तुम इसे लिख डालो। एक बकवास ही बचा है जो लिखा जा सकता है"।

80
MONO
80
MONO
80
MONO
80
MONO

बीबीसी तरंगों पर उड़ते-उड़ाते

संजय शर्मा

सन् उन्नीस सौ बानवे समकालीन भारत के इतिहास का ऐसा साल है जिसे भुलाना मुश्किल है। उस वर्ष 6 दिसम्बर ऐसा दिन था जिसने अनगिनत लोगों को चोट पहुँचायी और अनेक गलियाँ बंद कीं। लेकिन सन् '92 ने कुछ अन्य रास्तों को खोला भी – ये वो काल था जब उपग्रह टेलीविज़न प्रसारण ने भारतीय उपमहाद्वीप में दूरदर्शन के तंग रास्ते की जगह चौराहे बनाने शुरु किये। ये अलग सवाल है कि प्रसारण और तरंगों के तमाम विकल्पों ने हमें नयी दिशाएँ दी हैं या अक्सर गोल-गोल घुमाया है...।

1992 में ही मैं भारतीय उपमहाद्वीप के औपनिवेशिक काल में पड़े अकालों पर शोध करने लंदन गया। शोध के साथ-साथ ब्रिटेन में बीबीसी देखने और रेडियो सुनने का भी मौक़ा मिला। सार्वजनिक प्रसारण के क्षेत्र में बीबीसी का स्थान काफ़ी अनूठा है। यह संस्था ब्रितानी करदाताओं के पैसे से चलती है जो उसे विज्ञापनों और प्रायोजकों पर दयनीय रूप से निर्भर नहीं बनाती। बीबीसी अजीब तरह से स्वायत्त है। भारत में दूरदर्शन और आकाशवाणी के साये में पली-बढ़ी पीढ़ी के लिए यह समझना मुश्किल हो जाता है कि अगर कोई संस्था सरकारी पैसे पर जी रही हो तो वह सरकार की क्या ख़ाक आलोचना करेगी? लेकिन बीबीसी को ब्रितानी समाज की विशिष्टताओं के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। मिसाल के तौर पर ब्रितानी टेलीविज़न के हास्य धारावाहिकों को लिया जा सकता है। इनमें अक्सर ब्रितानी तौर-तरीक़ों, नज़रियों और वर्गीय ढाँचे पर बेहतरीन और करारा व्यंग्य किया जाता है। कई बार अंग्रेज़ी भाषा का ऐसा चतुर और छलावेदार इस्तेमाल दंग करने वाला होता है। और राजनीतिक व्यंग्य की परंपरा तो इतनी मज़बूत है कि इसमें महारानी और प्रधानमंत्री तक को नहीं बख़्शा जाता है। जो समाज अपनी महारानी के कंधे को सहारे देने वाले पर बिफ़र उठता है और जिसकी महारानी सफ़ेद दस्ताने पहन कर किसी से हाथ मिलाती है (ताकि त्वचा का स्पर्श न हो) वहाँ के हास्य-व्यंग्य कार्यक्रमों में महारानी के शौच-कर्म और प्रधानमंत्री के यौन-जीवन पर खुल कर काल्पनिक स्थितियाँ गढ़ी जाती हैं। तथाकथित stiff upper lip संस्कृति के इस उच्छृंखल रूप को कैसे समझा जाये? शायद यह उनके सांस्कृतिक आत्मविश्वास की उपज है।

ब्रितानी लोगों में यह गहरा आत्मविश्वास मौजूद है कि अगर ब्रितानी लोकतंत्र, राजशाही, उपनिवेशवाद या कमज़ोर होती अर्थव्यवस्था का कोई सबसे अच्छा मज़ाक उड़ा सकता है तो स्वयं ब्रितानी लोग ही हैं। इसमें एक चतुरायी भी है कि इससे पहले कोई और आपका मज़ाक उड़ाये आप खुद ही यह काम कर लें। मुझे यह बात काफ़ी खटकी कि सदियों पुरानी सभ्यता होने के बावजूद भारत में हम हँसी-मज़ाक के प्रति अक्सर काफ़ी संवेदनशील हो जाते हैं। हम आदर और परंपरा के बोझ से इतने गंभीर और पीड़ित हो जाते हैं कि हँसना भूल जाते हैं। हमने गाँधी जी को राष्ट्रपिता के रूप में स्थापित कर दिया मगर यह भूल गये कि गाँधी जी में स्वयं बेहतरीन sense of humour था। गाँधी जी के कितने ही क़िस्से और जवाब लोक-जीवन में 'मुग़ल-ए-आज़म' और 'शोले' के संवादों से कहीं पहले दोहराये जाते रहे हैं (गाँधी जीः मैं रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में इसलिए सफ़र करता हूँ

क्योंकि चौथा दर्जा नहीं है, भारत में भी Ford गाड़ी है — बैल गाड़ीः Ox-ford)। लेकिन गाँधी जी को सार्वजनिक जीवन में हमने महिमामंडित करके ऐसे गंभीर पितामह के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है जिससे उनकी मशहूर विनोदप्रियता छिप गयी है। उसे वापस लाना हमारे जन-माध्यमों और सांस्कृतिक मूल्यों के लिए एक बड़ी चुनौती है।

बहरहाल जब मुझे बीबीसी हिन्दी सेवा के लिए प्रसारण करने का मौक़ा मिला तो ज़िंदगी में बेहद दिलचस्प और बहुत कुछ सिखाने वाला अध्याय जुड़ गया। मेरे ख़याल से टेलीविज़न के प्रसार से पहले कम से कम उत्तर भारत में जो भी रेडियो के साथ पला-बढ़ा है वह बीबीसी हिन्दी प्रसारण से अछूता या अनजान रहा हो यह संभव नहीं। सत्तर के दशक में ख़ासकर आपातकाल के दौरान बीबीसी सुनना एक पवित्र कर्म था — हर उस व्यक्ति के लिए जो कोई विकल्प की तलाश में था, जिसमें जानकारी की भूख-प्यास थी या जो सोचने-विचारने वाला था मगर ज़रूरी नहीं कि पढ़ा लिखा हो। सुदूर दुर्गम इलाक़ों में, गाँवों-क़स्बों में मौजूद स्थानीयता का भाव रेडियो की सुई घुमाते ही एक व्यापक वैश्विक अनुभव से घुल-मिल जाता था। आज के ग्लोबल टेलीविज़न चैनेल जो रिमोट का बटन दबाते ही उपलब्ध हैं उन्हें देखने की आसानी में वो सुख कहाँ जो शॉर्ट वेव पर बीबीसी ढूंढ कर लगा लेने में था। ज़रा सा चूके या हिले तो आवाज़ ग़ायब। और प्रसारकों की आवाज़ भी ग़ज़ब तरीक़े से आती — समुंदर की लहरों की तरह बहुत दूर से आने का अहसास दिलाती हुई और सराबोर कर देने वाली। रेडियो तरंगें जैसे जल-तरंग बजाती हुईं।

बीबीसी के इस चुम्बकीय आकर्षण की यादों के साथ जब मैंने लंदन स्थित 'बुश हाउस' में हिन्दी सेवा के कार्यक्रमों में हिस्सा लेना शुरु किया तो मैं तमाम आशंकाओं से ग्रस्त था। एक ओर तो ये अहसास था कि जिस विभाग से बलराज साहनी, जॉर्ज ऑर्वेल, मॉर्क टली (जिन्हें आज भी भारत में बहुत लोग प्यार से तुली साहब कहते हैं) जैसे लोग कभी जुड़े थे उसकी संपन्न विरासत के साथ न्याय कैसे किया जाये। दूसरी तरफ़ विचारधारा-संबंधी अपने कई संशय भी थे। आख़िर बीबीसी ने ग़ुलाम हिंदुस्तान के लिए द्वितीय विश्व-युद्ध के समय प्रसारण शुरु किया था — क्या ऐसी संस्था अपने औपनिवेशिक अतीत की छाया से मुक्त होगी? क्या समृद्ध और सुविधा-सम्पन्न लंदन में बसे बीबीसी में कार्यरत लोग भारत के ज़मीनी यथार्थ की बारीकियों और दर्द को समझते हैं? क्या भारतीय समाज की सुगबुगाहट को फ़ोन-फ़ैक्स या इंटरनेट की वर्चुअल (virtual) दुनिया में महसूस किया जा सकता है? और वस्तुपरकता (objectivity) के प्रति उदारवादी प्रतिबद्धता और निष्पक्षता (neutrality) के दावे क्या स्थापित मूल्यों को चुनौती देने में आड़े नहीं आयेंगे? ऐसे कितने ही सवाल उठे जो आज भी मौजूद हैं — कुछ के संतोषजनक जवाब मिले, कुछ भ्रांतियाँ टूटीं, कुछ मोहभंग भी हुआ।

हालाँकि बीबीसी वर्ल्ड सर्विस के प्रसारणों का ख़र्च ब्रिटेन का विदेश मंत्रालय उठाता है किन्तु संपादकीय फ़ैसलों पर उसकी पकड़ वैसी नहीं है जैसी अन्य देशों के मीडिया-सेठों या सरकारों की होती है। बल्कि ये कहना ही होगा कि रोज़मर्रा के कामकाज में बीबीसी में मैंने काफ़ी स्वतन्त्रता देखी। हाँ, ये कहा जा सकता है कि सब कुछ एक व्यापक उदारवादी ढाँचे में होता है जिसमें आलोचना और विरोध की धार का पैनापन कुंद हो जाता है। भारत में दूरदर्शन और ऑल इंडिया रेडियो पर सरकारी शिकंजे ने बीबीसी की साख बढ़ाने में विशेष योगदान दिया है। बीबीसी द्वारा निष्पक्षता, स्वतंत्रता और विश्वसनीयता के दावों की जड़ें औपनिवेशिक दौर में खोजी जा सकती हैं जब अंग्रेज़ों को हिंदुस्तान में बहुत लोग तटस्थ, निष्पक्ष, वक़्त का पाबंद और नैतिक रूप से ईमानदार मानते थे। इसका कुछ अंश शायद आज भी बीबीसी के पुराने और वफ़ादार श्रोताओं में मौजूद है।

बीबीसी ब्रितानी समाज की तरह कई मायनों में परंपरावादी है। हालाँकि इसमें आज सैंकड़ों

ग़ैर-ब्रितानी लोग काम करते हैं किन्तु शीर्ष पदों पर और नाज़ुक विषयों पर ख़बरें देने का काम श्वेत लोग ही अधिक करते हैं। हाल के वर्षों में बीबीसी टीवी और रेडियो में ग़ैर-युरोपीय चेहरों की उपस्थिति बढ़ी है किन्तु इनमें से भी अधिकाँश लोग वो हैं जो ब्रिटेन में पले-बढ़े हैं। साथ ही अंग्रेज़ी के तमाम लहज़ों को पहले की तुलना में सम्मानजनक जगह मिली है। किसी ज़माने में ऑक्सब्रिज लहज़े वाली अंग्रेज़ी का दबदबा था लेकिन अब वेल्श, स्कॉट या दक्षिण एशियाई लहज़े वाली अंग्रेज़ी से बीबीसी को परहेज़ नहीं। मगर इससे ऊँच-नीच और भेदभाव की मनोवृति कितनी कमज़ोर हुयी है? या बीबीसी को केवल ज़माने की हवा लग गयी है जिसके चलते वह पोलिटिकली करेक्ट हो गयी है? बहरहाल नस्लवाद पर बहस काफ़ी जटिल है... वह फिर कभी।

रेडियो प्रसारण की अहम् ज़रूरतें हैं भाषा, स्वर और उच्चारण; और मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि मेरी आवाज़ और भाषा को प्रसारण के क़ाबिल माना गया। अपनी आवाज़ को माइक्रोफ़ोन और टेप पर जाते देखना बड़ा ही डेमोक्रेटाइज़िंग अनुभव था — इससे पहले मैं तो यहीं सोचता था कि आवाज़ उन्हीं की रेकॉर्ड होती है जो मोहम्मद रफ़ी, लता मंगेशकर, किशोर कुमार या अमीन सयानी के आस-पास हों। जहाँ तक भाषा का सवाल है तो एक श्रोता के रूप में मैं बीबीसी द्वारा हिन्दी के विविध प्रयोगों से वाक़िफ़ था। हिन्दी सेवा के भाषा संबंधी कुछ मानक तो हैं लेकिन वो मुहावरे रहित सरकारी हिन्दी की कभी क़ायल नहीं रही। और रहती भी कैसे? हिन्दी खाड़ी के देशों से लेकर पूरे दक्षिण एशिया में तरह-तरह से बोली जाती है। बीबीसी के अनेक क्षेत्रीय संवाददाताओं की रिपोर्टों में जनपदों का रंग घुला होता है। ये उसकी ख़ूबी है। बीबीसी हिन्दी सेवा, हैदराबादी, बंगाली, गुजराती या 'मद्रासी' शैली में ग़ज़ब की चोखी हिन्दी परोसती है। उसके करोड़ो श्रोता अंचलों में रहते हैं जिन्हें लंदन से प्रसारित अपने लहज़े की हिन्दी भाव-विभोर कर देती है। इसका मतलब ये नहीं कि हिन्दी के स्वरूप को लेकर बीबीसी हिन्दी सेवा में तनाव और बहस नहीं है। वहाँ भी मुद्दे वहीं हैं जो हिन्दी सार्वजनिक क्षेत्र में बरसों से हैं। मसलन क्या शुद्ध शब्दों की जगह ऐसे शब्दों का इस्तेमाल किया जाये क्योंकि उन्हें हिन्दी पत्रकारिता ने चला दिया है — जैसे accused के लिए अब 'आरोपी' धड़ल्ले से लिखा जाता है या मुख़ालफ़त की जगह 'ख़िलाफ़त' जो ग़लत है। कुछ लोगों का मानना है कि क्षेत्र को 'छेत्र' बोलने में कोई हर्ज नहीं और नुक़्ते का सवाल हमेशा विवादों के घेरे में रहा है। यह दिलचस्प तथ्य है कि आज़ादी के पहले की हिंदुस्तानी सेवा बाद में इंडियन सेक्शन और पाकिस्तानी सेक्शन में बँट गयी। कालांतर में ये हिन्दी सेवा और उर्दू सेवा कहलायी। यह विभाजन दुर्भाग्यपूर्ण ही है — हिन्दी और उर्दू सेवाओं में जो दोस्ती है उसे देखते हुए उनके अलग होने का क्या औचित्य है? कम से कम बीबीसी में हिन्दी-उर्दू के लिए राष्ट्रवाद के तक़ाज़ों से ऊपर उठने की संभावना थी। पाकिस्तानी सेवा को उर्दू सेवा में तब्दील कर वही ऐतिहासिक भूल हुई जो बार-बार दोहरायी जाती रही है — क्या उर्दू सेवा के कार्यक्रम भारत में उर्दू-भाषियों के लिए नहीं हैं? यह सवाल आज भी बीबीसी के सामने मुँह बाये खड़ा है। वर्ल्ड सर्विस ने 'राष्ट्रवाद' की सर्विस क्यों करनी शुरु की? और अगर करनी ही थी तो बांग्लादेश बनने के बाद बांग्ला सेवा को पश्चिम बंगाल और बांग्लादेश के लिए तोड़ देना चाहिए था।

यूँ बीबीसी की तटस्थता और निष्पक्षता दक्षिण एशिया की दुखती रगों को बराबर छूती रहती है। कश्मीर को भारत अधिकृत कश्मीर या पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर कह कर दोनों देशों के 'देशभक्तों' की भावनाओं को ठेस पहुँचायी गयी लेकिन यह तटस्थता की माँग थी। बाद में भारतीय कश्मीर जैसी शब्दावली के प्रयोग से 'देशभक्तों' को कुछ राहत मिली। लेकिन कई बार बीबीसी के विदेश संवाददाताओं की तटस्थ और वस्तुपरक शैली में उनके रुझान और स्थापित मान्यताएँ साफ़ झलकती हैं। ख़ासकर जब पूर्व सोवियत संघ, साम्यवाद या उन समाजों की चर्चा होती तो पश्चिमी सभ्यता से भिन्न हैं। इनसे संबंधित रिपोर्टों में पूर्वाग्रह और प्राच्यवादी (orientalist) धारणाएँ अक्सर स्पष्ट दिखती हैं। मिसाल के तौर पर जब रूस के तत्कालीन राष्ट्रपति येल्त्सिन गंभीर रूप से बीमार पड़े तो मॉस्को संवाददाता ने ख़बर दी कि इसका कारण अत्यधिक शराब का सेवन है। लेकिन साथ ही उसने ये भी जोड़ा कि रूस में शराबियों की संख्या कितनी है और रूस में शराब से मरने वालों की औसत उम्र येल्तसिन की आयु से कम है। यानी इस हिसाब से क्या येल्तसिन को पहले ही मर जाना चाहिए था? आख़िर देश के राष्ट्रपति को

राष्ट्रीय औसत का सम्मान करना चाहिए था! मुझे लगता है भारत में मार्क टली को जो इज़्ज़त मिली उसके पीछे एक बड़ी वजह है उनका भारतीय समाज के प्रति ऐसा नज़रिया जो सिर्फ़ आलोचना नहीं करता बल्कि तय मान्यताओं और रूढ़ियों का उनके परिवेश में रख कर परीक्षण करता है। लेकिन अनेक पश्चिमी टीकाकार भारतीय समाज, संस्कृति और राजनीति को केवल धर्म और जाति के माध्यम से समझते हैं। इस सरलीकरण से दक्षिण एशियाई समाज में क्रिकेट, हिन्दी फ़िल्मों और शाहरुख़ ख़ान, आमिर ख़ान, सलमान ख़ान की लोकप्रियता को कैसे समझा जा सकता है? और कैसे समझेंगे आप भारतीय समाज की अजब और जटिल आधुनिकताएँ — जिस समाज में वॉशिंग मशीन का इस्तेमाल दूध मथने के लिए किया जा सकता है, जहाँ कम्प्यूटर जैसी अति आधुनिक चीज़ दहेज में ली/दी जाये, जहाँ नाश्ते में पराँठे के साथ वाइन परोसी जा सकती हो और जहाँ मेलों में कम्प्यूटर से जन्म कुंडलियाँ बनायी जाती हैं — ऐसे समाज को निश्चित, स्थिर, और पूर्व-निर्धारित मान्यताओं से भला किस प्रकार समझा जा सकता है — लेकिन यह बीबीसी समेत अनेक पश्चिमी प्रेक्षकों की भाषा और दृष्टि में अक्सर दिखायी पड़ता है।

यह समस्या बीबीसी के अंग्रेज़ी संवाददाताओं की रिपोर्टों के अनुवाद में भी पैदा होती है। चूँकि हिन्दी सेवा के संवाददाता सारी दुनिया में नहीं हैं — होना संभव भी नहीं है — इसलिए हिन्दी में दिये जा रहे अन्तर्राष्ट्रीय समाचार और विशेष रिपोर्टें बीबीसी के विदेश-संवाददाताओं के अंग्रेज़ी डिस्पैचों के अनुवाद होते हैं। यहाँ समस्या अंग्रेज़ी के मुहावरों के हिंदीकरण की होती है। मसलन अंग्रेज़ी भाषा में 'hundreds of thousands' का अक्सर प्रयोग होता है लेकिन हिन्दी में 'सैंकड़ों-हज़ारों' कहने से बेहिसाब संख्या का अहसास नहीं होता। चूँकि भारत की आबादी दुनिया में दूसरे नंबर पर है इसलिए किसी भी तथ्य को आँकड़े से पुष्ट बनाने में अंग्रेज़ी के शब्द कई बार कामयाब नहीं होते। जैसे millions of people को कैसे व्यक्त किया जाये? लाखों या करोड़ों लोग? भारत में कुंभ मेले में एकत्र लोगों के लिए millions शब्द हल्का ही जान पड़ता है। सिक्के का दूसरा पहलू तब उजागर होता है जब तरह-तरह के लोगों की संख्या भारत के लिए सबसे बड़ी बतायी जाती है। हालाँकि ये प्रवृति देश-विदेश के तमाम जन-संचार माध्यमों में दिखती है। जैसे कहा जाता है कि दुनिया के सबसे अधिक नेत्रहीन भारत में हैं। इस हिसाब से भारत में सबसे ज़्यादा निरक्षर, चोर, प्रेमी, बलात्कारी, परोपकारी, निरंकारी... भी हो सकते हैं। ऐसे 'तथ्यों' से युक्त रिपोर्टें ख़बरें कम, गिनिस बुक ऑफ़ रिकॉर्ड्स का अंश ज़्यादा नज़र आती हैं।

प्रसारण की भाषा में देशज शब्दों के प्रयोग से अश्लीलता टपकने की आशंका बनी रहती है। भले ही ऐसे शब्द बेहद सटीक हों। अब female homosexuality को लें। अंग्रेज़ी में उसे lesbianism कहा जाता है मगर हिन्दी में उसका अनुवाद अपर्याप्त सा लगता है। शायद इस वजह से भी क्योंकि भारतीय समाज में महिलाओं के बीच यौन-संबंधों को मानने या मान्यता देने के लिए लोग तैयार ही नहीं होते। जब अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति बिल क्लिंटन के रंगीले यौन जीवन की ख़बरें सुर्ख़ियों में थीं तो उनके व्यवहार के लिए तरह-तरह के शब्द खोजे जा रहे थे। लेकिन बड़ी दुविधा थी। अमेरिका के राष्ट्रपति को क्या लम्पट कहा जाये, दुराचारी या लंगोट का कच्चा? समझने वाले समझ गये, जो ना समझे वो अनाड़ी हैं। वैसे अनुवाद का काम अनाड़ी हाथों में पड़ने के ख़तरे कम नहीं हैं। कुछ मिसालें नोश फ़रमाइये — Banana Republic: केला गणतंत्र, exchange of fire: अग्नि का आदान-प्रदान, Port of Spain: स्पेन का बंदरगाह, secular economic growth: धर्मनिरपेक्ष आर्थिक विकास। अंग्रेज़ी भाषा या किसी भी भाषा से तर्जुमा करते समय मुहावरेदार हिन्दी लिखने की चुनौती उठानी पड़ेगी ही लेकिन इसकी पहली ज़रूरत है common sense वर्ना हालत चुटकुले के उस व्यक्ति की तरह होगी जिसने हिन्दी में अपना नाम बताया सूर्यप्रकाश और अंग्रेज़ी में सनलाइट!

यह बात सर्वज्ञात है कि अनुवाद में मूल शब्द छिटक कर दूसरी संस्कृति के विमर्श में प्रवेश कर जाता है। जब ब्रिटेन में Mad cow disease फैली तो उसे पागल गाय रोग कहा गया। भारत में मुझसे बीबीसी के एक आहत श्रोता ने शिकायत की... "भारत में गाय पवित्र होती है पागल इंग्लैंड में होती होगी!" शायद इसी तर्क का इस्तेमाल करके अनेक धार्मिक हिंदू विलायत में यह कह कर गोमाँस खा लेते हैं कि विदेशी गाय पवित्र या पूजनीय नहीं होती! मुझे इंग्लैंड में ऐसे कई भारतीय मिले जो बहुत सारे हिंदुस्तानियों की तरह मंगलवार को माँस-मदिरा का सेवन नहीं करते। लेकिन इंग्लैंड में सात साढ़े-सात बजे घड़ी देखते रहते। चूँकि भारत में समय

BBCHindi.com

मौसम अनुसार ब्रिटेन से साढ़े चार या साढ़े पाँच घंटे आगे रहता है इसलिए जैसे ही भारतीय समयानुसार मंगलवार ख़त्म हो कर बुधवार शुरु होता, वे बिना किसी अपराध-बोध के माँस-मदिरा पर टूट पड़ते।

बीबीसी हिन्दी सेवा साठ वर्ष पार कर गयी है। षष्ठिपूर्ति के बाद भी यह भारतीय प्रसार-माध्यमों में देवानंद की तरह सदाबहार बनी हुई है, मगर कब तक? और वह कैसे मुक़ाबला करेगी नयी सूचना तकनीक और हिन्दी के निरंतर बड़े होते बाज़ार की माँगों का? क्या एफ़एम की तरंगें शॉर्ट वेव को निगल जायेंगी? क्या चटपटी हिंग्लिश सोंधी हिन्दुस्तानी को खा जायेगी? क्या Internet का श्रोता गाँव के साधनहीन श्रोता पर भारी पड़ पायेगा? वह श्रोता जिसके लिए कोई बात इसलिए सही है, अकाट्य सत्य है, क्योंकि उसने बीबीसी पर उसे सुना होता है। क्या पत्रकारिता में निहित तात्कालिकता गंभीर विश्लेषण और दूरदृष्टि को नष्ट कर देगी? क्या सबसे पहले और सबसे तेज़ ख़बर देने की कोशिश में बीबीसी रेडियो अपनी विश्वसनीयता और संतुलन खो तो नहीं देगा? ऐसे अनेक सवाल बीबीसी से जुड़े लोगों और श्रोताओं को मथ रहे हैं, बेचैन कर रहे हैं — लेकिन शुरुआत भी हो चुकी है। हिन्दी जगत आम तौर पर नयी प्रौद्योगिकी को अपनाने से घबराता है लेकिन हिन्दी सेवा के प्रसारण आज आसानी से नेट पर सुने जा सकते हैं। हिन्दी वेबसाइट पर देवनागरी से नये प्रयोग किये जा रहे हैं। तमाम स्थानीय पत्रकार और उनकी बोलियों के लहज़े मानक हिन्दी को चुनौती देने के साथ समृद्ध भी बना रहे हैं। कार्यक्रमों में लाइव रिपोर्टस और साक्षात्कारों का बड़ा अंश है और विज्ञान, राजनीतिक विवेचना और खेल-कूद पर रूपक बीबीसी के प्रसारणों को पूर्णता प्रदान करते हैं। आख़िर विज्ञापनों के बिना किसी भी कार्यक्रम को सुनना अपने आप में अनोखा और राहत पहुँचाने वाला अनुभव है। टेलीविज़न की वजह से श्रोता भले ही कम हुये हों किन्तु रेडियो को अब टेलीविज़न के केवल प्रतिस्पर्धी नहीं बल्कि पूरक के रूप में देखा जा रहा है। और आज भी संकट में लोगों को बीबीसी याद आता है — यानी ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग इन क्राइसिस।

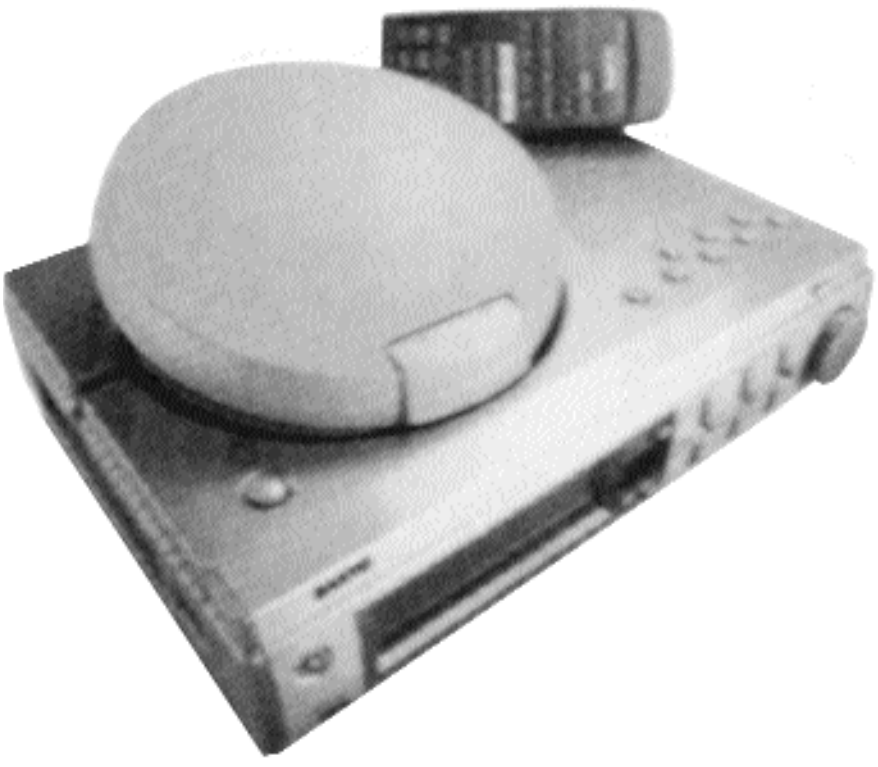

टेलीविज़न सत्याग्रह के वे दिन

बाप्सी सिध्वा

एक बार जब फ़ैसला ले लिया गया तो हमने राहत की सांस ली। बहस-मुबाहिसों और गलबात का वह छूटा हुआ सिलसिला शिद्दत से याद आने लगा और हमने जो खो दिया था उसको पा लेने की हड़बड़ी मच गई। सन् 1965 की शरद ऋतु के शुरुआती दिन थे और नवबंर में सफ़ेद-स्याह टीवी को पाकिस्तान में अपना प्रथम दर्शन देना था। तो वक़्तन-फ़वक़्तन 'स्टैंड' लेने वाले मेरे शौहर नौशीर ने तय किया कि वे टेलीविज़न सेट नहीं ख़रीदेंगे; हमें 'बुद्धू बक्से' की लत नहीं लगानी है।

उन दिनों मेरे अपने भी कुछ ख़याल थे और मैंने इस फ़ैसले में अपनी हामी भर दी। लाहौर में अफ़वाहों का बाज़ार गर्म था। अपने बीच टेलीविज़न के चमत्कार को लेकर लगायी जा रही अटकलों के साथ-साथ विकसित दुनिया में शुमार होने का ख़याल तोषप्रद था। लेकिन हमारे परिवार ने चौतरफ़ा बढ़ते दबावों को ख़ामोश घृणा से नज़रअंदाज़ किया। नौकरों की फुसफुसाहट में भी जो दबे-ढंके इल्ज़ामात थे, उनकी अनसुनी करते हुए हम टीवी-विहीन रहने के अपने निश्चय पर अटल रहे।

कुछ सालों बाद, हिन्दुस्तान ने भी अपने प्रारंभिक टीवी स्टेशन स्थापित किए और लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब अमृतसर टीवी चैनल लाहौर में दिखने लगा। हालाँकि इसमें ताज्जुब जैसी कोई बात नहीं थी — टीवी तरंगें तो कहां-कहां नहीं जातीं और अमृतसर से लाहौर तो महज़ बीस मील है। लेकिन अमृतसर तो पास होते हुए भी हमारे लिए जैसे अलास्का में था। दोनों सरकारों की सख़्त पाबंदी के चलते दो पड़ोसी शहरों के बीच संचार न के बराबर था। तो, जैसे ही अमृतसर से हिंदुस्तानी समाचार और डॉक्युमेंटरी हमारे टीवी के पर्दों पर आने लगे, यह खाई अप्रत्याशित रूप से पट गई।

हालाँकि हम राजनीति और ख़बरों के पुराने आदी थे — यहां ह्यूस्टन में भी हमारी शामें आमतौर पर राजनीतिक गपशप ही रंगीन करती हैं — नौशीर और मैंने अपना बहिष्कार जारी रखा। मुझे मान लेना चाहिए कि उसके इस 'स्टैंड' के पीछे जो ठीक चिंता या समझ थी उसे ठीक-ठीक समझने में मुझे थोड़ा वक़्त लगा। गप्प देना उसकी आदत है और इसी गप्पबाज़ी के लिए बंबई में पारसियों को 'कागरा-खाव' या कौआ-ख़ोर की उपाधि से नवाज़ा जाता है — मुझे लगता है कि टीवी दोस्तों के साथ होने वाली उसकी बैठक के बहस-मुबाहिसों में ख़लल डालेगा, इसका उसे डर था। उसने यह कहा भी: टीवी सभ्य वाद-विवाद का ख़ात्मा कर देगा। उसके शाम के दोस्तों को

ख़ामोश और बेवकूफ़ पुतलों में तब्दील कर देगा। उसका कहना इतना ग़लत भी नहीं था। तब से लेकर अब तक, केबल और विडियो के अतिरिक्त दबाव ने महिलाओं की पर-निंदा-पर-चर्चा और गलबाती सत्रों तथा पुरुषों के सियासी मुबाहिसों में अच्छी सेंध लगाई है। मनोरंजन के ताज़ातरीन साधन होने की वजह से पाकिस्तानी टेलीविज़न पाकिस्तानी सिनेमा की पारंपरिक रूढ़ियों से आज़ाद था। पाकिस्तानी सिनेमा की तमाम अभिनेत्रियाँ जहाँ सिर्फ़ हीरा मंडी की नर्तकियां होती थीं, टीवी ने अच्छे-भले घरों की प्रतिभाशाली महिलाओं को भी आकर्षित किया। सच तो यह है कि इस नई प्रतिभा के साथ-साथ रचनात्मकता ने पाकिस्तानी टीवी को भारतीय टीवी की नाटक-आदि प्रस्तुतियों की स्पर्धा में सालों तक बेहतर स्थिति में रखा।

लेकिन हिंदुस्तानी टीवी के पास एक चीज़ थी जो पाकिस्तानी टीवी के पास नहीं थी। इसके पास भारतीय फ़िल्मों का एक ऐसा बड़ा ज़ख़ीरा था जिसे पाकिस्तानी जनता ने नहीं देखा था। लिहाज़ा अपनी पुरानी ख़ामियों की भरपाई करने के लिए हिन्दुस्तानी टीवी ने हिंदुस्तानी फ़िल्मों की बाढ़ ला दी। और जिस फ़िल्म से यह सब शुरु हुआ, वह थी मशहूर फ़िल्म *पाकीज़ा*। मीना कुमारी और राजकुमार अभिनीत इस फ़िल्म में लता मंगेशकर और मोहम्मद रफ़ी के ढेर सारे गाने थे। इसको लाहौर में इतनी ख्याति मिल चुकी थी कि कुछ लाहौरियों ने तो बाक़ायदा वीज़ा लेकर अमृतसर जाकर इसे देखने की ज़हमत क़बूल कर ली थी।

यह अफ़वाह 70 लाख लाहौरियों में बिजली की तरह फैल गई कि उस ख़ास जुमेरात को अमृतसर टीवी *पाकीज़ा* दिखाएगा। कई दिनों तक कोई और चर्चा नहीं हुई। पहले से लोकप्रिय इसके तराने हर घर, गाड़ी और दुकानों के बाहर सुने जा सकते थे। टीवी सेटों की बिक्री में इज़ाफ़े के साथ सड़कों पर टेलीविज़न सेटों के गत्ते के कार्टनों से लदी-फदी गाड़ियों और ठेलों का कारवां दीखने लगा।

जिनके पास अभी तक टीवी सेट नहीं थे — ज़्यादातर लोगों के लिए टीवी निहायत महँगा था — उन्होंने क़िस्मत वाले दोस्तों और परिचितों के यहाँ फ़िल्म देखने की लंबी-चौड़ी योजना बना डाली थी। हमारी ज़िद से हमारे नौकर विस्मित और परेशान थे और उन्होंने अब तक इस विषय पर बमुश्किल मुँह खोला था। लेकिन उन्होंने भी पूरी ढिठाई के साथ पूछना शुरु कर दिया कि फ़लां-फ़लां ने ले लिया, हम टीवी कब ले रहे हैं। वे अपने क्वॉर्टर्स में मंडली जमाकर या दोस्तों के ड्राइवरों के इर्द-गिर्द जमा होकर हमारे दिवालियापन के बारे में अटकलें लगाते होंगे, ऐसा मेरा अंदाज़ा है। *पाकीज़ा* दिखाए जाने के एक हफ़्ता पहले उनकी सेवाएं पहले तो अजीब ढंग से मुस्तैद और शालीन हो गईं और जब इससे कुछ बनता न दिखा तो घरेलू काम करते हुए उनके चेहरे लटकने लगे। माहौल से बग़ावत की बू आने लगी। कभी इन्हें इस घर में काम करने का ग़ुमान था लेकिन अब टीवी वाले पड़ोसियों से ईर्ष्या और हमसे जुड़े रहने में अपमान महसूस होने लगा। हम उनकी नज़रों से बचने लगे। और अपना रवैया कड़ा कर लिया।

जुमेरात की शाम आई और नौकर उड़न छू! फ़ोन या दीगर ज़रिए से दोस्तों से संपर्क करना दूभर हो गया। खुद को तन्हा और त्यक्त तथा इस ऐतिहासिक-से लगते अवसर से वंचित महसूस करते हुए हमने कैंटोनमेंट में अपने टीवी-दार दोस्तों नीलोफ़र और फ़ख़र मजीद के यहां जाने का फ़ैसला किया। जब फ़ैसला हो गया तो एक फ़ौरी सुकून मिला और आख़िर वह दिन आ ही गया — शरद का वह वीरवार जब शाम 7.00 बजे *पाकीज़ा* दिखायी जानी थी। छोटे-छोटे ढाबों और चाय की दुकानों ने अपने अहातों के आगे सूरजमुखी छाप शामियाने-तंबू टांग लिए, और समोसा-चाय आदि पीने वालों के लिए अतिरिक्त कुर्सियां डाल दीं। जिनकी इतनी औक़ात भी नहीं थी उनके खड़े होने या बैठने की जगह का बंदोबस्त किया गया।

फ़क़त चार मील की वह यात्रा याद रहेगी। चुप्पी की चादर लपेटे हुए लाहौर जैसे भूतों का शहर हो गया था। हमारे घर के पास ही मेन गुलबर्ग मार्केट था पर मार्केट की गहमागहमी नदारद थी। हमारी वोक्सी गाड़ी को छोड़कर हर चीज़ निस्पंद। आमतौर पर खचाखच ट्रैफ़िक वाली सड़कों पर न तो बच्चे थे, न एक भिखारी और न ही कोई कुत्ता। हमें कर्फ़्यू में चलने का अहसास हुआ। तो उसी आलम में हम इस शहर-व्यापी जलवे में शिरकत करने के लिए जल्दी-जल्दी निर्जन गलियों में बढ़ते गए।

कैंटोनमेंट में हमारा स्वागत कालीन-बिछे, भीड़-भरे, ख़ामोश कमरे ने किया और हमने जैसे-तैसे ठंस-ठंसाकर अपने लिए दरी पर जगह बनाई। हमने पूरी फ़िल्म देखी — एक ख़ामोश दृढ़ता के साथ। पर्दे पर सफ़ेद-स्याह, आड़ी-तिरछी रेखाओं और बर्फ़ानी बूंदों के झटकों के बीच कभी-कभार कोठे पर अश्रुपूरित आँखों और हसीन अदाओं

वाली मीनाकुमारी की झलक दीख जाती थी। हमारे मेज़बान ट्रैकिंग नॉब को दाएं-बाएं घुमा रहे थे और दर्शक दीर्घा उनको मददगार सलाह देती जाती। बड़े ही सही ठिकाने पर अवस्थित एक लड़का – जो परदे पर नज़र रखे हुए जब चाहे बाहर निकल सकता था – छत पर खड़े ऐंटिना दुरुस्त करते हुए दूसरे लड़के से सतत संवाद कर रहा था। फ़िल्म अचानक साफ़ आने लगी और छत के लड़के को चिल्लाकर बताया गया कि एंटिना स्थिर हो गया, और दर्शकों ने अपनी हसरत पूरी होने पर ठंडी सांस ली। लगा कि पूरे शहर ने हसरत पूरी कर ली हो और मेलोड्रामा के प्रवाह और मीना कुमारी से सहानुभूति में रोने में जुट गया हो।

अगली सुबह नाश्ते पर मौक़े के मुताबिक़ संजीदा दीख रही हमारी आया ज़ोहरा ने अपने मैले-कुचैले दुपट्टे की गाँठ खोली और मुड़े-तुड़े एक रुपये के नोट को सीधा करते हुए मेरे पति के सामने डायनिंग टेबल पर रख दिया। इतने में चिमटा हाथ में लिए बावर्ची रसोई से प्रकट हुआ और उसने उतनी ही संजीदगी से एक और नोट हमारे सामने रख दिया। उसके बाद बैरे शुकरदीन, माली और झाड़ू-पोंछा वालों की बारी थी। जुम्मे का दिन था, इसलिए धोबी भी वहीं था और उसने भी नोटों के इस बेढब ढेर के ऊपर अपना नोट रखकर समारोह में शिरकत की। फिर वे सब अदब के साथ, पर बेचैन अंदाज़ में, टेबल के दूसरी ओर खड़े हो गए। तभी आमतौर पर उनकी अगुआई करने वाली, बड़बोली ज़ोहरा ने बाक़ायदा समारोहपूर्वक उनकी नुमाइंदगी करते हुए घोषणा की: यह हमारा योगदान है। हम सब आपको हर महीने तब तक चंदा देंगे जब तक आपके पास टीवी ख़रीदने के पूरे पैसे न हो जाएँ!

और हमारे घर अगले ही दिन टीवी लग गया।

अनुवादः रविकान्त

एसटीडी/आईएसडी

मॉनिका नरूला

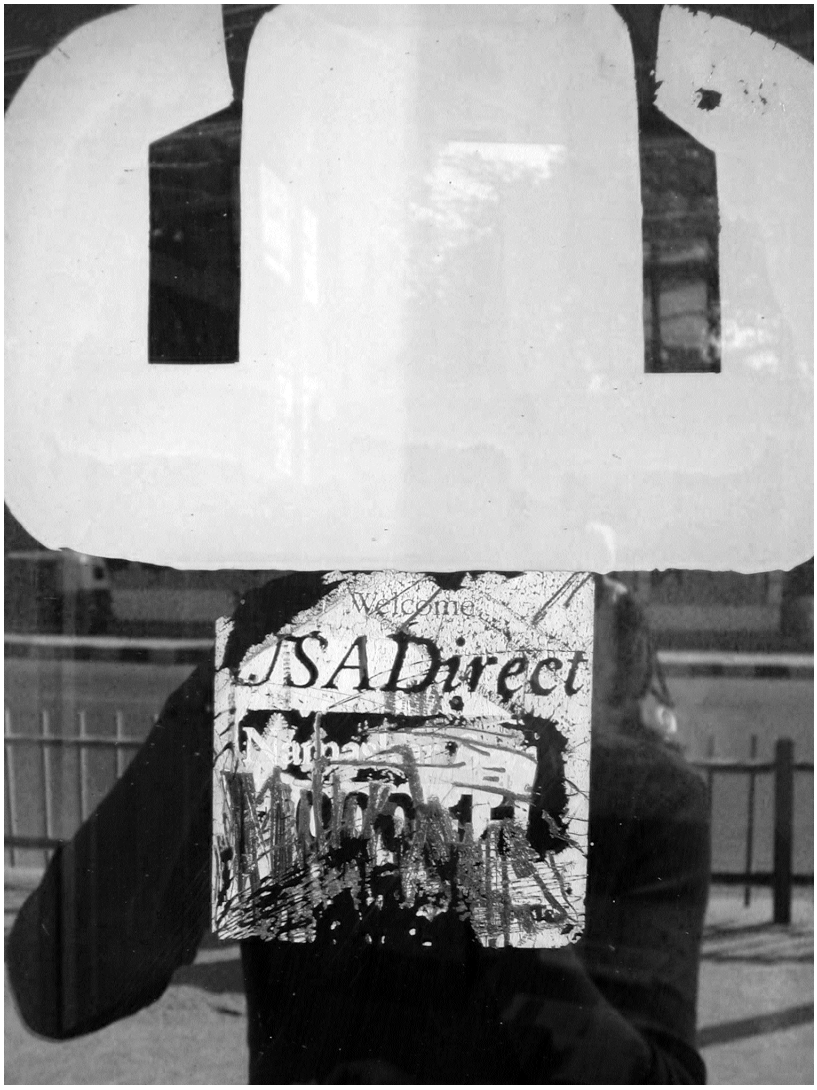

पंजाबी रवाना
ONLY FOR FAMILY
STD
ISD
STD

PHOTOSTA
COMPUTERISED PHONE REPA
COMPUTERISED PHONE REPAIRING
CORDLESS
PUSHBUTTON
MOBILE
TYPIN

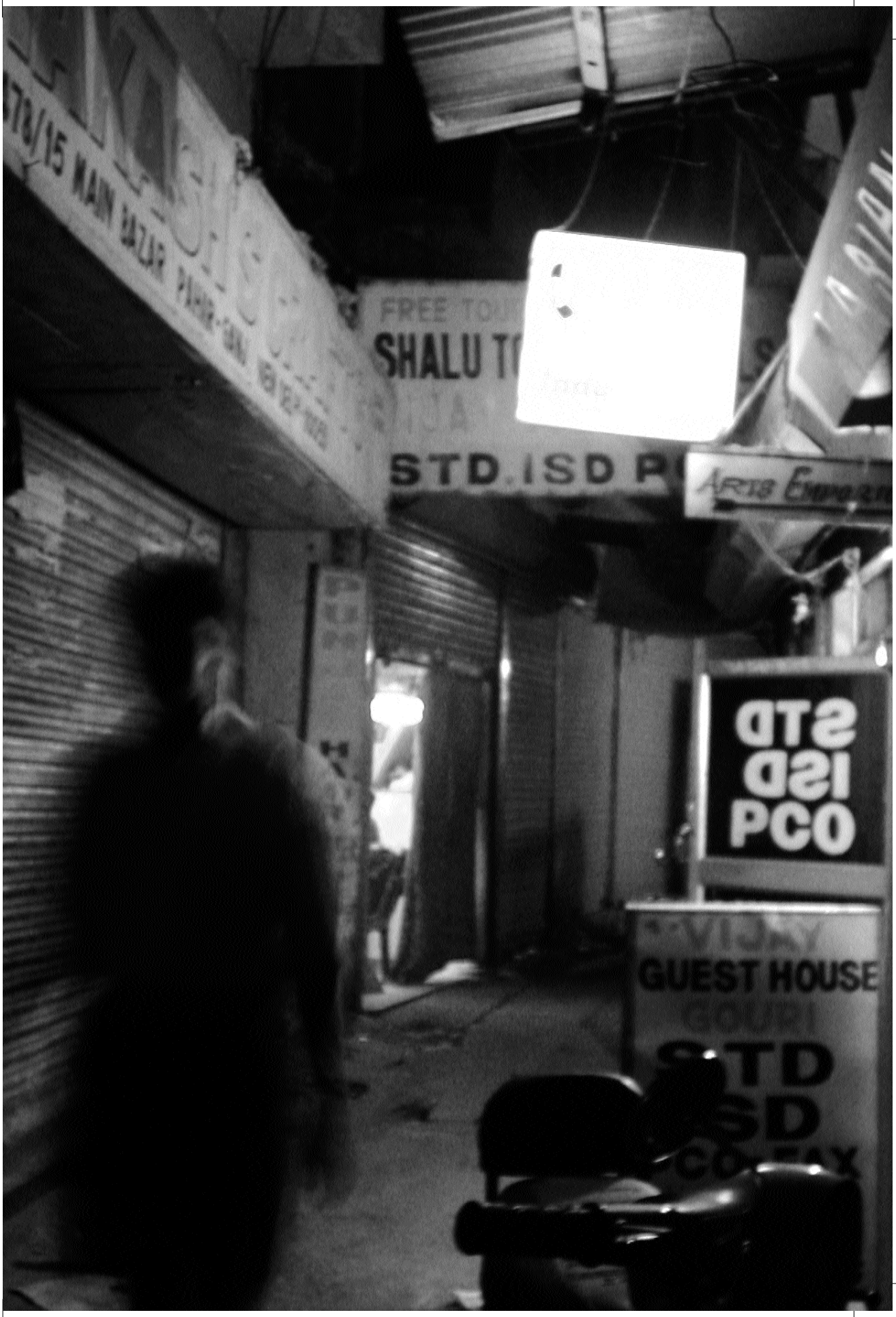
STD.ISD P
STD
ISD
PCO
GUEST HOUSE
STD

भाषा के बोल

राष्ट्रभाषा बन जाने के बाद भी हिन्दी के चेहरे से सतायी गयी और अवमानित भाषा का आवरण क्यों नहीं उतरा, बावजूद इसके कि सब कुछ उसके हक़ में था। उर्दू को मातृभाषा स्वीकार करने वाले भारतेंदु युग के उत्तराधिकारी हों, पंजाबी को मातृभाषा मानने वाले लाला लाजपतराय के अनुयायी हों, गुजरातीभाषी महात्मा गाँधी हों, या मराठीभाषी आंबेडकर हों, सभी लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर ही आसीन नहीं देखना चाहते थे, वे सभी यह भी चाहते थे कि सारा देश हिन्दी सीखे और उसका व्यवहार करे।

- अभय कुमार दुबे, 'किस्सा हिन्दी के "ह्यूमिलिएशन" का'

लेकिन यह हिन्दी का मामला है क्या? इसका राष्ट्रभाषा नहीं बन पाना? अपने लगभग मिटा दिए गुप्त अहम — अर्थात उर्दू के साथ संबंध का? इस तथाकथित हिन्दी पट्टी की दीगर देसी भाषाओं — जिन्हें हिन्दी वाले अब बोली कहकर पुकारते हैं — के बरक्स इसकी वर्चस्ववादी महत्त्वकांक्षाओं का? शायद राष्ट्रभाषा बनने की इसकी अनुचित आकांक्षाओं ने ही इसकी आम स्वीकृति को सबसे ज़्यादा बाधित किया है।

- आदित्य निगम, 'Hindi's Unhappy Consciousness'

चाहे-अनचाहे अंग्रेज़ी-विरोधी राजनीति ने हिन्दी को सत्ता पाने की और अंग्रेज़ी को सत्ता में बने रहने की भाषा बनाया है। अंग्रेज़ी बोलने वाले ग्लोबव्यापी गाँव से जुड़े हुए हैं तो हिन्दी वाले गँवई गाँव के ही रह गये हैं। हिन्दी प्रदेश में हिन्दी बोलने वालों की तीसरी दुनिया पर अंग्रेज़ी बोलने वालों की पहली दुनिया अपना साम्राज्य स्थापित कर चुकी है।

- मनोहर श्याम जोशी, *21वीं सदी*

मैं ये नहीं मानता कि हिन्दी भाषा में वह भाषायी संसाधन नहीं हैं, या वह स्रोत नहीं हैं, जिनके सहारे उसमें समाजशास्त्र या दर्शन जैसे विषयों पर लिखा न जा सके। आम तौर पर जब हम हिन्दी में इन विषयों पर लिखने की कोशिश करते हैं तो कल्पना ये रहती है कि दर्शन और समाजशास्त्र ठीक वैसा ही रहेगा जैसा अंग्रेज़ी में है, बस उसकी भाषा बदलकर हिन्दी हो जाएगी, मुझे लगता है इस सोच में बुनियादी खोट है। जब तक हिन्दी अपने लिए अलग विधा नहीं बना पाएगी या इसको दूसरी तरह से कहें तो हिन्दी में समाजशास्त्र कैसा होगा, यह सवाल हमारा बुद्धिजीवी पूछने को तैयार नहीं हैं। उसे लगता है इसका उत्तर स्वयंसिद्ध है, समाजशास्त्र एक ही तरह का हो सकता है, वैसा ही जैसा अंग्रेज़ी में होता है। हिन्दी में होगा, लिपि बदल जाएगी, भाषा बदल जाएगी, शब्दावली बदल जाएगी, समाजशास्त्र थोड़े ही बदल सकता है। इस सोच में बुनियादी खोट है।

- योगेन्द्र यादव, 'हिन्दी में समाजविज्ञान का स्वरूप'

हिन्दी प्रसारण की भाषा कैसी हो? संस्कृत के निकट या उर्दू के नज़दीक? या फिर उसका रोमांस अंग्रेज़ी के साथ हो? क्या अंग्रेज़ी में उपलब्ध समाचार सामग्री के अनुवाद मात्र से हिन्दी के पाठकों श्रोताओं और दर्शकों की ज़रूरत को पूरा किया जा सकता है? क्या इन श्रोताओं और दर्शकों को जाने-समझे बिना उनके लिए सार्थक प्रसारण या प्रकाशन संभव है? क्या हिन्दी इतनी सक्षम दिखाई देती है कि इंटरनेट के साथ शुरू हुए प्रसारण के एक नए युग में, नई चुनौतियों का सामना कर सके? और अगर इतनी सक्षम है भी तो क्या भारतीय समाज वाक़ई हिन्दी को फलते-फूलते देखना चाहता है? और अगर चाहता भी है तो क्या शहरों की अंग्रेज़ीपरस्त व्यवस्था ऐसा होने देगी? और इन सारे सवालों के साथ एक बड़ा सवाल यह भी है कि क्या हिन्दी भाषा, नई तकनीक, नए प्रसार माध्यमों के अनुरूप खुद को ढाल पाएगी? हिन्दी क्या करे? नए राजनीतिक, आर्थिक और तकनीकी माहौल में हिन्दी की भावी रणनीति क्या हो? गठजोड़ की या अलगाव की?

- अचला शर्मा, *नए जन-संचार माध्यम और हिन्दी*

न तो हमारे सामाजिक संबंधों की प्रकृति एकोन्मुखी है न ही हमारी सामाजिक अस्मिता एकाश्मक है।

- रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, *भाषाई अस्मिता और हिन्दी*

ये ख़लिश कहाँ से होती...

आलोक राय >< संजय शर्मा >< शाहिद अमीन

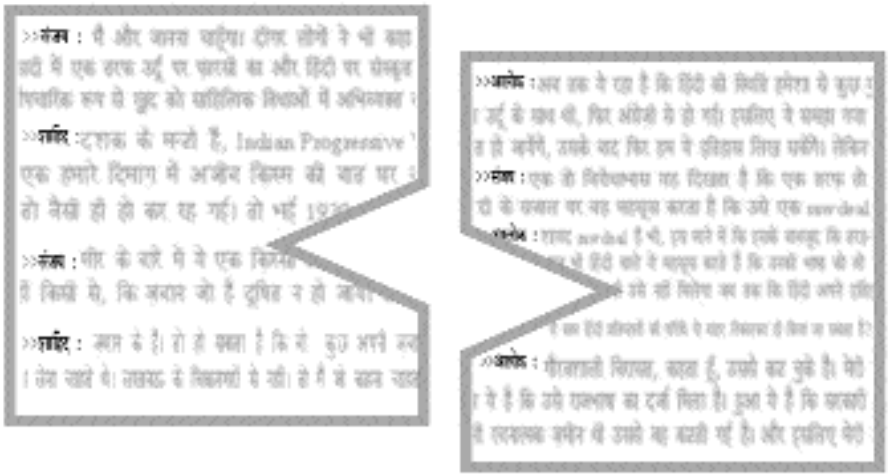

संजय शर्मा > < आलोक राय

>>**संजय :** अपनी किताब *हिन्दी नैशनलिज़्म* के बारे में बताएं — मुख्य कथ्य क्या है, कौन-कौन से मुद्दे उठाए गए हैं?

>>**आलोक :** संजय, मेरी कोशिश ये दिखाने की रही है इस किताब में कि हिन्दी, आधुनिक हिन्दी, जिसको आज हम मानक हिन्दी समझते हैं, वो किस प्रक्रिया से बनती है। ये इतिहास मेरी नज़र में हिन्दी जगत में पूरी तरह से आया नहीं है। इसके कई कारण हो सकते हैं, उन कारणों में जाने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन मेरी नज़र में हिन्दी के अपने स्वस्थ विकास के लिए ज़रूरी है कि इतिहास ठीक से जाना जाए। इसलिए पहली कोशिश तो मेरी यही है कि ये इतिहास हिन्दी मानस में आये। मेरा अपना ख़याल ये भी है कि हिन्दी का विकास महज़ एक भाषा का विकास नहीं है बल्कि उसका सम्बन्ध और बड़े मसलों से भी है। इसलिए मुझे लगता है कि जो हिन्दी प्रदेश का एक तरह का राजनैतिक भटकाव या ठहराव है, उसमें अगर हिन्दी को भी अगर मेरी नज़र में (विकृत) इतिहास से मुक्ति दिलवाई जा सकती तो शायद ये विकास सम्भव हो सकेगा।

>>**संजय :** अच्छा तो ये बताइये कि क्या हिन्दी वालों ने — हिन्दी के जो लेखक रहे हैं, जो संस्थापक रहे हैं — उनके जीवन, कर्म और इतिहास की पर्याप्त आलोचना नहीं की है? आपको ऐसा लगता है?

>>**आलोक :** असल में अब तक ये रहा है कि हिन्दी की स्थिति हमेशा से कुछ युद्धकाल की-सी रही है। हिन्दी की स्पर्धा पहले उर्दू के साथ थी, फिर अंग्रेज़ी से हो गई। इसलिए ये समझा गया है कि एक बार जब हिन्दी के सारे युद्ध समाप्त हो जायेंगें, उसके बाद फिर हम ये इतिहास लिख सकेंगें। लेकिन मेरी नज़र में वो स्थिति कभी

आएगी नहीं। और ज़रूरी यह है कि ये जो बातें दब गई हैं, या दबाई गई हैं (ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ) लेकिन जो बातें ध्यान में नहीं हैं उनको ध्यान में लाना आवश्यक है सिर्फ़ इसलिए कि जो ग्रन्थियां इस से जुड़ गई हैं, उनसे मुक्ति मिल सके।

>>**संजय :** अच्छा एक विरोधाभास तो यह दिखता है कि एक तरफ़ तो हिन्दी प्रदेश का राजनैतिक प्रभुत्व रहा है, लेकिन हिन्दी के सवाल पर वह महसूस करता है कि उसे एक raw deal मिली है, उसके साथ सौतेला व्यवहार हुआ है, ये कैसे?

>>**आलोक :** हम एक तरह से देखें तो शायद raw deal है भी, इस माने में कि इसके बावजूद कि तरह-तरह की संवैधानिक गारंटियाँ मिली हैं, लेकिन आज भी हिन्दी वाले ये महसूस करते हैं कि उनकी भाषा को वो दर्जा नहीं मिला जो उसे मिलना चाहिए। मेरी नज़र में वो दर्जा उसे नहीं मिलेगा जब तक कि हिन्दी अपने इतिहास, अपने विकासक्रम को ठीक से समझेगी नहीं क्योंकि हमेशा ये माना गया है कि दोष कहीं और है। दुश्मन कहीं बाहर है। मेरा तर्क यह है कि हिन्दी के दुश्मन हिन्दी में ही हैं, या हिन्दी में भी हैं और पहले उनसे जूझना पड़ेगा। उसके बाद ही हम आगे बढ़ सकते हैं।

>>**संजय :** और ये काम हिन्दी प्रतिष्ठानों की परिधि से बाहर निकलकर ही किया जा सकता है?

>>**आलोक :** भई देखिये, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन संस्थाओं ने और अन्य संस्थाओं ने भी अपने ज़माने में अच्छा काम किया है। लेकिन मेरी नज़र में ये उस इतिहास को भूल चुके हैं। अपने, जिसे मैं उनका हीरोइक बैकग्राउंड, गौरवशाली विरासत कहता हूँ, उससे कट चुके हैं। मेरी नज़र में शायद हिन्दी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य ये है कि उसे राजभाषा का दर्जा मिला है। हुआ ये है कि सरकारी सुविधाओं की तलाश में हिन्दी की जो अपनी रचनात्मक ज़मीन थी उससे वह कटती गई है। और इसलिए मेरी नज़र में हिन्दी का मसला सिर्फ़ इन हिन्दी संस्थानों की गिरफ़्त में रहा तो कभी सुलझेगा नहीं। इसलिए हिन्दी वालों के लिए ये ज़रूरी है कि हम हिन्दी — अपनी भाषा — को फिर से अपनाएं और ये जो हिन्दी के ठेकेदार हैं, उनसे उसको बचाएं।

>>**संजय :** इस मुहिम में आप अभिजात वर्ग की क्या भूमिका देखते हैं? उसके लिए तो हिन्दी दूसरे दर्जे की भाषा रहेगी न?

>>**आलोक :** देखिये वो जो अभिजात वर्ग है, जो अंग्रेज़ी-भाषी वर्ग है, उससे ये उम्मीद करना कि हिन्दी की नैया पार लगाएगा, ये तो नामुमकिन है। लेकिन हिन्दी वालों को तो कुछ करना पड़ेगा। और उसके बाद फिर जब हमारा अपना मन साफ़ हो जाता है, उस के बाद हो सकता है कि दूसरी लड़ाई लड़नी पड़े। लेकिन अभी तो हम वो लड़ाई लड़ने के लिये भी मुक्त नहीं हैं।

>>**संजय :** एक चीज़ अक्सर देखी गई है कि अगर आप हिन्दी वालों को यह याद दिलाएं कि उनकी विरासत में सांप्रदायिकता के तत्त्व भी हैं तो वे परेशान हो जाते हैं। कहते हैं, साहब हिन्दी ऐसी नहीं है। आप इस पर क्या कहते हैं?

>>**आलोक :** देखिये मैं एक बात साफ़ कर दूँ कि मैं अपने आप को एक हिन्दी वाला मानता हूँ। इसलिए मैंने जो लिखा, अपने आप को एक हिन्दी वाला मान के लिखा है और हिन्दी के हक़ मे लिखा है। ये सच है कि एक ख़ास वर्ग के मन में ये भ्रांति है कि हिन्दी राष्ट्रवाद और हिन्दू राष्ट्रवाद एक है। मेरी नज़र में ये एक नहीं हैं। लेकिन इन दोनों में एक सम्बन्ध है। क्या सम्बन्ध है, ये हमें खुद जानना है। अगर हम ये चाहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रवाद को

एक रूप दे सकें, कि हिन्दी राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राष्ट्रवाद एक नहीं हैं तो उसके लिए ये ज़रूरी है कि हिन्दी वाले पहले अपना इतिहास ठीक से जानें।

संजय शर्मा > < शाहिद अमीन

>>**संजय :** सबसे पहले आप यह बताइये कि यह हिन्दी और उर्दू का जो इतिहास है, क्या आप कहेंगे कि यह हमारे राष्ट्रवाद का भी इतिहास है। हिन्दी-उर्दू विवाद पर केंद्रित किताबों को पढ़ते हुए कई बार ऐसा लगता है जैसे साथ-साथ राष्ट्रवाद या साम्प्रदायिकता का इतिहास भी पढ़ रहे हों।

>>**शाहिद :** इसके बारे में एक तरह से तो मैं आप से मुत्तफ़िक़ हूँ, सहमत हूँ कि राष्ट्रवाद का इतिहास और हिन्दी-उर्दू का इतिहास भी एक तरह से मिला हुआ है। क्योंकि राष्ट्रवाद का इतिहास भी आख़िरकार भारत और पाकिस्तान का इतिहास हो जाता है। और एक तरह से हिन्दी और उर्दू का इतिहास हिन्दुओं और मुसलमानों के इतिहास के रूप में परिणत हो जाता है। लेकिन एक दूसरी बात है जो कि काफ़ी विस्मित करने वाली है, जिस पर लोग उतना ध्यान नहीं देते। पिछले 15-20 साल में हमने देखा है कि भारतीय राष्ट्रवाद को लेकर कई अवधारणाएँ निकलीं। तरह-तरह से इतिहासकार कह रहे हैं कि नहीं, यह ऐसा इतिहास है जिसको हमें नए तरीक़े से देखना है। लेकिन ताज्जुब की बात है कि बिल्कुल हाल तक हिन्दी के इतिहास को लेकर इस तरह से उतनी चर्चा नहीं हुई है। जैसे कि हिन्दी को अपने इतिहास की ज़रूरत ही न हो, वह तो बस, नैचुरली, है। इसलिए, आलोक राय की यह किताब एक अहम किताब है क्योंकि वह बताती है कि हिन्दी के भी कई इतिहास हो सकते हैं। हिन्दी के इतिहास में भी कई तरह से लोग दिख सकते हैं, जिस तरह से भारत के इतिहास में। जहाँ हिन्दी का — या यूँ कहिए — 'हिंदीत्ववादी' इतिहास या फिर राष्ट्रवाद का राष्ट्रवादी इतिहास एक ही हो सकता है, क्योंकि वह अपने आप में मुकम्मल है, अखण्ड है। लेकिन हिन्दी को लेकर अब नए सवाल उठ रहे हैं। ऐसे सवाल जो पहले राष्ट्रवाद को लेकर उठ चुके हैं। मसलन, एक तरह जो नया रवैया है, राष्ट्रवाद के इतिहास लेखन में सामने आया है, वो ये है कि राष्ट्रवाद के जो अभिजात हैं, एलीट हैं, ये दम भरते हैं कि हम 'निरीह जनता' और लोगों को रेप्रेज़ेंट करते हैं। लेकिन वो इन से भिन्न हैं। तभी तो वे रेप्रेज़ेंट करते हैं। इसलिए त्याग का जो भाव है वो बहुत अहम है किसी भी राष्ट्रीय नेता के लिए। गाँधी के बारे में तो यहाँ तक कहा गया कि 'देखिये बैरिस्टर थे, लेकिन कितना कुछ छोड़के साधारण आदमी की तरह हो गए'। उसी प्रकार हिन्दी भी यह दम भरती है कि वो भारत का जो यथार्थ है, उसको पूरी तरह से रेप्रेज़ेंट कर देती है। लेकिन क्या इसमें भी वही राष्ट्रवाद वाली बात नहीं है कि आप रेप्रेज़ेंट करते हैं क्योंकि आप बिल्कुल वो नहीं हैं। तभी तो आप रेप्रेज़ेंट कर रहे हैं।

तो क्या जो हिन्दी हम पढ़ते हैं, जिस हिन्दी से जूझते हुए हमारे बच्चे कई-कई बार खिन्न हो जाते हैं, क्या यह वही हिन्दी है जिसमें हमारा सर्वहारा या हमारा किसान बात करता है? हिन्दी को भारतीयता या सर्वसाधारण की ज़िंदगी का एक प्रतिबिम्ब समझा जाता है। लेकिन जो हिन्दी लिखी जाती है वो बिल्कुल वही नहीं है। देखिए प्रेमचन्द को लीजिये, *गोदान* को लीजिये। एक बहुत अहम राष्ट्रवादी उपन्यास है *गोदान*, जिसमें 'होरी' जब 'धनिया' से बात करता है तो एक भी भोजपुरी का शब्द उसमें नहीं आता।

भोजपुरी संज्ञाएं (nouns) हो सकती हैं *गोदान* में, भोजपुरी क्रियाएं (verbs) नहीं हैं। राही मासूम रज़ा का आप *आधा गाँव* देखिये। उसमें भोजपुरी verbs हैं, भोजपुरी वाक्य हैं। *आधा गाँव, मैला आंचल* इसीलिए ऐसे नॉवेल हैं, इतने अहम हिन्दी के नॉवेल हैं, जिनमें फुटनोट्स हैं। क्योंकि अगर किसी क्षेत्र के ठेठ यथार्थ को लेखक रेप्रेज़ेंट कर रहे हैं तो वह 'ठेठ' हिन्दी में रेप्रेज़ेंट नहीं कर पाते हैं। एक तरह से हिन्दी दावा करती है कि वो भारतीय जनता के ज़्यादा पास है उर्दू के बनिस्बत। लेकिन ये वो हिन्दी नहीं है जो जनता बोलती है। हिन्दी रेप्रेज़ेंट भी करती है लेकिन जिनको रेप्रेज़ेंट करती है उनसे ज़रा पृथक भी है। हिन्दी को अब ये महसूस करना है कि एक तरह से जहाँ वह रेप्रेज़ेंट कर रही है, वहीं वो लोगों को अपने ढंग से रेप्रेज़ेंट कर रही है। ये कोई जस-का-तस यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। हमारा एक भाषाई यथार्थ है और यह उसकी हिन्दी में अभिव्यक्ति है।

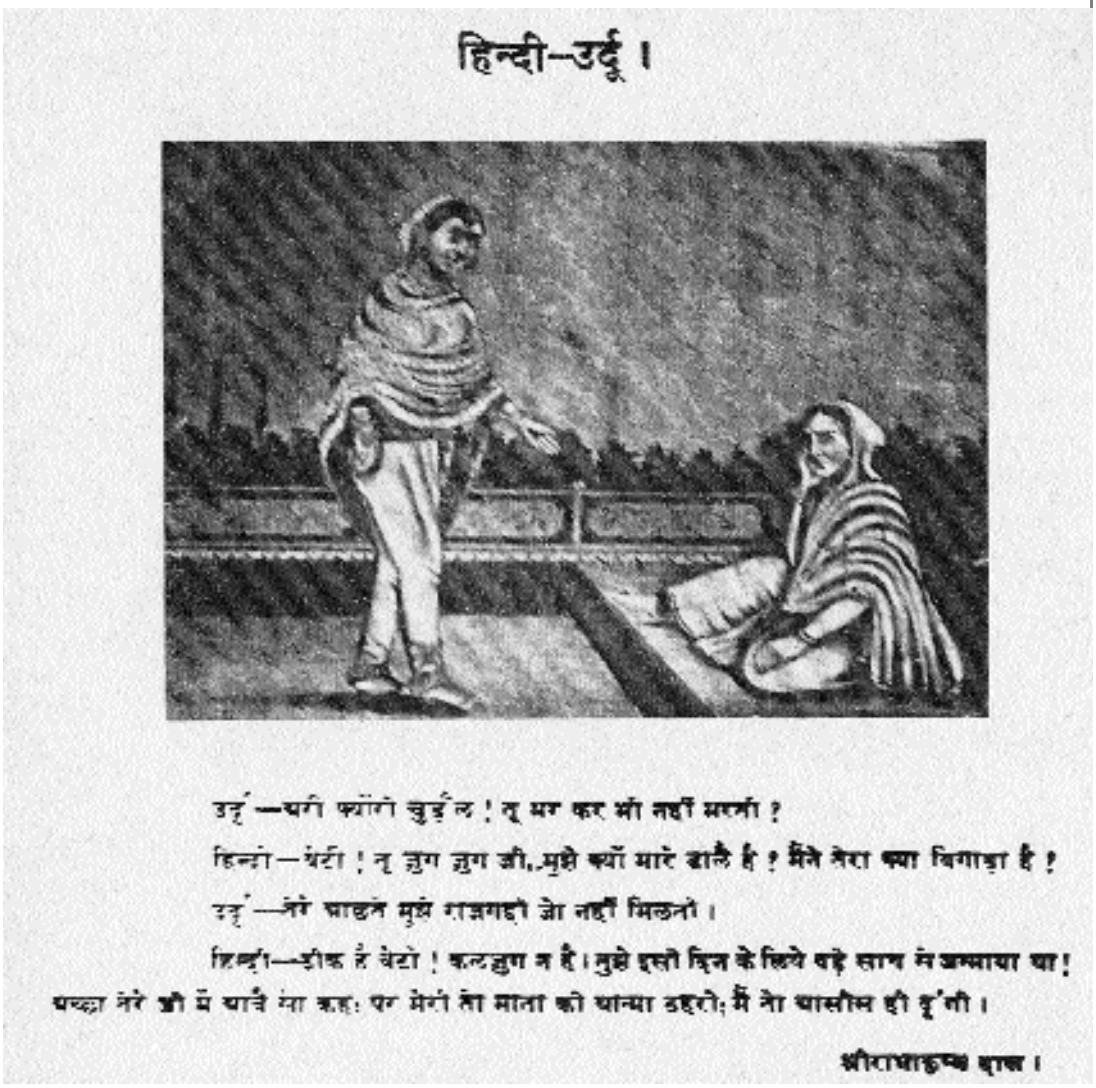

>>**संजय :** एक बात मैं और जानना चाहूँगा। दीगर लोगों ने भी कहा है और आलोक राय में भी है कि 18वीं-19वीं सदी में एक तरफ़ उर्दू पर फ़ारसी का और हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव बढ़ता है। लेकिन जब भी कोई भाषा औपचारिक रूप से ख़ुद को साहित्यिक विधाओं में अभिव्यक्त करना शुरु करती है तो इस तरह का शुद्धीकरण प्रायः होता ही है। बोलने से लिखने से छपने तक एक बदलाव होता ही है। अगर यह अवश्यंभावी है तो हिन्दी और उर्दू के बदलाव को लेकर इतनी परेशानी क्यों?

>>**शाहिद :** एक हद तक ये बात ठीक है, लेकिन औपचारिक साहित्य भाषा में किस तरह लिखा जाये वो भी तो बदलता रहता है। उर्दू के बारे में मैं ये कहना चाहूँगा कि ज़ाहिर है कि 19वीं सदी में उसमें फ़ारसियत का एक पुट है। लेकिन उसी जगह मीर भी हैं जिनकी पोएट्री में उतनी फ़ारसी नहीं है। उसी तरह हमारे 1930-40 के दशक के

मन्टो हैं, Indian Progressive Writers' Association (भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ) है। एक हमारे दिमाग़ में अजीब क़िस्म की बात घर कर गई है कि साहब उर्दू एक बार तगड़ी फ़ारसी वाली बनी तो वैसी ही हो कर रह गई। तो भई 1930-50 के जो मन्टो हैं, वो क्या वही उर्दू लिख रहे हैं जो हिन्दुस्तान के अवाम को समझ में नहीं आती है?

>>**संजय :** लेकिन मीर के बारे में ये एक क़िस्सा आलोक राय ने दिया है कि एक बार वो लखनऊ गये और बोले तक नहीं किसी से, कि ज़बान दूषित न हो जाये। तो कुछ वो अहसास उस एलीट में हमेशा से था कि हम अपनी ज़बान को भ्रष्ट न कर दें।

>>**शाहिद :** अपनी ज़बान को भ्रष्ट न कर दें, ये तो है। लेकिन मीर में भी 'कभू' या और इस तरह के कई लफ़्ज़ हैं जो कि करख़नदारी ज़बान के हैं। तो हो सकता है कि वो कुछ अपनी ज़बान को जो दिल्ली के करख़नदार हैं उनसे लेना चाहते थे। लखनऊ के चिकनगरों से नहीं। तो मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह कि एक तरह से क्योंकि हिन्दी का उर्दू पर 19वीं सदी में जो ज़बर्दस्त आरोप था, कि वह एलीटिस्ट है, इतना घर कर गया है हमारी सामूहिक भाषाई समझ में, इसलिए हम कई बार भूल जाते हैं कि 1930-40 तक आते-आते उर्दू वो एलीटिस्ट भाषा नहीं रही जो 19वीं सदी के आख़िरी दशकों की थी। नहीं तो साहिर को लीजिये या कैफ़ी आज़मी को लीजिये — आप देखेंगे कि उनके अंदर एक ताक़त है कि अपनी ग़ज़लों के अश्आर को ही वो बदल देते हैं, जब फ़िल्मों में आते हैं। तो उर्दू में एक क्षमता है, एक लोच है।

किसी भी भाषा की जब आपस में मुठभेड़ होती है तो ये एक तरह से लाज़िम है कि भाषा की बुनियादी ख़ासियत को एक जगह एक दौर में फ़िक्स कर दिया जाता है, क्योंकि आप अगर उसको फ़िक्स न करें तो उस भाषा को तेज़ बदलते हुए वर्तमान में कैसे बरत पाएंगे? तो मैं कहूँगा कि आज ख़ास तौर से हिन्दी की ये ज़रूरत है कि वह और लचीली हो, क्योंकि ज़ाहिर है हिन्दी — अगर मैं हिन्दी का एक शुद्ध शब्द इस्तेमाल करूं — पूर्णरूपेण इस वक़्त हिन्दुस्तान में सफल हुई है। इसलिए हिन्दी को अकड़ कर नहीं रहना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि अगर फ़लां लफ़्ज़ आ गया तो मिश्रता या मिलावट आ जाएगी। अरे आप में तो भोजपुरी भी आएगी और आप में उर्दू भी आएगी क्योंकि भोजपुरी कोई बिल्कुल अलग भाषा तो है नहीं। और ज़्यादातर लोग तो अब उर्दू में नहीं लिख रहे हैं। तो अब जबकि हिन्दी ही एक अलग भाषा है जिसमें हम लिख रहें हैं, आप लिख रहे हैं, सब लिख रहे हैं तो अब वह वो हिन्दी नहीं हो सकती — हिन्दी साहित्य सम्मेलन वाली, नागरी प्रचारिणी सभा वाली। क्योंकि वो हिन्दी तब लड़ रही थी जब उर्दू भी ताक़तवर थी। आज हिन्दी सबकी है। इसलिए हिन्दी ज़ुबान को भी अब लचीला होना पड़ेगा, जैसे कि मीर साहब ने कहा कि "हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए, सब उसी ज़ुल्फ़ के असीर हुए"। तो अब तो सभी लोग हिन्दुस्तान में बहुत हद तक हिन्दी में लिख रहे हैं। तो मैं जो देखता हूं जो कि मेरे ख़याल से एक दिलचस्प चीज़ हुई है — असग़र वजाहत हैं, अब्दुल बिस्मिल्लाह हैं, ये लोग हिन्दी में लिख रहे हैं, लेकिन वो एक पंडिताऊ हिन्दी तो नहीं लिखेंगे। इसलिए नहीं कि वो मुसलमान हैं, बल्कि इसलिए कि वो कामगार के बारे में लिख रहें हैं, बुनकर के बारे में लिख रहे हैं, एक ग़ैर हिन्दीत्ववादी जनपद के बारे में लिख रहे हैं। यहां मुझे एक दिलचस्प संभावना दिखाई देती है कि जिस तरह से हिन्दी ने अपने को परिभाषित किया था 19वीं सदी में उर्दू की टक्कर में — अब वो बदलेगा। बदलना चाहिये भी। क्योंकि अगर हमारे समाज में इतनी उथल-पुथल हो रही है, दलित प्रश्न इतना उभर के आया है। दलित लोग हर चीज़ को प्रश्नांकित कर रहे हैं और एक तरह से बहुत हद तक सही कर रहे हैं। उनकी तरफ़ से भी भाषा पर तो अब सवाल उठेंगे। हिन्दी जीती है, लेकिन क्योंकि जीत गई है और सबको रेप्रेज़ेंट करने का दम भरती है तो उसको अपने दरवाज़े और खिड़कियाँ और खोलनी पड़ेंगी।

>>**संजय :** फिर राजभाषा बनकर और राज्य के माध्यम से जो वो अपनी शक्ति को और बढ़ाना चाह रही है वो भी ठीक नहीं होगा...

>>**शाहिद :** ये तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि सरकार और अवाम जो है उसमें तो हमेशा शासक और शासित का रिश्ता रहा है भले ही वे हमारे प्रतिनिधि हों। तो अगर भाषा सत्ता की भाषा होगी तब तो फिर वो लोगों की बोलचाल की भाषा से और दूर होती चली जायेगी।

>>**संजय :** लेकिन अब तो ये हालत हो गई है कि उर्दू को अगर सरकारी मदद न मिले तो उस की पत्रिकायें और उसका पढ़ना-लिखना ही बिल्कुल जैसे ख़त्म हो जायेगा। आप सोचते हैं कि उसे सरकारी प्रश्रय की ज़रूरत है?

>>**शाहिद :** मेरे ख़याल से ये ज़रूरी है क्योंकि अगर देखिये तो जिस तरह से एक प्रकार का 'जल-जमाव' हो गया है, जिसकी वजह से उर्दू पढ़ना नामुमकिन-सा है हिन्दी जनपद में, स्कूल में, अगर आप ऐंग्लो-अरैबिक स्कूल में जाते हैं, मदरसे में जाते हैं, तब तो आप उर्दू जानेंगे। उसके अलावा आप कुछ नहीं जानेंगे। तो उर्दू का एक तरह से ghettoisation (दड़बाकरण) हो गया है। तो ज़ाहिर है कि एक तरह से उसको प्रोत्साहन देना पड़ेगा। हालांकि उसकी भी समस्याएं हैं, मसाइल हैं। क्योंकि फिर वही होता है कि एक ख़ास गुट सरकारी वरदहस्त के बल पर ही अपना काम करता रहता है। लेकिन मैं एक बात यहाँ कह देना चाहता हूँ कि मैं इससे मुत्तफ़िक़ नहीं हूँ, सहमत नहीं हूँ कि साहब, इस लिपि को ही ख़त्म कर दीजिये। क्योंकि वरना तो भई हिन्दी को भी क्यों न रोमन कर दिया जाए? दक्षिण में भी लोग पढ़ने लगेंगे। अगर हिन्दी की पहली लड़ाई देवनागरी लिपि की थी तो उर्दू को अगर संरक्षण देना है तो उसको रोमन लिपि करके ऐसा करना मेरे ख़याल से दुरुस्त नहीं होगा क्योंकि फिर आप उसे एक लम्बे ज़ख़ीरे से काट देंगे। उर्दू की एक जगह है, जगह थी और उसके लिये थोड़ी-बहुत तो सरकार से मदद की ज़रूरत है। लेकिन उससे ज़्यादा मेरे ख़याल से ज़रूरत है हिन्दी पढ़ाने में, हिन्दी पढ़ने में, हिन्दी लिखने में और लचीले होने की। स्कूली हिन्दी तो आज ऐसी है कि दूर से ही पता चल जाये कि साहब उर्दू का शब्द आपकी तरफ़ आने वाला है और बचके भाग लीजिये। जब तक ये मानसिकता रहेगी तब तक हमारा जो तनाव है भाषा को लेकर वो हमेशा रहेगा। मैं आप को बताऊँ आजकल मैं जो थोड़ा-बहुत हिन्दी में लिखता हँ, जहाँ भी 'ज' के नीचे बिन्दी लगाता हूँ तो लोग काट देते हैं — कि भई हिन्दी में बिन्दी क्यों? हिन्दी में नीचे की बिन्दी क्यों — तो भैया, हिन्दी में ऊपर भी बिन्दी क्यों? अगर आपका अल्फ़ाबेट (ककहरा) इतना अड़ियल रहेगा तो भाषा किस तरह से लोगों को आपस में एक साथ मिला पाएगी।

>>**संजय :** तो ये सवाल क्या इतना उलझ गया है? ये दरार बहुत ज़्यादा हो गई है? या आपको लगता है कि नहीं, अभी सारे रास्ते बंद नहीं हुए हैं?

>>**शाहिद :** ये तो भई अब साहित्य के ऊपर काफ़ी कुछ मुनहसिर है और अख़बार और साहित्य के बीच क्या रिश्ता हो, इसके ऊपर मुनहसिर है। जहां तक मैं देखता हूँ, अख़बार तो काफ़ी शुद्धीकरण की तरफ़ चलते रहेंगे। लेकिन आज हिन्दी के जो नए क़िस्म के लेखक आ रहे हैं, और वो नए मुद्दे उठा रहे हैं जो कि हाशिए पर रखे हुए लोगों के — चाहे वो औरतों का सवाल हो या दलितों का सवाल हो या जनजातियों का सवाल हो। तो ज़ाहिर है कि हमें सोचना पड़ेगा कि क्या *सरस्वती* की भाषा या महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा ही उपयुक्त है इन लोगों की भावनाओं को सामने लाने के लिए। मैं समझता हूँ कि जब एक नए क़िस्म के लोग हमारे शिक्षण संस्थानों में आएंगे तो जो बोलियाँ हैं, वो भोजपुरी है या अवधी है या अन्य, वो अपने आप तो ग़ायब नहीं हो जाएंगी? अभी भी दिल्ली में लोगों को थोड़ा ताज्जुब होता है — अरे ये तो 'बिहारी' सुनाई दे रही है। सिर्फ़ खड़ी बोली या पंजाबी सुनाई देनी चाहिये! तो एक तरह से इतनी social mobility होगी उसके साथ मुझे लगता है कि साहित्य में, हिन्दी लेखन में तो ज़रूर कुछ न कुछ बदलाव आयेगा। इतिहासकार के नाते मैं तो चाहूँगा कि जब मैं इतिहास लिखूँ तो वो हिन्दी में लिखा इतिहास हो, इतिहास में लिखी हिन्दी न हो।

>>**संजय :** आपकी नज़र में आलोक राय की किताब की कोई कमज़ोरी, या ख़ूबियां क्या हैं?

>>**शाहिद :** किताब की ख़ूबी तो ये है कि एक दुभाषिया आदमी लिख रहा है। क्योंकि अभी तक ज़्यादातर हिन्दी का इतिहास जो लोग लिखते रहे हैं वे हिन्दी विभाग के ही लोग रहे हैं। आलोक राय अंग्रेज़ी पढ़ते-पढ़ाते हैं और वो हिन्दी पर लिख रहे हैं। तो एक बड़ी दरार जो है, कि भई एक तो अभिजात वर्ग है जो सिर्फ़ अंग्रेज़ी काटता है और हम लोग हिन्दी वाले हैं, हम हिन्दी जानते हैं, एक तो उस खाई को उन्होंने पाटने की कोशिश की है। मेरे ख़याल से उन्होंने बहुत सारी चीज़ें कहने की कोशिश की है। लेकिन कमज़ोरी अगर है तो यह कि वो एक तरह से 1930-50 में हिन्दी और उर्दू में किस तरह का लेखन हुआ, ख़ासतौर से प्रगतिशील लेखक संघ वाले लोगों का, उसका रिश्ता पहले की लड़ाइयों से क्या है, हिन्दी उर्दू की जो जड़ छवि थी, उसे कैसे बदला, उसके ऊपर आलोक राय ने उतना काम नहीं किया। हालाँकि वो हमारा बहुत बड़ा सरमाया है, क्योंकि आख़िर वही है जो कि अभी हाल तक हमारी फ़िल्मों का एक अटूट अंग था। अब तो ख़ैर हिन्दी फ़िल्म गीतों का क्या हाल हुआ है वो तो अल्लाह या भगवान या ईसा मसीह, जो भी इस वक़्त सैटेलाइट में बैठा देवता है, वही जाने। लेकिन एक हद तक 1930-50 में प्रगतिशील लेखकों ने जो लिखा है, किस क़िस्म की हिन्दी और उर्दू आम लोगों के मसाइल और परेशानियों को झेलती हुई उभरकर आई है, मेरे ख़याल से आलोक राय उसकी तफ़्सील में नहीं जाते हैं, जो कि एक महत्वपूर्ण दृष्टि है हिन्दी और उर्दू की गुत्थी को समझने और सुलझाने में।

>>**संजय :** आपने फ़िल्मों की बात की – अब टेलीविज़न पर या फ़िल्मों में 'मुस्लिम सोशल' जैसी जो विधा थी वह बहुत कम दीखती है। टेलीविज़न तो जैसे एक अलग भाषा ही गढ़ रहा है जिसे हम हँसी और व्यंग्य में कभी-कभी 'हिंगलिश' कहते हैं। इस माहौल में क्या आपको ये लगता है कि भाषा पर पढ़ने से ज़्यादा टीवी देखने का असर हो रहा है?

>>**शाहिद :** टीवी का असर तो बहुत ज़बर्दस्त है और ज़ाहिर है कि हिन्दी भी स्कूलों में एक अजब कठमुल्लई तरीक़े से पढ़ाई जाती है। ज़्यादातर हिन्दी के शिक्षक, विशेष शिक्षक होते हैं। वो आप का क्लास टीचर नहीं होता है। वो बाहर से आता है, पढ़ा कर चला जाता है। तो ये हिंगलिश भाषा जो निकल रही है, मैं इसका समर्थक नहीं हूँ। मैं समझता हूँ कि अभी भी जो ज़्यादा मज़ेदार बात होगी वो ये कि जो हमारी नई पीढ़ी के लेखक होंगे वो किस तरह से क्लिष्ट हिन्दी को अपने तजुर्बों से प्रभावित करेंगे। वो तजुर्बे जो एक तरह से कई क़िस्म की बोलियों से जुड़े हुए हैं, उनको किस क़िस्म से लाएंगे। वो हिन्दी के लिए शायद वही काम करेगा जो अंग्रेज़ी में लिखने वाले हिन्दुस्तानी लेखकों ने अंग्रेज़ी के लिए किया। आज बहुत कहा जाता है कि सलमान रूश्दी के बाद से भारतीय लेखक जो अंग्रेज़ी में लिखते हैं उन्होने अंग्रेज़ी ज़बान को क्या से क्या कर दिया। मैं सोचता हूँ कि अगले 10-15 साल में हिन्दुस्तान में हिन्दी को लेके भी शायद यही होगा। शायद हम कहें कि वो देखिए, उस ख़ित्ते का अदीब, उस क्षेत्र का लेखक, उस भाषाई इलाक़े का मनई – उसे देखिए उसकी बात में एक पूरा इलाक़ा जी उठता है, जिससे हम नावाक़िफ़ थे। उसे पढ़े बिना उस जवार को नहीं जाना जा सकता। अगर हिन्दुस्तानी तजुर्बे को लेकर अंग्रेज़ी के लेखक उस भाषा में जो हासिल कर पाते हैं वही बात उत्तर भारत के अलग-अलग तजुर्बों को लेकर हिन्दी में क्यों नहीं हो सकता है? उसने मानक हिन्दी को कैसे-कैसे नए आयाम दिए हैं, यह सोचने की बात है।

...जो जिगर के पार होता

शाहिद अमीन >< आलोक राय >< पलाश कृष्ण मेहरोत्रा

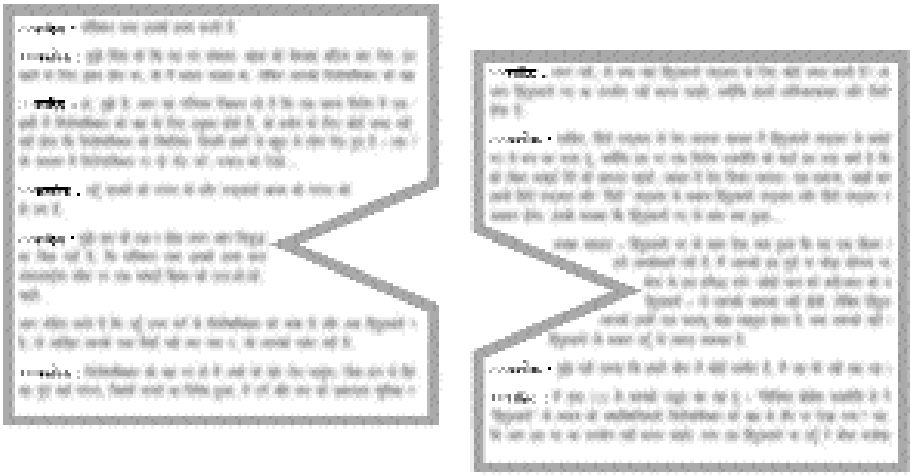

>>**शाहिद :** आपने अपनी किताब का नाम 'हिन्दी राष्ट्रवाद' रखा है। दिलचस्प बात है कि राष्ट्रवाद पर तो विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा होती रही है, लेकिन हिन्दी का केवल एक एकीकृत इतिहास माना जाता है। मुझे इसमें विरोधाभास दिखता है कि हिन्दी के पक्ष और विपक्ष में ढेर सारी बहसें हुई हैं, लेकिन काफ़ी देर तक हिन्दी के अंदर कोई बहस नहीं हुई। हिन्दी का कोई इतिहास नहीं था, जबकि 70 के दशक तक राष्ट्रवाद, जिसने हमें वाक़ई परिभाषित किया, के विभिन्न इतिहास सामने आने शुरु हो गए थे। इसके क्या मायने हैं? हिन्दी और राष्ट्रवाद के रिश्ते के बारे में यह हमें क्या बताता है?

क्या आप को कुछ अजीब सा नहीं लगताः राष्ट्रवाद को प्रश्नचिन्हित करने का दौर और हिन्दी पर सवाल उठाने के दौर में ये लगभग तीस साल का फ़र्क़। नक्सलबाड़ी दौर के बाद से राष्ट्रवाद पर सवाल उठने शुरु हो गए थे, जबकि हिनदी पर केवल अब जाकर सवाल दाग़े जा रहे हैं, अब जबकि अंग्रेज़ी के भारतीय लेखकों ने एक निश्चित मुक़ाम हासिल कर लिया है। अपनी किताब में आप महज़ एक निराश समर्थक के बजाय एक हताश द्विभाषी हिमायती दिखते हैं। तो सवालों का एक सेट तो ये हुआ।

दूसरे, कोई व्यक्ति उंगली उठा सकता है कि हिन्दी की आलोचना करने वाले आप कौन होते हैं? आप एक ऐसे व्यक्ति के दृष्टिकोण से हिन्दी को देख रहे हैं, जो केवल हिन्दी से बँधा हुआ नहीं है, सिर्फ़ उसी पर निर्भर नहीं है। क्या यह तर्कसंगत सवाल है?

>>**आलोक :** यह मान लेना कि हिन्दी के बारे में बोलने का अधिकार तथाकथित भुक्तभोगियों को ही है, शायद सही नहीं है। मेरा दृष्टिकोण उन लोगों का है, जो हिन्दी भाषी होते हुए भी... बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी को जिस तरह से परिभाषित किया गया, उससे एक दूरी बनाए रखने की ज़रूरत महसूस करते हैं।

>>**शाहिद :** और ऐसा नहीं है कि आप हिन्दी विरोधी या 'राष्ट्र विरोधी' हैं, बल्कि आप यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि हिन्दी और राष्ट्रवाद, दोनों के द्वारा किए जा रहे बड़े-बड़े दावों के मूल में क्या है।

>>**आलोक :** मुझे नहीं मालूम कि यह किताब में कितना स्पष्ट हो पाया है, लेकिन मेरी मंशा 'हिन्दी' और इससे संबंध रखने वाले राष्ट्रवाद के बीच अंतर करने की रही है और मैं एक ऐसे संभाव्य राष्ट्रवाद के बारे में सोचता हूँ, जो जनभाषा या जनभाषाओं के वैविध्य को प्रयुक्त और प्रतिबिंबित करता हो।

मेरा मानना है कि जब तक यह कृत्रिम 'हिन्दी' जनभाषा का पर्याय रहेगी या ऐसी समझी जाती रहेगी, हमारे राष्ट्रवाद के साथ गहरी समस्या रहेगी। इसके नाम पर लोगों का छलपूर्वक प्रतिनिधित्व किया जा रहा है। मैं हिन्दी राष्ट्रवाद और 'हिन्दी' राष्ट्रवाद के बीच अंतर करने का प्रयास कर रहा हूँ। हिन्दी राष्ट्रवाद संभवतः इस अर्थ में यूटोपिया है कि इसका अस्तित्व नहीं है। अभी तक इसका अस्तित्व एक अधूरी संभावना के रूप में है। यह एक क़िस्म का जन राष्ट्रवाद है, जो वास्तव में उन लोगों को लामबंद कर सकता है, जिनका इस समय प्रतिनिधित्व नहीं हो रहा है। हाँ, लोगों के नाम पर बोलने का ढोंग करने वालों की बात अलग है। मैंनें अपनी किताब में दो टूक कहा है और यहां भी कह दूं कि इसकी ज़िम्मेदारी उस सवर्ण वर्ग की है जिसने संस्कृत की शरण लेकर जनभाषा हिन्दी के साथ बलात्कार किया है। आज भी जन के नाम पर बोलने वाले सवर्ण अभिजात वर्ग का प्रभुत्व निर्विरोध क़ायम है। इसका कारण यह है कि उसे अंग्रेज़ी की ओर से चुनौती नहीं दी जा सकती। चुनौती केवल नीचे से ही आ सकती है, केवल जनता के नाम पर ही आ सकती है।

>>**शाहिद :** मैं इस पर बाद में आऊंगा, लेकिन पहले मैं किताब के शीर्षक 'हिन्दी राष्ट्रवाद' पर थोड़ी और चर्चा करना चाहूँगा। जब आप हिन्दी राष्ट्रवाद कहते हैं, तो कहीं आप हिन्दी और राष्ट्रवाद का मुद्दा तो नहीं सुझाना...

>>**आलोक :** नहीं...।

>>**शाहिद :** अगर नहीं, तो क्या यहां हिंदुस्तानी राष्ट्रवाद के लिए कोई जगह बनती है? आपका कहना है कि आप हिंदुस्तानी पद का उपयोग नहीं करना चाहते, क्योंकि इससे अभिजात्यवाद और विशेषाधिकार का बोध होता है।

>>**आलोक :** शाहिद, हिन्दी राष्ट्रवाद से मेरा आशय वास्तव में हिंदुस्तानी राष्ट्रवाद के काफ़ी क़रीब है। मैं इस पद से बच कर चला हूँ, क्योंकि इस पर एक विशेष राजनीति की काई इस तरह जमी है कि लगातार इस पद को लेकर सफ़ाई देने की ज़रूरत पड़ती। असल में मेरा विचार स्पष्टतः एक सामान्य, साझा भाषा का है। संभवतः इससे हिन्दी राष्ट्रवाद और 'हिन्दी' राष्ट्रवाद के बजाय हिंदुस्तानी राष्ट्रवाद और हिन्दी राष्ट्रवाद पर बात करना कुछ आसान होगा। डर यह था कि बात इसमें न उलझ जाए कि हिन्दुस्तानी का क्या हुआ?

>>**शाहिद :** अच्छा बताइए, हिंदुस्तानी पद के साथ ऐसा क्या हुआ कि यह एक क़िस्म के राजनीतिक खूंटे से बंधा लगता है और आप इसे अस्वीकार्य पाते हैं। मैं आपको इस मुद्दे पर थोड़ा कोंचना चाहता हूँ। हिंदुस्तानी संगीत कहें तो चलता हैं; या फिर मुकेश के इस प्रसिद्ध गाने – छोड़ो कल की बातें/कल की बात पुरानी/नए दौर में लिखेंगे मिलकर नई कहानी/हम हिंदुस्तानी – से आपको समस्या नहीं होती। लेकिन हिंदुस्तानी जब भाषा के लिए प्रयुक्त होती है, तो आपको इसमें एक फ़ालतू बोझ महसूस होता है। क्या आपको नहीं लगता कि विरासत का यह बोझ हिंदुस्तानी के बजाय उर्दू से ज़्यादा वाबस्ता है।

>>**आलोक :** मुझे नहीं लगता कि हमारे बीच में कोई मतभेद हैं, मैं यह भी नहीं कह रहा मुझे मत कोंचो...

>>**शाहिद :** मैं पृष्ठ 113 से आपको उद्धृत कर रहा हूँ — "विशिष्ट क्षेत्रीय राजनीति से पैदा होने के कारण 'हिंदुस्तानी' के बचाव को यथास्थितिवादी विशेषाधिकार की रक्षा के तौर पर देखा गया।" यह भी एक कारण है कि आप इस पद का उपयोग नहीं करना चाहते। मगर इस हिंदुस्तानी या उर्दू ने जोश मलीहाबादी, मजाज़ और कैफ़ी आज़मी को भी पैदा किया है। तो यह कहना कि इस भाषा की जड़ें विशेषाधिकार की रक्षा में निहित हैं...मैं इसमें दिक़्क़त महसूस करता हूँ, क्योंकि यह एक ऐसी किताब में आता है, जो अन्यथा सरकारी हिन्दी की तीव्र आलोचना करती है।

मुझे अभी शिकागो से प्रोफ़ेसर सीएम नईम का ई-मेल मिला है — उन्होंने 18वीं सदी के मुग़लकालीन कवि मीर तक़ी मीर की आत्मकथा का अनुवाद किया है — और उन्हें लगता है कि आप सरकारी उर्दू वालों के प्रति कुछ नरम रहे हैं। नईम साहब की बात में दम हो सकता है, लेकिन इससे अंततः कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि ग़ैर सरकारी हिंदुस्तानी के प्रति आप वज्रादपि कठोर हैं। इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया होगी? मैं चाहूँगा कि आप इस पर थोड़ा ग़ौर करें। पहली बात तो ये है कि यह ऐसा पद है, जिसे मैं आसानी से छोड़ नहीं सकता, क्योंकि यह हमें सानुप्रास हाइकू हिन्दी-हिंदू-हिंदुस्तान की आसान समझ पर सवालिया निशान लगाने की अनुमति देता है। मैं हिंदुस्तान पद को हिंदुस्तानी में बदलकर हिंदू और हिंदुस्तान के बीच के स्वाभाविक समीकरण को काट रहा हूँ। मुझे लगता है कि विशुद्ध रूप से अर्थगत लड़ाई में हमें हिंदुस्तानी (पद) से फ़ायदा मिलता है।

>>**आलोक :** क्या सचमुच? मुझे नहीं लगता कि यहां कोई अंतर है — जिस भाषाई क्षेत्र को मैं हिन्दी पद से समझाना चाहता हूँ, वह हिंदुस्तानी वाला भाषाई क्षेत्र है। समस्या हिन्दुस्तानी भाषा की जड़ों से नहीं है बल्कि इस बात से है कि इतिहास के एक दौर में अवध में विशेषाधिकार की रक्षा के लिए हिन्दुस्तानी का प्रतीक रूप में इस्तेमाल किया गया था। मुझे समस्या सिर्फ़ उस पारिभाषिक शब्द से है और समस्या यह है कि यह पद समकालीन विमर्श में अनुपलब्ध है। लगता नहीं है कि हिंदुस्तानी 1950 की दहलीज़ को पार कर पाई। संविधान इस पद की हत्या कर देता है।

>>**शाहिद :** संविधान सभा इसकी हत्या करती है।

>>**आलोक :** मुझे चिंता थी कि यह पद संभवतः बहस को बेवजह जटिल बना देगा। इस चिंता से मुझे वो कहने के लिए मुक्त होना था, जो मैं कहना चाहता था। लेकिन आपको विशेषाधिकार की रक्षा से भी समस्या है।

>>**शाहिद :** हाँ, मुझे है। आप यह परिणाम निकाल रहे हैं कि एक समय विशेष में एक भाषा चंद लोगों के हाथों में विशेषाधिकार की रक्षा के लिए प्रयुक्त होती है, जो प्रयोग के लिए कोई जगह नहीं छोड़ती। क्या ऐसा नहीं होता कि विशेषाधिकार की स्थितियाँ — जिसमें हममें से बहुत से लोग पैदा हुए हैं — एक ऐसा तर्क पैदा करें, जो वास्तव में विशेषाधिकार पर ही चोट करे। मजाज़ को देखें...

>>**आलोक :** उर्दू शायरी की परंपरा के बग़ैर राष्ट्रवादी काव्य की परंपरा की संपूर्णता तो अदृश्य ही रहेगी। ये तो तय है।

>>**शाहिद :** मुझे ज़रा भी उज्र न होता अगर आप विशुद्ध राजनीतिक तर्क देते कि आठवीं अनुसूची में हिंदुस्तानी का ज़िक्र नहीं है, कि संविधान सभा इसकी हत्या करती है। उधर पाकिस्तान है, इधर भारत है, जैसे कि अंतर्राष्ट्रीय सीमा पर एक भाषाई क़िस्म की एलओसी (नियंत्रण रेखा) हो... लेकिन आप इसे इस तरह नहीं गढ़ते। आप बज़िद हैं कि उर्दू उच्च वर्ग के विशेषाधिकार की भाषा है और अब हिंदुस्तानी भी ऐसी ही हो गई है; तो आख़िर आपके पास सिर्फ़ वही बच गया न, जो आपको पसंद नहीं है।

"दुनिया से कह दो---

गांधी-अंग्रेजी नहीं जानता !"

•

बापू ने कहा था

'सारे संसार में
भारत ही
एक अभागा देश है,
जहाँ सारा कारोबार
एक विदेशी भाषा में
होता है !'

•

तो आइए,
संकल्प लें—के
हम सब
हिन्दी में अपना
अधिकतम कार्य करेंगे !

•

स्वदेश,
स्वराज्य
और स्वभाषा का
सम्मान रखेंगे !

•

>>**आलोक :** विशेषाधिकार की रक्षा पर तो मैं अभी भी ज़ोर देना चाहूँगा। जिस ढंग से हिन्दी का विरोध हुआ, वह पूरी तर्क परंपरा, जिसमें नागरी का विरोध हुआ, में दर्प और मान की ज़बरदस्त भूमिका रही। भाषाई अस्मिता के बनने की पूरी प्रक्रिया दर्परंजित थी।

कहीं एक गहरा कारण भी है, जिस पर ध्यान देना चाहिए। क्षेत्र विशेष की राजनीति में पैदा होने के कारण हिंदुस्तानी की रक्षा का अर्थ अभिन्न रूप से यथास्थितिवादी विशेषाधिकार की रक्षा हो गया। हिन्दुस्तानी की हिमायत ज़मींदारी-समाज के नॉस्टैल्जिया के साथ जुड़ गयी। उदाहरण के लिए संविधान सभा की बहस में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हिंदीवाले सत्ता से वंचित लोगों के नाम पर बोलना चाहते हैं। उनका यह दावा आज के राजनैतिक दौर में और भी ख़तरनाक लगता है।

>>**शाहिद :** आडंबरपूर्ण और थोथा। उस पूरी कार्रवाई को देखें, जिसमें हिन्दी को लेकर एक मुहिम संविधान सभा के बाहर चलाई गई, ठीक उसी समय जब संविधान सभा में बहस चल रही थी — इसे मैं 6 दिसंबर 1992 की पूर्वपीठिका कहूँगा, जहां राज्य एक क़िस्म की बहुमतवादी बेतक़ल्लुफ़ी से कह जाता है कि "भारत हिन्दुओं की भूमि है", और बजाय इसके कि इस वाक्यांश को यह कह कर संशोधित किया जाए कि "लेकिन यहाँ और संप्रदाय भी हैं" — यह हिन्दुओं-का-भारत वाला बयान — एक स्वाभाविक-सी उक्ति बन जाता है। तो 1947-49 में संविधान सभा में और बाहर जो हुआ, वह भाषाई बहुमतवाद — "क्या कर लोगे" रवैये की शुरुआत था।

>>**आलोक :** भाषाई बहुमतवाद से मैं उतना ही डरता हूँ जितने आप। और इसका वास्तव में तब तक विरोध नहीं किया जा सकता, जब तक कि इसके विरोध से विशेषाधिकार की आवाज़ जुड़ी हुई हो। हिंदुस्तानी पद के मायने लगातार बदलते रहे हैं, इसका कभी एक मतलब होता है कभी दूसरा। अगर उर्दूवालों ने ग़रूर के अपने उस इतिहास से मुक्ति नहीं पाई है, और अगर आज वे हिंदुस्तानी के पक्ष में आवाज़ उठाते हैं, तो घमंड की यह विरासत भी उन्हें ढोनी होगी।

>>**शाहिद :** ज़रा समझा दीजिए, ऐसा होता कैसे है? कोई मुझे बताए कि जिस अहंकार के साथ सर सैयद अहमद ख़ां भाषा के मुद्दे पर 1880 में एजुकेशन कमीशन से मुख़ातिब हुए थे (जिससे बाबू हरिश्चंद्र नाराज़ हो गए थे) उसे मंटो ने कैसे नहीं छोड़ा? मुझे बताइए किस तरह से साहिर — जो दरअसल हिन्दी फ़िल्मों के लिए अपनी उर्दू ग़ज़लों को गीतों में नए रूप में ढालते हैं — सामान्य जन के लिए — अहंकार के अपराधी हैं? इसके अलावा उर्दू में लिखने वाले हर किसी ने पाकिस्तान को अपना भाग्य विधाता नहीं माना। मुझे इस बात से परेशानी है कि आप हिन्दी-उर्दू विवाद में पाकिस्तान की पूर्वपीठिका देखते है। इससे होता यह है कि दोनों देशों के जन्म की प्रक्रिया से तमाम तरह की घटनाएं, आसंग और संभावनाएं नज़रअंदाज़ हो जाती हैं। तो क्या यह भी आपके तर्क का हिस्सा है?

>>**आलोक :** ज़ाहिर है, मैं इस बारे में सतर्क और सशंक हूँ और कह सकते हैं कि मैं लगभग भाग्यवादी अंदाज़ में ऐसा कहता हूँ। लेकिन इस अंदाज़ में अपरिहार्यता नहीं है।

>>**शाहिद :** इसलिए मैंने आपकी किताब के हाशिए पर लिखा है — अति नाटकीय, हिन्दी से संबंधित हर फ़ैसला 1947 और पाकिस्तान की ओर ले जाता है।

>>**आलोक :** शाहिद, मैं यह समझने की कोशिश कर रहा हूँ कि जब संविधान सभा में आर. वी. धुलेकर ने मौलाना हिफ़्ज़ुर रहमान से कहा — "अगर आज आप हिंदुस्तानी बोलें तो इसे सुना नहीं जाएगा। आपको ग़लत समझा जाएगा, ग़लत सुना जाएगा। दो या तीन साल इंतज़ार कीजिए और आपको अपनी उर्दू भाषा मिल जाएगी" — तो उनके ज़ेहन में उर्दू और हिंदुस्तानी एक ही हैं। इसलिए, "दो-तीन साल इंतज़ार कीजिए और आपके पास

आपकी उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि होगी। अभी उसे इसका विरोध मत करने दो, क्योंकि हमारा राष्ट्र — देश जो अनेक तक़लीफ़ों से गुज़रा है — उसे सुनने के लिए तैयार नहीं है।" मैं इस सांस्कृतिक पीड़ा की भावना और इस ज़ख़्म के परिणामों को समझने की कोशिश कर रहा हूँ...।

>>**शाहिद :** उनके लिए जिन्हें चोट पहुंची या उनके लिए जो...

>>**आलोक :** हम सभी के लिए। हम एक ऐसी राजनीति से पीड़ित हैं, जो सांस्कृतिक अपमान की इस आम भावना से निकली है। पीड़ा की इस भावना को समझना, इसे दृष्टि से ओझल न होने देना और जैसी यह थी, इसे बाहर खुले में ले आना, मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है।

>>**शाहिद :** मैं कहूँगा कि ये संविधान सभा में भावी पीढ़ियों के लिए दिए गए घोषणात्मक वक्तव्य हैं। लगभग अभिलेखीय...और भूतदर्शी। मुझ सरीखे व्यक्ति के लिए यह इत्तेफ़ाक़ नहीं है कि मैं स्कूल में उर्दू न सीख सका। सीखी होती, अगर मेरा दाख़िला किसी आंग्ल-अरबी स्कूल में हुआ होता..., अपने अब्बा के साथ जामा मस्जिद गया होता, हो सकता है क़ुरान पढ़ी होती। चूंकि मेरा संबंध मुख्यधारा से रहा, मै स्कूल में उर्दू नहीं सीख पाया। इस तरह यह एक रास्ता तो है इस पीड़ा के प्रारंभिक दंश (जिसका ज़िक्र आप कर रहे हैं) उस तक पहुँचने का। लेकिन जिस प्रकार की राजनीति का उदय बाद में होता है उसकी मुकम्मल व्याख्या इस शुरुआती ख़लिश से नहीं हो सकती। यह तो वही बात हुईः "1947 के कारण भारत को पंथनिरपेक्ष संविधान नहीं अपनाना चाहिए था, लेकिन नेहरू अड़ गए थे।" लेकिन यही भारत और पाकिस्तान के अंतर को दर्शाता है और इसी कारण मेरे पिता पाकिस्तान नहीं गए। इसलिए अगर कोई आरंभिक दंश था, तो यह पता लगाना बड़ा मुश्किल होगा कि किस समय इस दंश की निर्मिति हुई और किस तरह इसे पेश किया गया। आख़िर दंश, इस पीड़ा की निर्मिति का एक समय तो 1880 और 1890 के दशक...

>>**आलोक :** लेकिन शाहिद क्या इस राजनीति का अवध-अवधी जैसी दूसरी संस्कृतियों से कोई लेना-देना नहीं है? मेरे ख़याल से शीन क़ाफ़ दुरुस्त उर्दू का प्रयोग करने के लायक़ होना एक उच्च संस्कार का लक्षण है, और मैं अपने बारे में कहता हूँ कि मैं अब भी उस व्यक्ति का सम्मान नहीं कर सकता जो शीन क़ाफ़ का सही-सही इस्तेमाल नहीं कर सकता। यह मेरे लिए एक क़िस्म का सांस्कृतिक आभिजात्य है। स्पष्टतः इसे मैंने जानबूझकर नहीं, बल्कि अपने परिवेश से ग्रहण किया है...

>>**शाहिद :** तो आप मानते हैं कि जलील और ज़लील में अंतर कर सकने वाला व्यक्ति अभिजात है चाहे वह 'निचले तबक़े का ही क्यों न हो? मैं इस बात पर बल देना चाहता हूँ। आख़िरकार संस्कृत में ढेर सारी ध्वनियां हैं, और इस पर फ़िराक़ ने क्या ख़ूब लिखा है कि किस तरह सांस्कृनिष्ठ भाषा को देशज, देहाती या कहें कि मानवीय बनाया गया। बचपन में मैंने एक शब्द सुना था — जब कुछ करने के लिए कोई व्यक्ति इधर-उधर बेतरह भागदौड़ कर रहा होता, मेरी नानी कहा करतीं, "अरे उ तो बड़ा धवाटी मचाए हुए है।" 'धवाटी' संस्कृत से आया शब्द है, धाव = दौड़ना। यह शब्द थोड़ा फ़र्क़ जामा पहिन भोजपुरी में चला आया। अब सुसंस्कृत मुसलमान (शुर्फ़ा) स्त्रियों द्वारा बोला जाता है। तो इस तरह से शब्द अर्थ ग्रहण करते हैं और रोज़मर्रा की भाषा में चले आते हैं। 'ख़रीद' लोकप्रिय शब्द है, लेकिन फ़रोख़्त (बेचना) नहीं है। ख़रीदार शब्द से लाखों लोग परिचित हैं, लेकिन 'फ़रोख़्त किया' लोक प्रचलन में नहीं आ सका। तो एक प्रक्रिया है, जिससे कुछ शब्द — अगर वे युग्म में हैं तब भी — उभरते हैं और लोकप्रिय हो जाते हैं। यह कहना कि कुछ ख़ास ध्वनियाँ मूलतः अभिजात हैं — जो कंठ्य उच्चारण निकालने में समर्थ है, कम देशज है — मैं इसे सरल क्या, थोथी समझ ही कह सकता हूँ।

>>**आलोक :** मुझे नहीं लगता कि मैं इस पर कोई सिद्धांत प्रतिपादित करने जा रहा हूँ।

>>**शाहिद :** मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई है। हिन्दी वर्णमाला द्वारा अपनाए गए अड़ियल रवैये का मुद्दा तो है, जिसमें किसी अक्षर में लगने वाले नुक़्ते को अनावश्यक चिन्ह या चेचक के निशान की तरह देखा जाता है, नुक़्ता लगाते ही आप फ़ारसी के पिट्ठू हो जाते है, बिन्दु या चंद्रबिंदु लगाने से आप संस्कृत की परंपरा का पालन कर रहे होते हैं। आपने स्वयं 1880 के दशक में प्राथमिक शिक्षा और अदालती वर्णमाला पर मदन मोहन मालवीय के तर्क-वितर्क की चर्चा की है। इस प्रसंग में आप एक पते की बात कहते हैं कि मदन मोहन मालवीय की प्रतिभा हिन्दी को अदालती भाषा के रूप में विस्तार देने में है कि "देखो, प्राथमिक शिक्षा से इस लिपि में लोगों को सीखने और पढ़ने में फ़ायदा हुआ है"। पैम्फ़लेट कहता है कि अंततः वह अदालती भाषा की बात कर रहे हैं और अदालती भाषा रातों-रात नहीं बदल सकती। अगर उर्दू में ऐसे शब्द हैं, जो होंगे ही तो हम 'ज' में नुक़्ता लगाकर 'ज़' बना देंगे। 1930 में मालवीय ने अपने राष्ट्रवादी साप्ताहिक अख़बार *अभ्युदय* में 'हिन्दी में बिंदी क्यों' नामक संपादकीय लिखा — अब उनके लिए हिन्दी में बिंदी के प्रयोग का समय गुज़र चुका था क्योंकि यह अलग युग और अलग राजनीति थी।

विडंबना यह है कि भारत के राष्ट्रपति ज्ञानी ज़ैल सिंह जीवनपर्यंत अपना नाम हिन्दी में ठीक से नहीं लिखवा सके — लिखने वालों ने उनके नाम के प्रथमाक्षर 'ज' के नीचे कभी नुक़्ता नहीं लगाया। वह हमेशा जैल सिंह ही रहे। यहां तक कि युनूस और इदरीस देहलवी की उर्दू पत्रिका 'शमा' के हिन्दी संस्करण 'सुषमा' में भी जैल सिंह ही हमेशा छपा। देहलवियों ने स्टारडस्ट की तर्ज़ पर उससे बहुत पहले उर्दू की पहली पत्रिका निकालकर एक विशेष प्रकार की उर्दू को लोकप्रिय बनाया। जब उन्होंने इसका हिन्दी संस्करण निकाला, तो 'ज' में लगने वाले नुक़्ते को छोड़ दिया। मैने थोड़ा बहुत हिन्दी में लिखा है और हर बार जब मेरा लिखा प्रकाशक के यहां से वापस आया उसमें सभी बिंदियां बाक़ायदा हटा दी गई थीं। एक बार मैनें उकसाते हुए कहा भी था, "हिन्दी में बिंदी लगाने के लिए क्या मुझे पाकिस्तान जाना पड़ेगा?" मुझे यह यहीं करना है... हिन्दी को अधिक अनुकूल होना होगा।

>>**आलोक :** ज़ाहिर है मैं आपसे असहमत नहीं हूँ। मैं एक प्रकार की सांस्कृतिक राजनीति, जो इस निरर्थक हठधर्मिता की ओर ले गयी है, उसको समझने का प्रयास कर रहा हूँ। आप मालवीय सरीखों को उद्धृत करते हुए दिखाते हैं कि वे एक समय में एक प्रकार का दृष्टिकोण अपना कर प्रसन्न हैं। लेकिन आधी सदी में कुछ चीज़ें और व्यवहार रूढ़ हो जाते हैं। इनमें से कुछ मामलात तो सामाजिक तौर पर कमज़ोर लोगों के हैं ही, जो राजनीतिक सत्ता और सांस्कृतिक अवसर सूँघकर हस्तक्षेप करते हैं। मैं इसका समर्थन नहीं कर रहा बल्कि इसे समझने का प्रयास कर रहा हूँ। दोनों में फ़र्क़ है।

>>**शाहिद :** निश्चित रूप से है।

>>**आलोक :** चूंकि मैं स्वयं को एक सांस्कृतिक संवेदक के रूप में देखता हूँ, इसलिए मैं जानता हूँ कि अगर कोई 'सुसमा' कहता है — जो हिन्दी-उर्दू न होकर हिन्दी का ही शब्द है — तो मेरे भीतर एक झटका सा लगता है। कोई कहता है, "हम बाजार से कागज खरीद लाएंगे", तो मुझे एक झटका सा लगता है और मैं अपने आप से पूछता हूँ, यह क्या है? मैं जान-बूझकर सामाजिक विशेषाधिकार की बात रखने का प्रयास नहीं कर रहा हूँ, बल्कि मैं इसे सामाजिक विशेषाधिकार की एक क़िस्म की जूठन मानता हूँ। इसलिए "बाजार से कागज खरीद लाओ" कहने वाला "बाज़ार से काग़ज़ ख़रीद लाओ" कहने वाले से कुछ कमतर लगता है।

>>**शाहिद :** 1885 और 1930 के बीच मालवीय के सफ़र को स्वीकार कर पाने की आपकी इच्छा को मैं भलीभाँति समझता हूँ। मैं वर्तमान के बारे में बात करना चाहूँगा। मध्यकालीन भारत — अनेक खंडों में प्रकाशित विद्वतापूर्ण लेखों के हिन्दी अनुवाद का उदाहरण लीजिए, जिसका संपादन इरफ़ान हबीब ने किया है और एक सम्मानित प्रकाशक ने इसे छापा है। उन्होंने फ़ारसी स्वर देने वाले शब्दों से सभी ध्वनिचिन्हों को बाक़ायदा हटा दिया, यहां तक कि मूल

स्रोतों से भी। यह सचमुच विडंबनापूर्ण है। तो ज़ाहिर है हम फ़ारसी के मूल वाक्यांशों को हिन्दी लिपि में ठीक से पढ़ तक नहीं सकते, क्योंकि दीर्घ-दीर्घायित इस आहत भाव को अब छपाई के माध्यम से अभिव्यक्त होना है। हम एक क़िस्म की बर्बरता बरत रहे हैं, जो उससे बहुत अलग नहीं है जिसका सामना *फ़ायर* और *वॉटर* के निर्माताओं ने किया था।

>>**आलोक :** मैं पूरी तरह सहमत हूँ। मैं कुल मिलाकर यह कह रहा हूँ कि इस बर्बरता को मैं एक मनोविकार के रूप में परिभाषित करूँगा और इसे ऐतिहासिक रूप से समझते हुए, इसके मूल में जाकर इससे निजात पाना चाहूँगा। ऐतिहासिक दंश को लेकर टंकण का यह प्रतिशोध एक न्यूरॉटिक लक्षण है; मैने कृत्रिम 'हिन्दी' को भी एक न्यूरॉटिक निर्मिति के रूप में देखा है और एक मायने में इस इतिहास को जानना इस इतिहास से उबरना भी है।

>>**शाहिद :** मैं अब एक परमआदरणीय व्यक्तित्व, 'बाबा-ए-उर्दू' यानी उर्दू के पितामह मौलाना अब्दुल हक़ की बात करना चाहता हूँ, लेकिन अब तो हमारे पास तथाकथित बाबालोग की उर्दू है। और यह काफ़ी दिलचस्प है कि एक तरफ़ आपके हाथ में हिंदीवालों का टांकिक प्रतिशोध है, गोया नुक़्ता लगाते वक़्त उनकी क़लम अकारण लड़खड़ा जाती हो। दूसरी ओर अभिजात वर्ग द्वारा उर्दू की बारीकियों को अनुवाद, लिप्यंतरण आदि के द्वारा समुचित रूप में उपलब्ध कराने का प्रयास है। एक वो हैं, जो वॉल्ड सिटी के अंदर अपने उर्दू पर्यावास में हैं और दूसरे पर्यावास केंद्र (हैबिटैट सेंटर) में बैठकर उर्दू के बारे में बात करते हैं। अब यह हमें ख़ास तौर पर उत्तर भारत के इस दुभाषिए युग के बारे में क्या बताता है?

मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि मैं यह शिद्दत से महसूस करता हूँ — कम से कम हमारे लिए जो कोलकाता या मुंबई की तुलना में हिंदुस्तानी पट्टी से आते हैं — कि हम लोगों में द्विभाषी बुद्धिजीवियों की वह संख्या नहीं दिखाई देती। दरअसल त्रासदी यह रही कि अगर आप हिन्दी बहुत अच्छी तरह जानते हैं तो आप हिन्दी में किसी भी विषय पर लिख सकते हैं; रामविलास शर्मा इसके क्लासिक उदाहण हैं। तो हमारे पास वास्तव में ऐसे द्विभाषी बुद्धिजीवी नहीं रहे जो एक-सी दक्षता या सहजता के साथ पहले हिन्दी और फिर अंग्रेज़ी में इतिहास या ऐंथ्रोपॉलजी पर लेख लिखते, जैसा कि कोलकाता में अब भी करते हैं। क़ाबिल-ए-ग़ौर बात है कि उत्तर भारत में अब जो द्विभाषावाद उभर रहा है, वह दो भाषाओं के रचनात्मक उपयोग से वंचित ही है। एक मृणाल पांडे या एक कृष्ण कुमार अपवाद हो सकते हैं। क्या यह हमें बंगाल या कहीं और के बरक्स उत्तर भारत की सांस्कृतिक राजनीति और उसके गणमान्य अभिजातों के बारे में कुछ नहीं बताता है?

>>**आलोक :** ज़ाहिर है, देसी (वर्नाक्युलर) अभिजात और अंग्रेज़ी अभिजात वर्ग के बीच जैसी खाई हिंदुस्तान में है, वैसी बंगाल में नहीं। हिंदुस्तान का देसी अभिजात अपने इतिहास की ज़द में है।

>>**शाहिद :** जो उर्दू और अंग्रेज़ी, दोनो के ख़िलाफ़ है। मेरी समझ से बंगाल का देसी अभिजात कहीं अधिक संस्कृतनिष्ठ बांग्ला पैदा करने में सफल हुआ, क्योंकि उत्तर भारत के देसी अभिजात के साथ समस्या यह थी कि वह भाषा और इतिहास, दोनों का मानकीकरण करने का प्रयास कर रहा था।

>>**आलोक :** ऐसा इसलिए है क्योंकि आधुनिक संस्कृतनिष्ठ बांग्ला को आविष्कृत करने वाला देसी अभिजात वास्तव में बाहर से कोई चुनौती नहीं ले रहा है। चुनौतियां पहले से ही, अंदर ही हैं। जबकि हिन्दी का अभिजात वर्ग ऐसे लोगों से बना है, जो सत्ता पदों को बहुत ईर्ष्या भाव से निहार रहे हैं और उन पर क़ब्ज़ा करने के लिए प्रयासरत हैं। सच पूछिए तो उन पर क़ाबिज़ हो भी लेते हैं, लेकिन वे फिर भी वंचित हैं। वे जानते हैं कि वे सांस्कृतिक पूंजी से वंचित हैं। तो अंदर ही अंदर एक फाँक है, जो हिंदुस्तान के देसी अभिजात की सीमाओं को उजागर करती है। वे एक अत्यधिक द्वेषपूर्ण और कड़वाहट भरे इतिहास की उपज हैं।

'हिन्दी' न्यूरॉसिस से पीड़ित है। वास्तव में 'हिन्दी' में बहुत कम साहित्यिक रचना कर्म होता है। साहित्यिक रचना का परिवेश कहीं अधिक खुला और स्वतंत्र है। कृष्णा सोबती सरीखे लेखक 'हिन्दी' का प्रयोग नहीं करते। निश्चय ही, हिन्दी में ज्ञान की सर्जना एक ऐसा क्षेत्र थी जिसकी अनुपस्थिति पर एक सदी पहले ध्यान दिया गया था और इस कमज़ोरी को दूर करने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों की शुरुआत की गई थी। कुछ बेहतर काम हुए भी। अगर आप शुरुआती *सरस्वती* को देखें तो वाक़ई ज्ञान सर्जना की इच्छा दिखती है – चित्रकला, आधुनिक कला और लैटिन अमेरिकी राजनीति – इन सब पर लेख हैं। यह सब आरंभिक चरणों में हिन्दी की विशेषता और उपलब्धि है। पर एक बिंदु ऐसा आता है जब यह विश्वग्राही महत्त्वाकांक्षी अभियान वास्तव में महज़ एक क्षेत्रीय युद्ध बनकर रह जाता है। हिन्दी से 'हिन्दी' में प्रवेश की इस दहलीज़ पर उसकी बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा सीमित हो जाती है।

>>**शाहिद :** क्या आप ऐसा मानते हैं कि 'हिन्दी' में अनुवादों की कमी को इस सरकारी हिन्दी की कमज़ोरी के संकेत के रूप में देखा जा सकता है? आप 1840 के दशक की दिल्ली ट्रांस्लेशन सोसायटी को याद करें, या फिर जब राष्ट्रीय अभिजात वर्ग, यहां तक कि साम्यवादी अभिजात वर्ग का विकास होता है, तब सबसे पहले वह सारा का सारा अनुवाद हिन्दी या उर्दू में करते हैं। ऐसा 1880 और 1920 के दशक में तब हुआ, जब बांग्ला से हिन्दी में अनुवाद किए गए। अब आप यह नहीं कहना चाहते कि हमारे पास एक बड़ा बाज़ार है, हर महत्त्वपूर्ण कृति को हिन्दी में आना चाहिए। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे, तो तुर्गनेव को कैसे पढ़ेंगे? यह कोई राष्ट्रवादी प्रॉजेक्ट का हिस्सा नहीं है, बल्कि मैं सिर्फ़ यह कह रहा हूँ कि हमें उस लालसा को पुनर्जीवित करने की ज़रूरत है, जो शुरुआती दौर में थी।

>>**आलोक :** हाँ, दुनिया को अपनी भाषा में आत्मसात करने की बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा थी। इसको साकार करने के लिए जिस तरह के सांस्कृतिक श्रम या सांस्कृतिक पूंजी के संग्रहण की ज़रूरत थी, उसका प्रयास न करके 'हिन्दी' को एक विशेष प्रकार की राजनीति के द्वारा हासिल किया गया। सच पूछिए तो विश्वभाषा होने का हिन्दी का दावा, जो विश्व हिन्दी सम्मेलन में समय-समय पर किया जाता रहा है, इस संख्यात्मक दावे पर भी निर्भर करता है कि हिन्दी एक समर्थ भाषा है और इसके बोलने वालों की अच्छी-ख़ासी तादाद होने के कारण हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र द्वारा अंगीकृत भाषाओं में से एक होना ही चाहिए। बजाय इसके कि यह ख़ुद मज़बूत होती और दुनिया में अपनी पहचान और जगह बनाती, इसने एक तरह से राजनीतिक सीढ़ियों का सहारा लिया है।

>>**आलोक :** एक बात जो मैंने अक्सर लोगों से सुनी है कि यह आपस में लड़ने का ठीक समय नहीं है। एक बार 'हिन्दी' स्थापित हो जाए तब हम इसके विवादास्पद इतिहास में जा सकते हैं, और इसके इस या उस भाषाई घटक के उचित दावों के लिए लड़ सकते हैं।

>>**शाहिद :** बिल्कुल, एक तरह की ऐसी हिन्दी, जो उच्च हिन्दी नहीं है, 'हिन्दी' का घटक हो ही नहीं सकती।

>>**आलोक :** हाँ हाँ! इस क़िस्म की लीपा-पोती तो होती ही रही है।

>>**शाहिद :** मामला जो भी रहा हो, जीती तो हिन्दी ही न! मैं कभी भी उर्दू में नहीं लिख पाऊँगा, क्योंकि अगर मैं लिखता भी हूँ तो पाठक वर्ग बहुत सीमित मिलेगा। तो मैं इस तरह की हिन्दी लिखूंगा, जो आपको पसंद नहीं आएगीः "यह तो कोई हिन्दी नहीं हुई" और मै कहूँगा कि इसके लिए तैयार रहो, क्योंकि भारतीय राष्ट्र-राज्य विविधता को प्रोत्साहन देता है।

>>**आलोक :** लेकिन विविधता को दिया जाने वाला प्रोत्साहन अदृश्य और प्रायः अघोषित सीमाओं के भीतर ही है और ये सीमाएं हैं तो ज़रूर। वास्तव में जहां तक ब्रज, अवधी, मैथिली या भोजपुरी हिन्दी की संवैधानिक श्रेष्ठता

स्वीकारने के लिए तैयार हैं, तब तक कोई समस्या नहीं है, लेकिन जिस दिन ये अपनी ख़ुद की परंपरा का दावा करती हैं, हिन्दी संकटापन्न हो जाती है।

>>**पलाश :** क्या आप इसे थोड़ा और स्पष्ट करेंगे?

>>**आलोक :** जिस भाषाई सूची की भाषाओं को साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान करती है, उसमें मैथिली को शामिल किए जाने की राजनीति एक अच्छा उदाहरण है। हिंदीवाले इसे लेकर ख़ासे उद्विग्न थे, क्योंकि यह झूठ पिछले कई दशकों से बनाए रखा गया था कि मैथिली हिन्दी की एक बोली भर है। जिस क्षण यह इतिहास कि किस तरह बोलियां हिन्दी में सम्मिलित हुईं, उद्घाटित हुआ, पूरा भांडा ही फूट गया। चूंकि इस इतिहास को वे सामने नहीं आने देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इसे आवरणों में कस कर लपेट रखा था।

>>**पलाश :** एक भाषा को कैसा होना चाहिए, इस प्रकार की सीमाएं थोपने के प्रयास में हिंदीवाले कहां तक सफल रहे है? क्या हिन्दी के लेखक भी इस बोझ को महसूस करते हैं? ढेर सारे लेखकों ने अधिक देसी मुहावरे को हिन्दी लेखन के लिए चुना है। अगर साहित्य जैसे सभ्यता के निर्णायक चिन्हों को नुक़सान नहीं पहुंचा है, तब 'हिन्दी' द्वारा पहुंचाया गया नुक़सान कितना गहरा है?

>>**आलोक :** यह कहना कठिन है। यह प्रश्न इस मायने में अच्छा है कि हम सफलता और असफलता, दोनों की बात कर रहे हैं। मेरी समझ से आप बिल्कुल ठीक कहते हैं कि इस मानक हिन्दी को थोपा जाना पूरी तरह सफल कभी नहीं हुआ। इस तथ्य को मेरी किताब में स्वीकार भी किया गया है। जनता की हिन्दी के ऊपर मानक हिन्दी द्वारा की जाने वाली हिंसा सफल नहीं रही है। जैसा कि हिंदीवाले स्वयं अपने निराले काव्यात्मक मूड में कहते भी रहे हैं — घास को पूरी तरह कौन रौंद सकता है? वह कहीं न कहीं से उग ही आएगी; उसमें अदम्य जिजीविषा है। तो ज़ाहिर है कि कुछ तो है कि साहित्यिक लोगों ने भावहीन और अनुर्वर मानक हिन्दी के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार किया है।

दूसरी ओर, मानक हिन्दी हमारे शैक्षिक तंत्र में बहुत ऊंचे जा बैठी है। और इस तरह इसने एक सामान्य स्तर पर लोगों की ख़ुद की, अपनी भाषा की और अपने इतिहास की समझ को विकृत किया है। इसलिए अपनी रचनात्मकता का उपयोग करने वाला हिन्दी का लेखक भले ही 'हिन्दी' के प्रभुत्व को दरकिनार कर ले, लेकिन जिस पाठक वर्ग के लिए वह लिखता है, वह अब भी शैक्षिक तंत्र के माध्यम से प्राप्त होने वाली मानक हिन्दी के बोझ से पीड़ित है। हाँ, मैं यह क़तई नहीं कहूँगा कि हिन्दी में लिखने वाला हर व्यक्ति इस प्रकार की मानक हिन्दी लिखता है।

>>**पलाश :** सबॉल्टर्न समूह की यह आलोचना होती रही है — क्या हिन्दी में जन इतिहास न लिखा जाना बेतुका नहीं लगता?

>>**शाहिद :** मैनें चेन्नई के कुछ बैंकों के बारे में कहीं एक सर्कुलर पढ़ा था — आज मंगलवार है, इसलिए आपको हिन्दी का ही प्रयोग करना होगा। यह दावा किया जाता रहा है कि हिन्दी कम से कम उत्तर भारतीय अनुभव की तो स्वाभाविक, प्रतिनिधि भाषा है। लेकिन समस्या यह है कि पिछले पचास वर्षों में हमारे समाज, विचारों और वृत्तांतों को समझने के नए तरीक़े वास्तव में हिनदी में नहीं उत्पन्न हुए। चाहे 'Sanskritization' हो या 'Subaltern' या 'Dominant Caste', 'Vote Bank', या 'Appeasement of Minorities', हो, ये सभी अकादमिक विद्वानों द्वारा भारतीय वास्तविकता को समझने के प्रयासों से ही उभर कर सामने आए हैं। लेकिन यह प्रयास हिन्दी में नहीं दिखता। यही कारण है कि उनके सामने एक दिलचस्प लेकिन मुश्किल समस्या है। मुझ जैसे लोग एक अरसे के बाद हिन्दी में इतिहास लिखते हैं, तो हमें कोई पूर्वपीठिका या कोई संदर्भ बिंदु नहीं मिलता। वस्तुतः हिन्दी में इतिहास लिखने

के लिए मुझे एक नया भाषाशिल्प ईजाद करना होता है। ऐसा तो नहीं है कि अंग्रेज़ी में इतिहास लिख चुकने के बाद हिन्दी में इतिहास लिखना शुरु करने पर बने बनाए मानक हमारी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। मुझे इस वापसी के लिए सच्चे सपूत की भूमिका में आना होगा। अगर हिन्दी जनपद से आने वाले ज़्यादा से ज़्यादा लोग समाज विज्ञान या इतिहास हिन्दी में लिखना शुरु कर दें, तो हमें संभवतः एक बहुत ही दिलचस्प संघर्ष देखने को मिलेगा। उन लोगों के बीच, जो हिन्दी में विभिन्न शैक्षिक अनुशासनों के विकास का प्रयास कर रहे हैं और जो हिन्दी का उपयोग बतौर एक अनुशासनिक औज़ार करते हैं।

>>**आलोक :** संभवतः यह पूछना वाजिब होगा कि हिन्दी विभागों के बरक्स हिन्दी जनपद में कितनी बौद्धिक ऊर्जा है। अगर हिन्दी के बुद्धिजीवी हिन्दी में इतिहास और समाजशास्त्र लिखना शुरु कर दें, तो क्या वे हिन्दी विभागों में ख़ुद को अपने सहकर्मियों के साथ या उनके ख़िलाफ़ पाएंगे? मेरी समझ से इस सरकारी हिन्दी में इतना अधिक पाखंड और हिंसा अंतर्भुक्त है कि यह भाषा जब तक इस बोझिल विरासत से छुटकारा नहीं पाती, इन महत्त्वपूर्ण सवालों को उठाने के लिए स्वयं को मुक्त कर पाने में असमर्थ है। मेरी नज़र में यही कारण है कि इस क्षेत्र में प्रचुर संख्या और भरपूर ऊर्जा होने के बावजूद ये महत्त्वपूर्ण सवाल गंभीर अकादमिक रूप में नहीं उठाए गए।

हिन्दी के उपयोग के अधिकार का दावा करने वाले एक हिन्दी वाले का उदाहरण लीजिए। एक बार मैं एक फ़िल्म संगोष्ठी में गया, जहां उत्तर और दक्षिण भारत, दोनों जगहों के लोग थे। वे एक प्रकार की हिन्दी-अंग्रेज़ी मिश्रित भाषा बोल रहे थे। हम कुछ-कुछ समझ पा रहे थे और कुछ चीज़ें नहीं। तब एक स्थानीय हिन्दी पत्रकार ने खड़े होकर भाषण देना शुरु कर दिया कि कैसे उसे उसके अधिकारों से वंचित किया जा रहा है, आदि-आदि। वह हिन्दी में बोलना चाहता था और उसकी अपेक्षा थी कि इस पर लोगों को आपत्ति होगी, चूंकि यहां पर और तरह के लोग भी हैं। संयोगवश मैं सत्र की अध्यक्षता कर रहा था और मैंने कहा — कृपया आप हिन्दी में बोलिए। उसके बाद उसके पास कहने के लिए कुछ था नहीं और वह चुपचाप बैठ गया। वह केवल हिन्दी में बोलने के अपने अधिकार पर ज़ोर देना चाहता था। तो एक और समस्या है कि अगर आपको मौक़ा मिल भी जाए, तो जो भाषा आपको मिली है उसमें आप क्या कहने जा रहे हैं। इस समस्या को बिल्कुल ही संबोधित नहीं किया जा सका है। कारण कि हिन्दी वालों ने एक ऐसा दुश्मन खोज रखा है जो हर मोड़ पर उन्हें रोके रखता है। वे हमेशा उस निराकार व्यक्ति के साथ छायायुद्ध लड़ते रहते हैं, जिसने उन्हें बोलने के अधिकार से वंचित किया है।

>>**शाहिद :** आलोक, इस किताब में आप किससे मुख़ातिब हैं? क्या आप हिंदीवालों को वापस एक ऐसी स्थिति में लाना चाहते हैं जहां से एक अधिक समझदारी भरा संवाद संभव हो सके? ज़्यादा उम्मीद है कि हिंदीवाला कहेगा — मैं अंग्रेज़ी नहीं पढ़ता। या आप ये कह रहे हैं — चूंकि यह *ट्रैक्ट्स फ़ॉर द टाइम्स* शृंखला का एक भाग है — कि हिन्दी राष्ट्रवाद अब घायल शेर की तरह नरभक्षी हो गया है?

>>**आलोक :** धन्यवाद। मैं समझता हूँ कि वास्तव में सार यही है। मैं हिन्दी भाषियों को संबोधित कर रहा हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि आज की राजनीतिक परिस्थिति, जिसमें हम सब हिंदीवाले, अंग्रेज़ीवाले, येवाले, वोवाले सब फँसे हुए हैं, इस बात से जुड़ी है कि हिन्दी जनपद का जनवादी मिज़ाज लगातार बिगाड़ा जा रहा है। मेरे लिए हिन्दी जनपद की प्रजातांत्रिक ऊर्जा का विमुक्त होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। और मुझे यक़ीन है कि यह केवल हिन्दी के ज़रिए ही हो सकता है। हम जैसे अंग्रेज़ीदां कितने ही आज़ाद ख़याल, ज्ञानी या प्रगतिशील क्यों न हों, तथ्य यह है कि हमें बड़े आराम से पुलिंदा बांध कर दरकिनार किया जा सकता है। केवल हिन्दी वाले ही इस असीम ऊर्जा को मुक्त कर सकते हैं, इससे सामर्थ्य ग्रहण कर सकते हैं, लेकिन वे तब तक ऐसा नहीं कर सकते, जब तक उनके ऊपर ये ऐतिहासिक भूत सवार है। जहां तक मेरा संबंध है, मेरे वास्तविक पाठक हिंदीभाषी हैं। हालांकि किताब अंग्रेज़ी में है, मैं हिंदीभाषियों से ही मुख़ातिब हूँ।

>>**शाहिद :** इस पर मुझे 'शोले' में गब्बर सिंह के उस प्रसिद्ध डायलॉग की याद आती है, जिसमें वह कहता हैः "गब्बर से तुम्हें सिर्फ़ एक आदमी बचा सकता है और वो गब्बर ख़ुद है"। तो क्या आपका कहना यह है कि केवल हिंदीभाषी ही हमें हिंदीभाषियों से बचा सकते हैं?

>>**आलोक :** सौ फ़ीसदी सही। और इसी कारण मैं हिन्दी के प्रश्न को इतना महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। कुछ हद तक महानगरीय अभिजात वर्गों के लिए यह पाखंड करना संभव है कि हिन्दी कोई मुद्दा नहीं है, कि यह ख़त्म हो चुकी है, कि भूमंडलीकरण के युग में हिन्दी की किसे आवश्यकता है? मेरे लिए यह एक निहायत अहम सवाल है, क्योंकि एक ऐसी 'हिन्दी' जो इस ऊर्जा की फ़र्ज़ी नुमाइंदगी करती है, उसे विकृत करती है। और दूसरी तरफ़ सही प्रतिनिधित्व करने वाली जनता की हिन्दी भी है — मेरे विचारों में राजनीतिक हलक़ों में दोनों ही सक्रिय रहेंगी। इनसे जूझना ज़रूरी है क्योंकि मुझे लगता है हम विकृति के शिकार हैं...।

>>**पलाश :** बाद की हिन्दी उन्हीं ऊर्जाओं की नुमाइंदगी करने, उसको वहन करने का स्वांग भरती है जिनका प्रतिनिधित्व पहले की हिन्दी करती थी। ऐसा क्यूँकर संभव होता है?

>>**आलोक :** मूलतः भारतेंदु से लेकर 1930-40 तक हिन्दी के रूपांतरण में राष्ट्रभाषा हिन्दी के उदय में, हिन्दी को कुछ हो जाता है। और यह बाद वाली हिन्दी भारतेंदु की हिन्दी नहीं है, बल्कि वह है जो 30 और 40 के दशक में सामने आती है; मूल रूप में स्कूली हिन्दी एक विशेष पहचान का ज़रिया बन जाती है। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि हिन्दी और 'हिन्दी', जिसे मैंने अपने लेखन में उद्धरण चिन्हों में रखकर संबोधित करने का प्रयास किया है, दोनों नाम एक से ही हैं। सतही समानता और नामों के साम्य के कारण बाद वाली हिन्दी के लिए उन ऊर्जाओं का बोझ उठाने का स्वांग करना संभव है, जो पहले वाली वाक़ई करती है। जब गांधीजी आए और उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में हिन्दी की अनिवार्य भूमिका की बात की, तब वह एक विशेष प्रकार की हिन्दी की बात कर रहे थे। लेकिन जब 1945 में टंडन ने गांधी जी को अविलंब विदा कहा — "मुझे दुख है, मैं आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन छोड़ने से रोक नहीं सकता" — तो हिन्दी को कुछ हो गया है। एक अन्य हिन्दी है, जिसने इसका स्थान ले लिया है। कुछ है जिसने हिन्दी की प्रकृति में परिवर्तन कर दिया है। और, वास्तव में यही समय है जब हिन्दी की विशिष्टतावादी पुनर्रचना आरंभ होती है — यह तथ्य भली-भांति छुप जाता है क्योंकि एक ही नाम इस ऐतिहासिक निरंतरता के दोनों सिरों पर भाषा के लिए प्रयुक्त किया गया है।

>>**शाहिद :** आप अपनी किताब में जो कह रहे हैं वह एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न है — स्कूलों में हिन्दी कैसे पढ़ाई जाती है? यहीं से जहां से भाषा जानने या न जानने के एक विशेष तरीक़े की शुरुआत...

>>**आलोक :** ...पीढ़ियों के मस्तिष्क में भरी गयी है और यह न केवल भाषा है जो भरी गई है, बल्कि एक ख़ास क़िस्म की ऐतिहासिक समझ, एक सांस्कृतिक एजेंडा (इसके विश्व के बारे में इसके विचार), एक विश्वदृष्टि दृष्टिकोण और संभावित भविष्य की रूपरेखा भी भरी गई है।

हिन्दी एक ख़ास क़िस्म की राजनीति की कूट भाषा बन जाती है और इसी वजह से हिन्दी का मुद्दा महत्त्वपूर्ण है, इसके बावजूद कि मेधावी, रचनात्मक और साहित्यिक व्यक्ति इस राजनीति से हमेशा मुक्त रहे हैं। युवा मानस की विकृति का सिलसिला निरंतर, बिना रुके, जारी रहता है।

>>**पलाश :** आईसीएससी स्कूलों में उर्दू शब्दों के प्रयोग के लिए हमारे अंक काटे जाते थे। और तो और, मैने निर्मल वर्मा को अंग्रेज़ी अनुवाद के माध्यम से पढ़ा है।

>>**शाहिद :** इसे एक दूसरे दिलचस्प कोण से देखा जा सकता है — एक 'अच्छे' प्राइवेट स्कूल में हिन्दी का

अध्यापक और कुछ करने नहीं केवल हिन्दी भर पढ़ाने आता है, जबकि भूगोल का अध्यापक कुछ और भी कर रहा होगा। इसी प्रकार, अंग्रेज़ी का अध्यापक मात्र अंग्रेज़ी का अध्यापक नहीं होता। जिससे होकर बाहर से कुछ आता है; जो हमारा है, जो पूरी तरह आत्मसात नहीं हुआ है और फिर भी आम जनता का प्रतिनिधित्व करता है, जिससे हर कोई कटा हुआ है। जब आम आदमी अपनी हिन्दी बोलता है तो हर कोई भाग खड़ा होता है। जब हम पढ़ा करते थे, उसकी तुलना में 'भूमंडलीकरण' आदि के इस दौर में मिडिल स्कूल में जिस तरह हिन्दी पढ़ाई और अपनाई जाती है, उससे बहुत ही जटिल स्थिति उत्पन्न हो गई है। पहले अंग्रेज़ी अपनाने का दबाव कम था, लेकिन तब हिन्दी थोड़ा बाहर थी, तो कुछ हद तक भीतर भी थी।

अब आपका औसत चतुर (स्मार्ट) मध्यवर्गीय दिल्ली का स्कूली बच्चा (सरकारी स्कूल में जाने वाला नहीं) — हिन्दी में आज उससे कम योग्य होगा, जितना कि वह दस साल पहले होता। फिर भी स्कूलों में हिन्दी का कार्यक्रम स्थितियों के अनुसार बदला नहीं है और हठधर्मिता की हद तक वही है।

>>**आलोक :** मेरे ख़याल से जो होने वाला है, और यह एक क़यास भर है, कि हिन्दी की बाहरी स्थिति में परिवर्तन इस तथ्य द्वारा छिपाया जाएगा कि पहले से ही एक ख़ौफ़ था और यह केवल वर्तमान ख़ौफ़ को अधिक गहराने वाला है। पहले का डर यह था कि हिन्दी अपने शत्रुओं द्वारा पीछे ढकेली जा रही है। हिन्दी का इतिहास इस बात का इतिहास है कि कैसे इसको उर्दू, अंग्रेज़ी आदि ने इसके वास्तविक अधिकार से वंचित रखा। और अब पूरा संसार ही हिन्दी के विरुद्ध दिखाई देता है। इसलिए स्थिति में वास्तविक परिवर्तन और उस तरह के अनुभव, जो हमें एक राष्ट्र के रूप में चाहिए, कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें समझने के लिए हिन्दी वालों को साधन नहीं दिए जाएंगे। सिर्फ़ इसलिए क्योंकि यह वंचित करने के एक लंबे इतिहास का हिस्सा होगा। मैं इसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ कि सारे अंतर्राष्ट्रीय चैनलों ने, जो इस देश में आए हैं, वास्तव में हिन्दी श्रोताओं को बिल्कुल सीधे संबोधित करना शुरु कर दिया है और जो भाषा वे प्रयोग कर रहे हैं वह मानक कृत्रिम हिन्दी से बिल्कुल अलग है।

>>**पलाश :** आप 'ज़ी' टीवी की हिन्दी को 'वीभत्स हिन्दी' कहते हैं।

>>**आलोक :** पर उन्हें इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि वे इस ऐतिहासिक बोझ से उबरने की कोशिश कर रहे हैं। और वास्तव में आम आदमी से संवाद की शुरुआत कर रहे हैं। दुःख की बात होगी अगर केवल बहुराष्ट्रीय टेलीविज़न ऐजेंसियां ही आम आदमी से बात करें...

>>**शाहिद :** जबकि विमान परिचारिकाएं इस हिन्दी में बात नहीं करतीं, वे मानक हिन्दी बोलती हैं।

>>**पलाश :** तब भी जब आप इंडियन एयरलाइन्स से यात्रा नहीं कर रहे हों...!

>>**शाहिद :** जो भी 30,000 फ़ीट ऊपर जाकर हिन्दी बोलता है, एक अजीब तरीक़े से बोलता है। हो क्या रहा है? कोई तुक...

>>**पलाश :** हवा में हवाई हिंदी।

>>**शाहिद :** लेकिन यह हवाई हिन्दी इतनी गरिष्ठ कैसे हो सकती है?

>>**आलोक :** मैं आपको बताता हूँ कि यह इतनी गरिष्ठ क्यों है। क्योंकि यह संस्कृतनुमा लगने का प्रयास करती है। यही इसकी त्रासदी है। संस्कृत की ज्येष्ठ पुत्री होने के दावे को उचित ठहराने का भरसक प्रयास किया जा रहा है। जो अपने आप में एक पाखंडपूर्ण दावा है।

>>**पलाश :** दोनों भाषाओं के व्याकरण में बहुत बड़ा अंतर है...

>>**आलोक :** दूसरी ओर, इस दावे को पुख़्ता करने के लिए भाषा को संस्कृत-सम दिखाने के लिए, इसे हर तरह से तोड़ा-मरोड़ा जाता है। स्पष्टतः, इस प्रकार की तोड़-मरोड़ से इसमें से जीवन निचुड़ जाता है और आपको यह विचित्र प्रकार की ध्वनि मिलती है, जिसे आप विशेषकर 30,000 फ़ीट की ऊंचाई पर साफ़ सुनते हैं, लेकिन इसे आप निस्संदेह ज़मीन पर भी सुन सकते हैं।

>>**पलाश :** ग़ौरतलब है कि दूसरी भाषाएं भी संस्कृत-करण की इस प्रक्रिया से गुज़र चुकी हैं और फिर उन्हें अंदर से ही एक चुनौती मिली है। क्या हिन्दी के साथ ऐसा नहीं हुआ? क्या ऐसा इसलिए है क्योंकि हमारी हिन्दी पट्टी में सबसे अधिक निरक्षर जनसंख्या है। जो इसके कर्त्ता-धर्त्ता हैं, उनको वास्तव में कोई चुनौती नहीं मिली है?

>>**आलोक :** मैं नहीं जानता कि जनसंख्या इसे कैसे प्रभावित करती है, लेकिन स्पष्ट रूप से आप बांग्ला बोलें या मराठी, विभिन्न सांस्कृतिक और जन संदर्भों में, विविध भाषाएं संस्कृत-करण की प्रक्रिया से गुज़री हैं। तो ज़मींदार भद्रलोक द्वारा बांग्ला का संस्कृत-करण, हिन्दी पट्टी के उन्नतिशील, नवशिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा हिन्दी के संस्कृत-करण से बिल्कुल अलग प्रक्रिया है। और स्पष्टतः बंगाल के विपरीत हिन्दी के संस्कृत-करण की प्रक्रिया को इस तरह विवादित होना ही था।

>>**शाहिद :** मैं यह बताना चाहता हूँ कि अवैध यौन संबंधों के लिए देहाती बांग्ला में 'आशनाई' शब्द है, जिसका प्रयोग बांग्ला के महान कवि नज़रुल इस्लाम ने भी किया है। मैं इस पर अपना हिन्दी का आख़िरी 'रुपया' भी दांव पर लगाने को तैयार हूँ कि इस शब्द का हिन्दी में कभी इस्तेमाल नहीं होगा। एक तरीक़ा तो है जिसमें आप बांग्ला में संस्कृत या फ़ारसी दोनों का इस्तेमाल बिना किसी चालान के डर के, सहज भाव से कर सकते हैं, लेकिन हिन्दी में यह ऐतिहासिक रूप से संभव नहीं है।

मै समझता हूँ कि आलोक की पुस्तक का महत्त्व यह है कि यह मातृभाषा, एक राष्ट्रवादी मातृभाषा, का पठनीय और जटिल दृष्टिकोण सामने रखती है। मुझे कभी-कभी लगता है कि हिन्दी के इतिहास-विहीन होने की बात उसी तरह का मीडिया बकवास तो नहीं है, जैसा यह कहना कि 'हिन्दुओं में कोई इतिहास-बोध नहीं है'। ये ग़ैरज़िम्मेदाराना वक्तव्य इसी क़िस्म के लोग देते हैं।

>>**आलोक :** मेरे लिए इन वक्तव्यों का निहितार्थ इतना ही है कि वे इतिहास को नकारते हैं। यह जानबूझकर याददाश्त खोने जैसी बात है। और मेरे लिए मज़ेदार बात यह है कि इस भूलने की इच्छा को प्रेरित कौन करता है? हम क्या छुपाना चाहते हैं? मैने इस मनोविश्लेष्णात्मक रूपक का अपनी किताब में प्रयोग किया है — कि सेहत का रास्ता उसको सायास उभारने में है, जिसे आप दबाना चाहते हैं। यह सारी पीड़ा और सामाजिक चिंता समझ में आती है, लेकिन इसका सामना किया जाना चाहिए। और इस ख़ुशफ़हमी से कि ऐसा नहीं हुआ और इस सबकी कल्पना पौराणिक कथाओं में ढूंढने से समस्या और भी गहरी हो जाती है। समस्या समाप्त नहीं होती।

>>**पलाश :** आप कहते हैं कि हमें हिन्दी का इतिहास समझने की आवश्यकता है। दो मूल प्रश्न इस इतिहास में मुझे अहम लगते हैं — कैथी और खत्री का विकल्प।

>>**आलोक :** कैथी भाषा नहीं, बल्कि लिपि है। और रोचक प्रश्न वास्तव में यह है कि कैथी को क्या हुआ? आज तो कैथी कहीं नहीं है।

>>**पलाश :** इसका महत्त्व इस बात में है कि यह नागरी लिपि का विकल्प थी।

>>**आलोक :** और यह एक बहुत अच्छा विकल्प थी। वस्तुतः कैथी का प्रयोग करने वाले स्कूल नागरी का प्रयोग करने वालों से अधिक थे। यह कैसे हुआ कि लिपि का एक अल्पसंख्यक रूप जीवित रहता? मैं अपनी किताब में इसे हिन्दी पट्टी की एक प्रकार की जातिवादी राजनीति से जोड़ कर देखता हूँ। और मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बद्रीनारायण उपाध्याय, *प्रेमघन* के लेखक, ने साहित्य सम्मेलन के एक सत्र में घोषणा की थी कि नागरी का पुराना नाम बभनी यानी ब्राह्मणों की लिपि था। संघर्ष कैथी और बभनी के बीच था, जिसमें बभनी की जीत हुई।

मैं हिन्दी पट्टी की राजनीति के बभनी क़ब्ज़े की जड़ खोदने का प्रयास कर रहा हूँ। ज़ाहिर है, घड़ी की सुई घुमाकर कैथी की ओर जाना संभव नहीं है। लेकिन जो हुआ उसे पहचानकर और उस राजनीति को समझकर, जिससे इस वर्चस्वशाली लिपि का निर्माण हुआ, हम इस इतिहास के साथ आगे बढ़ सकते हैं।

>>**पलाश :** खत्री का भी एक विकल्प था, जो अपने समय के लिए नर्म ही था।

>>**आलोक :** खत्री खड़ी बोली के पक्ष में थे। यह एक ख़ास क़िस्म की राजनीति थी जो कि वास्तव में कविता और गद्य की भाषा को लेकर थी। खत्री इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि हालांकि खड़ी बोली को सर्वत्र गद्य की भाषा के रूप में प्रयोग किया जा रहा था लेकिन दरअसल उसमें कविता भी की जानी चाहिए थी। इसलिए खड़ी बोली के पक्ष में उन्होंने दावा किया कि ब्रज के विपरीत यह वस्तुतः सभी लोगों की भाषा के नज़दीक थी। यह नागरी और उर्दू दोनो लिपियों में लिखी जा सकती थी और इसलिए अधिक उपयुक्त थी। खत्री यह देखने से पूरी तरह चूक गए कि लिपि आंदोलन का पूरा ज़ोर एक ऐसी मांग पैदा करना था जो एक सीमित दायरे के बाहर अमान्य हो।

लिपि की मांग कुल मिलाकर एक दरार पैदा करने वाला आग्रह थी। क्योंकि खड़ी बोली का दावा औरों के भी ख़िलाफ़ खड़ा किया गया एक मोर्चा था, जो अपने वजूद से ज़्यादा विपक्ष को परिभाषित और प्रश्नांकित करता था। अतः खत्री की समन्वयवादी खड़ी बोली के दावे और उसकी मांग में कोई दम नहीं था। लेकिन इन दस सालों में खड़ी बोली भी परिवर्तित हो गई और उसी में से एक नई संस्कृतनिष्ठ 'हिन्दी' भी उभर कर सामने आई।

अनुवादः भास्कर जुयाल

शहर के निशां

सदन झा / प्रभाष रंजन

WELCOME नमस्कार जी
हमेशा खुश रहना चाहिए
ALWAYS BE HAPPY
ईशवर ने शक्ति दी है तो अच्छे
काम करे

कृपया आप सब एकता
करे देश कि रक्षा करें
कृपया बेकसुर से न लड़ें
कृपया बच्चो का पुरा ध्यान
ALWAYS BE
रखे धन्यवाद IN HAPPY
WELCOME ॐ नमस्कार जी
हमेशा खुश रहना चाहिए
ALWAYS BE HAPPY

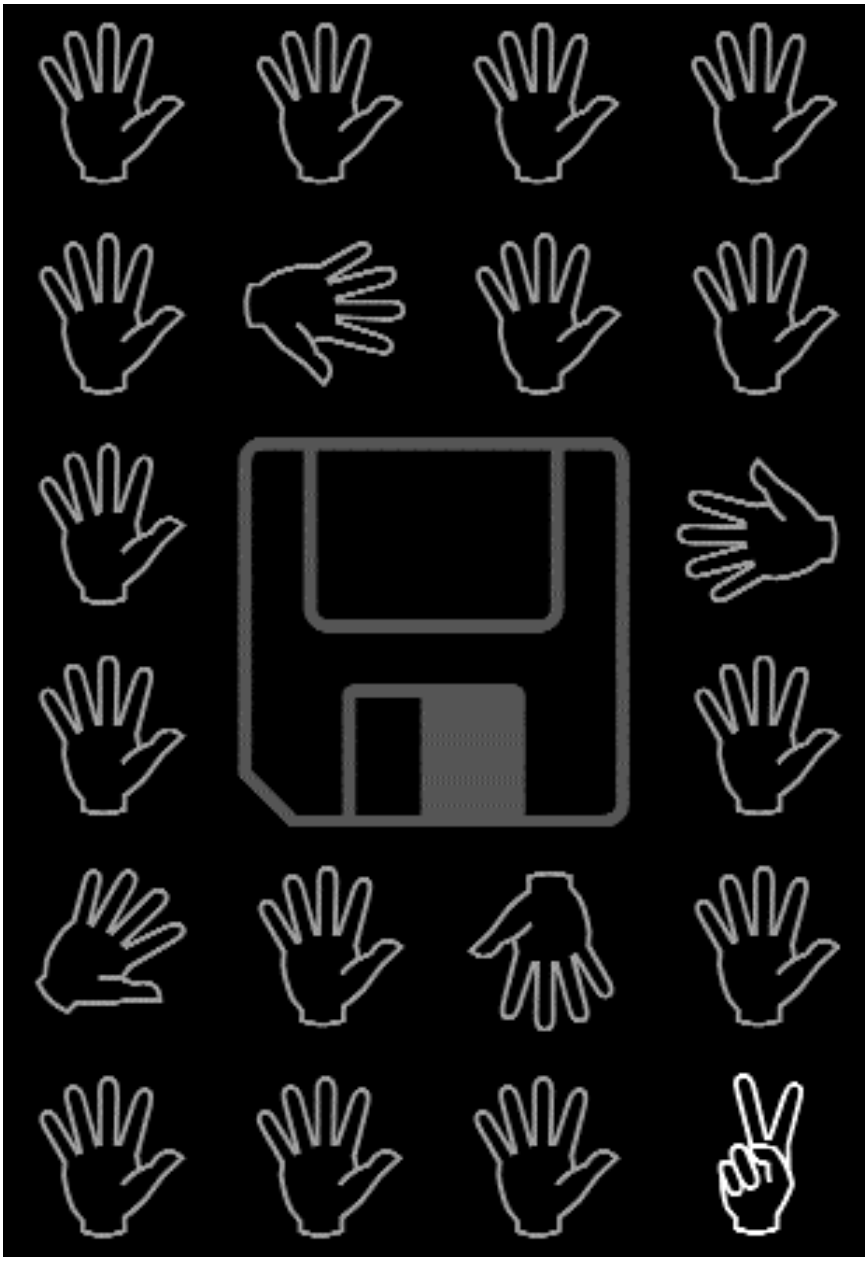

संचार के नवाचार: संदर्भ और विकल्प

संपादकीय हस्तक्षेप के साथ एक बार फिर दख़ल देने के लिए माफ़ी चाहेंगे लेकिन हमें लगा कि दीवान के इस हिस्से में एक अतिरिक्त ताज़गी है, इसलिए शायद यह एक स्वतंत्र भूमिका की दरकार रखता है। लेकिन पहले कुछ वैचारिक जालों की साफ़-सफ़ाई। हमारे बीच टेक्नॉलजी को हौआ मानने की प्रवृति एक औपनिवेशिक रवायत है। इसकी काट आज़ादी के बाद के इतने सालों में भी नहीं मिल पाई, जिसकी आंशिक वजह तकनीक पर सरकार का कुंडली मारे बैठना तो है, लेकिन उस क़िस्म की इजारेदारी को प्रश्नांकित न कर पाने की असफलता तो पब्लिक की भी है ही। हिन्दी जनपद में तकनीक का सवाल कुछ अबूझ तरह के नैतिक आग्रहों में लिपटा चला आता है। मसलन, अगर नए संचार माध्यमों की बात करें तो कहा जाता है कि जिस देश में भुखमरी हो, जहाँ बिजली अधिसंख्यक इलाक़े में छूकर नहीं गई हो और जहाँ है वहाँ छूकर चली जाती हो वहाँ कम्प्यूटर और इंटरनेट की बात करना विलासिता है। अब इस तरह के कुतर्क का तुर्कीबतुर्की जवाब एक सवाल ही हो सकता है कि क्या अख़बारों में लिखने से भुखमरी दूर हो गई है। बहुत लोग ख़ुद इंटरनेट का इस्तेमाल करते हैं लेकिन देश के लिए इसे अशुभकारी मानते हैं। आख़िर, कौन है यह देश? अगर रेडियो सुननेवाली बहुसंख्यक आबादी की ही बात करें तो इस प्रत्यक्ष-से प्रश्न का क्या जवाब है कि शुरुआती दौर के कुछ भाषा-चिंता-ग्रस्त लेखन के अलावा हमारे रेडियो-चिंतन की पूँजी में कुल जमा कितने शब्द हैं? यह तो एक मिसाल हैः जनभाषा के चिंतकों से जनसंचार की कई गाड़ियाँ छूटी हैं।

बहरहाल, पिछले कुछ सालों में एक गाड़ी और चली है। जिसमें अनगिनत डिब्बे हैं, अकूत जगह है, सचमुच बहुत तेज़ है और अभी तक के तमाम माध्यमों से ज़्यादा जनवादी संभावनाओं से भरी हुई इसलिए है कि इसमें एकतरफ़ा संवाद आपकी मजबूरी नहीं है। कम्प्यूटर-जनित इस डिजिटल संचार में ऐसी ढेरों ज़ाहिर-ग़ैर-ज़ाहिर क्षमताएँ निहित हैं जो हमारी ज़िन्दगी में बुनियादी बदलाव की गुंजाइश रखती हैं। हरकारे का काम हो तो इससे लीजिए, लिखने-भर की देर है, ई-पत्र फ़ौरन मंज़िल पर। और देके ख़त, नामबर का मुँह देखने की ज़रूरत भी नहीं, क्योंकि जवाबी बटन दबते ही ख़त सहित वापस उत्तर भी हाज़िर है। आपको यह सोचने की ज़हमत भी नहीं उठानी पड़ेगी कि ख़त में लिखा क्या था। विषय, पत्रांक/दिनांक सब हरकारा ख़ुद डाल देगा। आपको अगर अपनी महानता का गुमान है, और आनेवाली पीढ़ियों के लिए ख़तो-किताबत की अपनी अमूल्य विरासत छोड़ जाना चाहते हैं तो अपनी मशीन में एक फ़ोल्डर बनाकर रख दें और अपने तमाम दस्तावेज़ उसमें डालते चले जाएँ — ताज़िन्दगी।

आप शायद मानें कि हर नई रचनात्मक तकनीक ने इन्सानी दुश्वारियों को थोड़ा कम किया है। लेखन-कला और छपाई की संस्कृति ने साक्षरता की एक ख़ास परिभाषा गढ़ी। रेडियो और टीवी ने निश्चय ही उसे पुनर्परिभाषित किया। और अब नेट की संगम-संस्कृति में एक साथ पढ़ना-लिखना-देखना-सुनना संभव है। मतलब कि यहां विरासत की कई विकलताओं को दुरुस्त करने के उपाय हैं। सामने के दरस-पट (मॉनिटर) को परस-पट (टच-स्क्रीन) बना दें, यानी उस पर अंकित छवियों को छू कर संवाद करें। साक्षरता की अक्षर-केन्द्रित परंपरा एक नयी परिभाषा की मांग करती है। और हमारी ज़िन्दगी सरल हो गई है।

लेकिन ज़िंदगी चाहे वह आभासी ही क्यों न हो क्या वाक़ई इतनी सरल है? आगे के पृष्ठों में आपको एक के बाद एक ढेर सारी चुनौतियाँ परोसी जाएंगी। चुनौतियाँ, जिनका ताल्लुक़ राज्य से है तो समाज से भी, मुनाफ़े के बाज़ार-संस्कार से है तो निःस्वार्थ समुदायगत प्रतिबद्धता से भी, 'बौद्धिक संपदा' और स्वत्वाधिकार — जिसे अब 'सर्वाधिकार' नाम से पुकारा जाने लगा है, से है तो स्वत्व-त्याग से भी, क़ानून से है तो पायरेसी से भी, साझे को हड़पने की व्यूहरचना से है तो उसकी हिफ़ाज़त के लिए ईजाद किए गए र ाकौशलों से भी, उत्तर-आधुनिकता की राजनीतिक धुंध से है तो टैक्टिकल मीडिया की प्रकाश की नन्हीं किरणों से भी। ज़ाहिर है कि आनेवाले समय के गर्भ में सुखद संभावनाओं के साथ-साथ अनवरत संघर्षों के अंकुर पक रहे हैं। चिंतक कहते हैं कि निश्चिंत रहें, किताब का वजूद रहेगा, उसका रूप भले बदल जाए। हाँ, किताब पैदा करने की ताक़त अवश्य अब आपकी मेज़ पर है, जी हाँ अक्षरशः आपके 'डेस्कटॉप' पर। साथ ही, इंटरनेट की मूलतः अंग्रेज़ दुनिया में हिन्दी के वेब-खद्योत जो आज भूलतः जहँ-तहँ प्रकाश कर रहे हैं, उनकी तादाद बढ़ती चली जाएगी। अस्तु।

रविकान्त + संजय शर्मा

भारत में मीडिया और राज्यः कालक्रम

जीबेश बागची

"यही वह कमबख़्त तार है जो हमारा गला घोंटता है।
- टेलीग्राफ़ के बारे में सन् सत्तावन के एक बाग़ी का ख़याल"

प्रतिपादन युग

1885 भारतीय टेलीग्राफ़ अधिनियम

'टेलीग्राफ़' का मतलब किसी ऐसे यन्त्र, उपकरण, सामग्री या साधन से है जो तार, दृश्य अथवा दूसरे वैद्युत-चुम्बकीय, रेडियो अथवा हर्ट्ज़ियन तरंगों, विद्युत अथवा चुम्बकीय माध्यमों के द्वारा संकेतों, चिन्हों, लेखन, चित्रों और आवाज़ों का किसी भी प्रकार की सूचनाओं के प्रसारण या अभिग्रहण में इस्तेमाल किया जाता है या किया जा सकता है।

भारत में केन्द्र सरकार को टेलीग्राफ़ की स्थापना, रख-रखाव और चलाने का एकमात्र विशेषाधिकार होगा।

1918 सिनेमैटोग्राफ़ अधिनियम (चलचित्र प्रक्षेपी अधिनियम)

'सिनेमैटोग्राफ़' के अन्तर्गत ऐसा कोई भी संयंत्र आता है जो चल-चित्रों अथवा चित्र-श्रृंखला का प्रदर्शन करता हो। 'स्थान' या जगह का मतलब घर, मकान (तम्बू अथवा किसी भी प्रकार के परिवहन जल, थल या वायु, कहीं भी)। 'निर्दिष्ट' का मतलब इस अधिनियम के द्वारा बताए गए।

सिनेमैटोग्राफ़ की प्रदर्शनी लाइसेंसी होगी। सिवाय इस अधिनियम की दीगर शर्तों के अनुरूप, कोई भी व्यक्ति सिनेमैटोग्राफ़ के माध्यम से इस अधिनियम द्वारा प्रदत्त लाइसेंसी स्थान के अलावा एवम् इस अनुज्ञप्ति द्वारा आरोपित शर्तों और पाबन्दियों के विपरीत और कहीं भी कोई प्रदर्शन नहीं करेगा।

1923 राजकीय गोपनीयता अधिनियम (Official Secrets Act)

इसका उद्देश्य राज्य की सुरक्षा को गुप्त सूचना के रिसाव या नष्ट होने की स्थिति आदि के संभावित ख़तरे से बचाना है।

1932 भारतीय सीमा-शुल्क (वायरलेस प्रसारण) संशोधन अधिनियम वायरलेस अनुग्राही यंत्र पर 50 प्रतिशत सीमा शुल्क निर्धारित किया गया।

1933 भारतीय टेलीग्राफ़ी अधिनियम (स्वामित्व के नियमों के साथ)
भारतीय टेलीग्राफ़ अधिनियम (1885) ने सिर्फ़ बेतार संयंत्र के संस्थापन, सम्पोषण एवम् कार्यान्वयन के नियंत्रण का अधिकार दिया था। वायरलेस संयंत्र के स्वामित्व पर कोई रोक-टोक नहीं थी तथा बिना इस सबूत के कि वायरलेस संयंत्र का इस्तेमाल प्रसारण या अधिग्रहण के लिए किया गया है, अभियुक्ति असंभव थी। इस अधिनियम ने बेतार संयंत्र के स्वामित्व को नियन्त्रित करने का अधिकार दिया।

1939 जनवरी 16ः सम्पूर्ण भारत में पहली बार पायरेसी-विरोधी मुहिम।

1941 सूचना और प्रसारण विभाग की स्थापना हुई।

1948 संचार, राष्ट्रीय योजना समिति (कम्युनिकेशन, नैशनल प्लानिंग कमेटी) की उप-समिति की रिपोर्ट।
"आधुनिक जनतंत्र की एक बहुत बड़ी ख़ामी अगर निरक्षरता नहीं तो ऐसे तमाम ज़रूरी मालूमात से औसत नागरिक की दुर्दांत अनभिज्ञता है जो उनकी ज़िंदगी को प्रभावित करती हैं। अतएव नेताओं को न केवल उनकी योग्यता से ज़्यादा महत्व मिलने लगता है बल्कि वे अपने ही नारों और भाषणबाज़ी से सम्मोहित होकर धीरे-धीरे खुद को छलने लगते हैं। शिक्षा, सच्चे प्रबन्धन की महत्ता कम होने लगती है एवं तटस्थ जानकारी और वैज्ञानिक आँकड़ों का उपयोग कुछ विशेष परिस्थितियों में ही अपनी बात रखने में किया जाने लगता है। कोई व्यक्ति जितना ही कम जानता है उतना ही बोलता है, जितना ही ज़्यादा वो बोलता है उतना ही कम उसे समझा जाता है, अतएव जनतांत्रिक प्रतिनिधित्व का यह मार्का बन जाता है कि सर्वज्ञता का ढोंग करके जो नेता कहीं और किसी भी मौक़े पर शब्दाडम्बर का जाल बुनता है, उसे उतना ही अधिक सम्मान मिलता है। फलस्वरूप प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता की चोटी पर पहुंचना बहुत आसान हो जाता है और इसके लिए अख़बारों एवं पत्रिकाओं की प्रमुख ख़बरों में लगातार बने रहना ही एकमात्र शर्त होती है"।

सुसंगठन युग

1951 भारतीय टेलीग्राफ़ अधिनियम (1895) का पूरे भारत में विस्तार कर दिया गया।

1952 सिनेमैटोग्राफ़ अधिनियम संशोधित। सम्पूर्ण भारत में लागू।

1957 स्वत्वाधिकार (प्रकाशनाधिकार या Copyright) अधिनियम

1964 प्रसारण और सूचना मीडिया के बारे में अशोक के. चन्दा समिति की रिपोर्ट
"भारतीय संदर्भ में, प्रसारण जैसे रचनात्मक माध्यम का विभागीय नियम-क़ानूनों के अनुशासन के अधीन उन्नति करना संभव नहीं है। केवल सांस्थानिक बदलाव के ज़रिये ही आकाशवाणी को सरकार की मौजूदा सख़्त वित्तीय व प्रशासनिक कार्यप्रणाली से मुक्त किया जा सकता है"।

1970 केन्द्र सरकार द्वारा लोकसभा को सूचित किया गया कि वर्तमान समय ऑल इंडिया रेडियो को एक स्वतंत्र कॉरपोरेशन में तब्दील करने पर विचार करने के लिए उपयुक्त नहीं है।

1975 जून 25: आंतरिक आपातकाल की घोषणा
आकाशवाणी को सेंसर के अधीन किया गया। आकाशवाणी (एआइआर) कोड को अनुपयुक्त बताकर रद्द कर दिया गया।

1975 अगस्त 1: सैटेलाइट इन्स्ट्रक्शनल टेलीविज़न एक्सपेरिमेन्ट (SITE) लॉन्च किया गया।

1977 सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा 'आकाशवाणी और दूरदर्शन' की स्वायत्तता पर कार्य दल गठित।
अध्यक्षः बी जी वर्गीस

1978 आकाश भारती विधेयक
"आकाशवाणी और दूरदर्शन को स्वायत्त निकाय बनाने की वर्गीस ग्रुप की अनुशंसा को सरकार ने नहीं मानने का फ़ैसला किया है, क्योंकि इस तरह की संस्था उन मासमीडिया को योग्य बनाने के लिए ज़रूरी नहीं समझी जाती है जिनका मूल उद्देश्य ऐसे लोगों की सेवा करना है, जिन्हें दूसरी मीडिया की सेवा प्राप्त नहीं है"।

1978 भारतीय फ़िल्म प्रयोग की स्वायत्तता पर कार्यदल का गठन।
सरकार का विचार यह था कि फ़िल्म्स डिवीज़न को पहले से ही पर्याप्त कार्यात्मक स्वायत्तता मिली हुई है, ख़ासकर रचनात्मक एवं उत्पादन मामलों में तथा बड़ी फ़िल्मों की तुलना में। यहाँ तक कि नाटकीय और पद्यात्मक फ़िल्में भी मौजूदा फ़िल्म्स डिवीज़न के ढाँचे के अन्तर्गत बनायी जा सकती हैं अथवा बनायी जा रही हैं। तदनुसार, इस वर्किंग ग्रुप को ख़त्म करने का फ़ैसला किया गया।

1982 वर्किंग ग्रुप ऑन साफ़्टवेयर फ़ॉर दूरदर्शन। अध्यक्षः पी सी जोशी
"... एक असमान समाज में लोग अलग-अलग तरह से जीते हैं, सोचते हैं और महसूस करते हैं। अनियंत्रित बाज़ारी ताक़तों के भरोसे छोड़े गए संचार की प्रक्रिया अथवा सॉफ़्टवेयर उत्पादन एक असमान समाज की स्वाभाविक गतिविधि के ख़िलाफ़ बराबरी लाने वाली यान्त्रिकी की तरह काम नहीं करता है। यह समाज की असमानता को ठीक करने की बजाय उसे बढ़ाता है"।

"... अगर सॉफ़्टवेयर में जनता का प्रतिनिधित्व चाहिए तो संप्रेषण की स्वतंत्रता और विकासशील देश की कमज़ोर बहुतसंख्यक आबादी के हितों में संगति ज़रूरी है। सॉफ़्टवेयर में अभिजात्यों के अति-प्रतिनिधित्व का और कमज़ोर तबक़ों के नगण्य या भ्रामक प्रतिनिधित्व का मुद्दा उतना ही गंभीर और मौलिक है जितना कि रचनात्मक स्वतंत्रता का मुद्दा..."।

1982 अप्रैलः भारत का पहला घरेलू संचार उपग्रह इनसैट 1- A, लॉन्च किया गया।
15 अगस्तः रंगीन प्रसारण की शुरुआत।
न्यून शक्ति (100 वॉट) वाले 20 ट्रांसमिटरों का आयात किया गया और उन्हें भारत के चारों कोनों में लगाया गया। दिल्ली से 'राष्ट्रीय प्रसारण' को एक ही समय में सभी दूरदर्शन केन्द्रों से प्रसारित करने के लिए इनसैट 1-A का इस्तेमाल किया गया।

नवम्बरः नवें एशियाई खेलों का सम्पूर्ण भारत में सीधा प्रसारण।

1984 कॉपीराइट अधिनियम में वीडियो एवं ऑडियो कैसेटों को शामिल करने के लिए संशोधन किया गया।

1986 इन्डिसेन्ट रेप्रेज़ेन्टेशन ऑफ़ विमेन (प्रॉहिबिशन) ऐक्ट
(औरतों का अश्लील चित्रण {निषेध} अधिनियम)

अनिश्चय का युग

1989 प्रसार भारती (ब्रॉडकास्टिंग कॉरपोरेशन ऑफ़ इण्डिया) विधेयक को लोकसभा में पेश किया गया।
सन् 1990 में विधेयक को अधिनियमित किया गया परन्तु लागू नहीं किया गया।

1990 केबल द्वारा सीएनएन उपलब्ध।

1991 दक्षिण एशियाई नक़्शे क़दम के साथ स्टार टीवी ने शुरुआत की।

1992 दूरदर्शन का मेट्रो चैनल शुरु हुआ।
एशियासैट पर ज़ी टीवी ने प्रसारण शुरु किया।

1994 क्षेत्रीय भाषा के कार्यक्रमों के प्रस्ताव के साथ दूरदर्शन ने दस नए उपग्रह चैनलों की शुरुआत की। दिसम्बर: 60,000 केबल ऑपरेटरों ने काम करना चालू कर दिया। एशियासैट छः चैनलों को भारत लाया — सीएनएन, सन टीवी, जैन टीवी, एशियानेट, एल टीवी और एटीएन।

1995 ज़ी टीवी ने सिटी केबल लॉन्च किया। केबल ऑपरेशन तेज़ी से फैला।
ज़ी टीवी के ट्रान्सपौन्डर पर दूरदर्शन इन्टरनैशनल की शुरुआत हुई।

1995 सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला

न्यायमूर्ति पी वी सावन्त, एस मोहन तथा वी पी जीवन रेड्डी द्वारा सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार बनाम बंगाल क्रिकेट एसोसिएशन।

> "... (अदालत) इस बात पर भी ज़ोर देती है कि निर्माण, संचारण और प्रसारण के सम्बन्ध में कोई भी अनन्य विशेषाधिकार या एकाधिकार मान्य नहीं है और अगर इस तरह के अनन्य एकाधिकार का दावा किया जाता है तो यह अनुच्छेद 19(1)(a) का उल्लंघन होगा..."।

> "...चूँकि वायुतरंगे/आवृत्तियां जन-सम्पत्ति हैं तथा सीमित भी हैं, अतएव इनका इस्तेमाल समाज के सर्वोत्तम हित में होना चाहिए और या तो केन्द्रीय प्राधिकरण द्वारा या खुद अपना प्रसारण केन्द्र स्थापित कर किया जा सकता है अथवा निजी एजेंसियों सहित और दूसरी एजेंसियों को दिए जाने वाली लाइसेंसों को नियंत्रित करके..."।

> "...अगर वक्तव्य और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार की परिधि में ज़्यादा से ज़्यादा जनसमूह तक सूचना के प्रसार का अधिकार भी आता है तो वह माध्यम (रास्ता) जो अधिकार के इस तरह की पहुंच में मदद करता है, भी इस कथित अधिकार का अटूट अंग है। सूचना का विस्तृत प्रसार या इसका महती प्रभाव अधिकार की महत्ता को सीमित नहीं कर सकता और न ही ये इसकी अस्वीकृति को सही ठहरा सकता है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के सद्गुण उसके दुश्मन नहीं हो सकते हैं। यह प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों की विषय-सूची की अनुज्ञप्ति, नियंत्रण एवं निगरानी के बृहत्तर नियंत्रण (नियमन) को न्यायसंगत ठहरा सकता है। परन्तु, इस प्रकार के नियंत्रण का इस्तेमाल केवल अनुच्छेद 19(2) और जनहित के अनुदेश के ढाँचे के तहत किया जा सकता है। किसी अन्य आधार पर इस नियंत्रण की वकालत असंवैधानिक युक्ति की हिमायत करने के बराबर है। इस देश में जहां सरकार की वायुतरंगों/अवृत्तियों तथा प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों पर पूरा नियंत्रण है, इस मुद्दे पर सरकार की तरफ़ से दी जाने वाली दलील को स्वीकार करना बड़ा ही मुश्किल हो जाता है। टेलीविज़न प्रसारण की एकमात्र एजेंसी भी उनके (सरकार) नियन्त्रण में है। वे अनुच्छेद 19(2) की धाराओं तथा 'सिनेमैटोग्राफ़ अधिनियम' के अर्न्तगत पूर्व-सेंसर व्यवस्था की ताक़त से लैस

हैं। अतएव कथित अधिकार की एकमात्र सीमा सीमित संसाधन, तथा सबके फ़ायदे के लिए उनका इस्तेमाल करने की आवश्यकता है। लेकिन, जब अतिरिक्त या असीमित संसाधन होता है और जनहित में इसकी माँग होती है अथवा किसी हाल में प्रसारण नहीं रुकता है, तो सीमित संसाधन पर आधारित तर्क की वैधता लुप्त हो जाती है"।

कोई भी व्यक्ति तब तक केबल टेलीविज़न नेटवर्क नहीं चला सकता जब तक कि वह इस अधिनियम के तहत बतौर केबल ऑपरेटर प्रसारण पंजीकृत नहीं है।

1995 केबल टेलीविज़न नेटवर्क्स (रेग्युलेशन) अधिनियम

1996 नैशनल मीडिया नीति। फ़ैसले की व्याख्या वर्किंग पेपर में करती है।

>"सरकारी और ग़ैर-सरकारी रेडियो/टीवी प्रसारण के सर्वेक्षण के लिए नियंत्रक संस्था होनी चाहिए...।"

>"विश्वविद्यालयों, शैक्षणिक संस्थानों, पंचायतों/स्थानीय संस्थाओं, राज्य सरकारों, आदि द्वारा चलाए जा सकने वाले ग़ैर-व्यवसायिक प्रसारण केन्द्रों की स्थापना को संभव बनाना चाहिए एवम् उनका समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए"।

>"एक नयी, जनोन्मुख निर्माण शैली विकसित की जानी चाहिए। यहाँ सुझाए गए नीतियों के अनुरूप भारतीय निजी क्षेत्र/राज्य सरकार/ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ/स्थानीय सरकार को रेडियो/टीवी प्रसारण के क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति दी जानी चाहिए"।

>"उच्चतम नियंत्रक संस्था समाज के सभी वर्गों और उनके हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले एक स्वतंत्र स्वायत्त जन प्राधिकरण की तरह होना चाहिए, तथा जनता के हित में और उनके अधिकारों के अतिक्रमण को रोकने के लिए वायु तरंगों के इस्तेमाल को नियंत्रित एवं निगमित करना चाहिए"।

1996 प्रसार भारती अधिनियम को लागू करने के लिए हाई पावर कमेटी का गठन
अध्यक्षः डॉ० नितीश सेनगुप्ता

"हम लोग सर्वोच्च न्यायालय के सख़्त आदेश के आलोक में घरेलू और विदेशी दोनों निजी चैनलों को अनुज्ञप्त करने, प्रसारण एवं विज्ञापन कोड के अनुसार अनुज्ञप्तियों पर उचित शर्तों को आरोपित करने एवम् जन या प्रतिनिधि संस्थाओं या उपभोक्ता फ़ोरमों से प्राप्त इन कोडों के उल्लंघन की शिकायतों को दर्ज करने और फ़ैसला सुनाने हेतु एक स्वतंत्र या स्वायत्त भारतीय रेडियो और टेलीविज़न प्राधिकरण की स्थापना की सिफ़ारिश करते हैं। प्राधिकरण के इस 'फ़रियादी' कार्यभार के अधीन प्रसार भारती द्वारा चलाए जाने वाले चैनल भी आयेंगे। यह प्राधिकरण निजी रेडियो और टेलीविज़न केन्द्रों/चैनलों के नियामक और नियंत्रक का भी काम करेगा"।

"हम सिफ़ारिश करते हैं कि स्थानीय पार्थिव (terrestrial) टीवी और रेडियो स्टेशनों की अनुमति मिलनी चाहिए। ये स्टेशन नैगमिक और पंचायती राज संस्थाओं के स्थानीय प्रसारण द्वारा जनता की सेवा में मदद करेंगे। इस उद्देश्य हेतु भारतीय टेलीग्राफ़ अधिनियम (1885) सुविधानुसार संशोधित किया जा सकता है"।

1997 प्रसार भारती कॉरपोरेशन का गठन
स्वायत्तता की व्याख्या को लेकर लड़ाई शुरु हुई और आज भी जारी है।

1998 इन्फ़ॉरमेशन टेक्नॉलजी ऐक्शन प्लान। नैशनल टास्क फ़ोर्स ऑन इन्फ़ॉरमेशन टेक्नॉलजी ऐण्ड साफ़्टवेयर डिवेलपमेन्ट का प्रधानमंत्री कार्यालय के प्राधिकरण के अधीन गठन हुआ।

1998 वीएसएनएल ने निम्नलिखित साइटों को रोका:

www.cultdeadcow.com; www.sensenet.net; www.vocaltec.com; www.netspeak.com; www.Net2phone.com.

1999 वीएसएनएल ने www.dawn.com को ब्लॉक कर दिया।

2000 'सूचना तकनीक' अधिनियम

(1)(a) 'प्रवेश' (access) का प्रयोग चाहे जिस रूप में किया जाए, उसका तात्पर्य है किसी कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र (network) के तर्कशास्त्रीय, गणन या स्मृति रूपी संसाधन में प्रविष्ट होना, उसे अनुदेश देना या उससे सम्पर्क स्थापित करना।

(66) कम्प्यूटर सिस्टम की 'हैकिंग' (hacking) करनाः

(1) कोई भी व्यक्ति जो किसी व्यक्तिगत या सार्वजनिक कम्प्यूटर या कम्प्यूटर नेटवर्क में रखी सूचनाओं को जानबुझकर नुक़सान पहुँचाता है, मिटाता या बदलता है या संसाधनों में सेंध लगाता है, तो वह 'हैकिंग' का दोषी माना जाएगा।

(2) जो कोई भी व्यक्ति 'हैकिंग' का दोषी पाया जाता है उसे तीन साल तक की जेल या दो लाख तक का जुर्माना या दोनों सज़ाएँ मिल सकती हैं।

(43) कम्प्यूटर या कम्प्यूटर सिस्टम को क्षति पहुँचाने पर जुर्मानाः अगर कोई भी व्यक्ति जो कम्प्यूटर या कम्प्यूटर सिस्टम के मालिक या संरक्षक से अनुमति प्राप्त किए बग़ैरः

(a) उस कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र में प्रविष्ट होता है;

(b) किसी आंकड़े, कम्प्यूटर का डेटाबेस (data base) या जानकारी को उस कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र से 'डाउन लोड' करता है, चाहे वह डेटा या जानकारी किसी स्थानान्तरणीय संचयन माध्यम में ही क्यों न रखी हो;

(c) किसी कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र से किसी कम्प्यूटर प्रदूषक (contaminant) या कम्प्यूटर वायरस को प्रविष्ट कराता है या उसमें सहायक होता है;

(d) कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र में स्थित किसी डेटा, डेटाबेस या प्रोग्राम को क्षति पहुँचाता है या पहुँचाने का प्रयास करता है;

(e) कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र को बाधित (disrupt) करता है या ऐसा प्रयास करता है;

(f) किसी अधिकृत व्यक्ति को कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम, कम्प्यूटर तंत्र की पहुँच से वंचित करता है (या उसके उपयोग से वंचित करता है) चाहे इसके लिए कोई भी तरीक़ा अपनाया गया हो;

(g) इस अधिनियम के प्रावधानों के विपरीत किसी व्यक्ति को कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र तक 'पहुँच' को सुगम बनाता है;

(h) अगर वह किसी दूसरे व्यक्ति के खाते का ग़लत इस्तेमाल करता है; यानी उसकी जगह ख़ुद को प्रस्तुत करके कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम, कम्प्यूटर तंत्र में चालबाज़ी के द्वारा किसी व्यक्ति से सेवा-शुल्क प्राप्त करता है।

स्पष्टीकरण - इस खण्ड के उद्देश्य परः

(i) "कम्प्यूटर निरोधन (Computer Containment)" का मतलब ऐसे निर्देशों से है जिनका उद्देश्यः

(a) किसी कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम, कम्प्यूटर तंत्र में स्थित तारीख़ या प्रोग्राम को परिवर्तित करना, नष्ट करना, रिकॉर्ड करना या प्रेषित करना;

(b) किसी भी तरीक़े से कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर तंत्र के सामान्य कामकाज को अनाधिकार उपयोग में लाना या हड़पना।

2000 इंटरनेट के लिए अंतर्राष्ट्रीय गेटवे, अंत:समुद्री केबल लैंडिंग मंच के निर्माण से सम्बन्धित कुछ सामान्य जानकारियाँ और दिशा निर्देश। भारत सरकार के सूचना मंत्रालय द्वारा जारी।

(2) इंटरनेट के अंतर्राष्ट्रीय गेटवे के रूप में स्थापित इस लैंडिंग स्टेशन (landing station) का इस्तेमाल सिर्फ़ इंटरनेट की आवाजाही के लिए ही होगा।

(7) दूर-संचार अधिकारी या उसके द्वारा अधिकृत किसी भी कर्मचारी को इस लैंडिंग स्टेशन के आकस्मिक निरीक्षण का अधिकार होगा ताकि इसके ग़ैर-क़ानूनी और जन-हित के ख़िलाफ़ इस्तेमाल को रोका जा सके, ताकि यह भी सुनिश्चित किया जा सके कि अवतरण मंच के ज़रिए ही इंटरनेट यातायात हो।

(13) सुरक्षा की दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्रों में ये अवतरण मंच स्थापित नहीं किए जाएँगे। इन क्षेत्रों के इंटरनेट केन्द्रों को वीएसएनएल के ज़रिए ही जाना होगा। इन क्षेत्रों की शिनाख़्त समय-समय पर की जाएगी। फ़िलवक़्त पंजाब, जम्मू और कश्मीर, उत्तर पूर्वी प्रांत, राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्र, अंडमान निकोबार द्वीप समूह और गुजरात तथा तमिलनाडु के तटवर्ती प्रदेश (चेन्नई छोड़कर) ऐसे इलाक़े हैं।

(14) दूरसंचार के अधिकारियों द्वारा माँगे जाने पर ISP लाइसेंसधारी अपने ग्राहकों का विस्तृत बिल संबंधी ब्यौरा उपलब्ध कराएँगे।

(15) दूरसंचार अधिकारियों द्वारा निर्देशित किए जाने पर ISP के शिनाख़्त लाइसेंसधारी किसी ख़ास इंटरनेट साइट के प्रसारण को रोकने या ख़ास ग्राहक को सेवा से वंचित करने के लिए बाध्य होंगे।

(27) सरकार द्वारा अधिकृत कोई भी एजेंसी लैंडिंग स्टेशन से गुज़रने वाली किसी भी चीज़, जैसे डेटा, फ़ैक्स, संवाद, विडियो, हर तरह के मल्टी-मीडिया पर नज़र रखेगी।

(28) यह मॉनिटरिंग या नज़र रखने का कार्य बीज शब्द/अभिव्यक्ति के मूल भाव/संदेश भेजने या प्राप्त करने वाले ग्राहक के पते (IP पता, e-mail पता) के आधार पर संभव होगा।

(29) इन संचार द्वार से गुजरने वाली समस्त सूचनाओं को स्कैन करना और उसमें से बीज शब्द/अभिव्यक्ति के मूल-भाव और पते के आधार पर सुरक्षा एजेंसियों द्वारा इंगित की गई सूचना को प्राप्त करना संभव होगा। प्राप्त की गई सूचनाओं को सुरक्षा एजेंसियों के लिए 'मेमरी' या 'डायरेक्टरी' में रखा जाएगा। इन सूचनाओं को रखने के लिए फ़ाइल की किसी अन्य डायरेक्टरी का इस्तेमाल किया जाएगा। इस तरह छानी गई सूचनाएँ इस प्रकार रखी जाएंगी कि सीधे फ़ैक्स की 'हार्ड कॉपी' और आँकड़े या संवाद/विडियो रिकार्डिंग के ऑडियो/विडियो टेप प्राप्त किए जा सकें। तारीख़ और रिकॉर्डिंग के समय 'रिकॉर्डों' की संख्या इत्यादि के लिए प्रत्येक एजेंसी रिकॉर्ड की गई सभी सूचनाओं का 'लॉग' (Log) तैयार करेंगी।

(30) मॉनिटरिंग सेन्टर या निरीक्षण केन्द्र के कम्प्यूटर में हर सुरक्षा एजेंसी के लिए कुछ निर्धारित जगह/स्मृति/डायरेक्ट्री/भंडारण निश्चित रहेगा।

(34) हर लाइसेंसधारी द्वारा हर केन्द्र पर दूर संचार अधिकारियों के लिए 20 x 20 फ़ीट का कार्यालय, जो वातानुकूलित और विद्युत की निरन्तर आपूर्ति से सुसज्जित होगा, मुफ़्त प्रदान किया जाएगा।

पोटा, 2002

> धारा - 3 के अनुसार हर व्यक्ति पर यह ज़िम्मेदारी आयद होती है कि वह आतंकवादी गतिविधियों को रोकने में हर तरह से पुलिस की मदद करे और आतंकवादियों से संबद्ध हर तरह की सूचना उसे दे।

> धारा - 14 के अनुसार दरयाफ़्त करने वाले हर अफ़सर को यह अधिकार है कि वह इस क़ानून के लिए ज़रूरी कोई भी सूचना किसी भी व्यक्ति से मांगे। (इस धारा से वकील और पत्रकार भी बाहर नहीं हैं। उन्हें अपने ग्राहकों और सम्पर्क के सभी व्यक्तियों से प्राप्त सूचना उपलब्ध करानी होगी)।

> धारा - 7 के अनुसार पुलिस अधीक्षक और उससे ऊपर के किसी भी दरयाफ़्त करने वाले अफ़सर को यह अधिकार है कि वह राज्य के पुलिस महानिदेशक से पूर्व आदेश के आधार पर ऐसी किसी भी सम्पत्ति को ज़ब्त कर ले जिसका लाभ आतंकवाद को मिलता है। जहाँ सम्पत्ति ज़ब्त करना संभव नहीं हो वहां इस

तरह का आदेश जारी किया जाए कि ऐसी सम्पत्ति का हस्तांतरण संभव न हो सके। ऐसे हस्तांतरण के लिए किसी निर्दिष्ट पदाधिकारी का आदेश आवश्यक होगा।

> धारा - 38 के अनुसार किसी आतंकवादी गतिविधि की तफ़्तीश कर रहे अफ़सर को यह अधिकार है कि वह तार, विद्युतीय और मौखिक संचार को अवरुद्ध करने के लिए उचित अधिकारी को आवेदन दे, बशर्ते अधिकारी को विश्वास हो कि इस तरह का कोई संवाद आतंकवादी गतिविधि में शरीक होने का प्रमाण है।

कम्यूनिकेशन कन्वर्जेंस बिल, 2001

मुख्य उद्देश्य:

1 सूचना आधारित समाज और सूचना तक पहुँच को संभव बनाने के लिए राष्ट्रीय आधार का विकास करना।
2 लोगों को समाचार, सूचना और मत-अभिमत की बहुलता प्रदान करने वाली सेवाओं में विकल्प की सुविधा देना।
3 प्रसारण, डेटा-संचार, मल्टी-मीडिया एवं दूरसंचार एवं सेवाओं के संगम की परिस्थिति में एक नियंत्रक ढाँचे की स्थापना करना।
4 किसी एक नियंत्रक और लाइसेंसिंग अधिकारी और ऐपेलेट ट्राइब्यूनल की शक्तियों, प्रक्रियाओं और कार्यविधियों को निर्धारित करना।

अतिरिक्त सामग्रीः ज़मरूदा खाण्डे
अनुवादः देवानंद, प्रभात कुमार

इंटरनेट का संक्षिप्त इतिहास

ब्रूस स्टर्लिंग

कोई तीस साल पहले अमेरिका में शीतयुद्ध-कालीन अग्रणी थिंक टैंक 'रैन्ड' नामक निगम को एक विलक्षण रणनीति सम्बंधी समस्या का सामना था कि परमाणु युद्ध के विध्वंस के बाद अमेरिकी अधिकारीगण एक-दूसरे के साथ किस तरह सम्पर्क साध पाएँगें।

परमाणु युद्ध के पश्चात अमेरिका को एक ऐसे नियंत्रण और कमान वाली प्रणाली की आवश्यकता पड़ती, जो शहर से शहर को, राज्य से राज्य को एवं एक सैनिक अड्डे से दूसरे को जोड़े रख सकती। समस्या यह थी कि वह प्रणाली या नेटवर्क कितनी ही बख़्तरबंद क्यों न हो, कितनी ही सुरक्षित क्यों नहीं हो, उस पर लगे विभिन्न बटन एवं तार परमाणु बम की चपेट में आसानी से तबाह हो सकते थे। अर्थात एक परमाणु हमला किसी भी संचार प्रणाली को नेस्तनाबूद करने के लिए पर्याप्त था।

सवाल यह भी था कि ऐसे नेटवर्क को किस प्रकार अपने नियंत्रण में रखा जा सकेगा। समस्या यह थी कि चाहे कोई भी केन्द्रीय प्राधिकरण हो या कोई क़िलानुमा केन्द्र हो, वह शत्रु प्रक्षेपास्त्र के हमले का स्पष्ट एवं सबसे पहला लक्ष्य बनता। मतलब कि तबाही का सबसे पहला निशाना संचार प्रणाली का केन्द्र स्वयं बन जाता। लिहाज़ा 'रैन्ड' ने इस गम्भीर गुत्थी पर गहरे गुप्त विचार-विमर्श के बाद एक दुस्साहसपूर्ण हल निकला। 'रैन्ड' का यह प्रस्ताव (जो उसी के एक कर्मचारी 'पॉल बरान' के दिमाग़ की उपज थी) 1964 में सार्वजनिक कर दिया गया। इसके मुताबिक़ तय यह हुआ कि 'इस संचार-प्रणाली में कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं होगी' तथा आरम्भ से ही इसकी अभिकल्पना इस प्रकार की होगी कि 'जर्जर अवस्था में होने पर भी यह कार्य करता रहेगा'।

यह डिज़ाइन बड़े सरल सिद्धांत पर आश्रित था। शुरु से ही यह मानकर चला गया कि इस नेटवर्क का कोई भरोसा नहीं है, इसलिए यह कुछ इस प्रकार तैयार किया जाएगा कि आरम्भ से ही यह स्वयं की अविश्वसनीयता का अतिक्रमण कर दे। इस संचार प्रणाली के हर नोड अन्य सभी दूसरे नोड्स जैसे होंगे तथा हर गाँठ को स्वयं संदेश उत्पन्न करने एवं उनके आदान-प्रदान का अधिकार होगा। सन्देश तत्पश्चात विभिन्न पैकेटों में बँट कर विभिन्न पतों पर जाएँगे। हर पैकेट का एक ख़ास उद्गम नोड होगा तथा उसका गंतव्य एक अन्य विशिष्ट नोड होगा। प्रत्येक पैकेट उस संचार प्रणाली में अकेले ही अपना रास्ता ढूंढेगा।

यह पैकेट कौन-सी राह चुनेगा यह बेमानी है; सिर्फ़ मंज़िल महत्वपूर्ण होगी। बुनियादी रूप से इस पैकेट को एक नोड से दूसरे नोड तक अपनी गंतव्य दिशा में तब तक उछाला जाएगा जब तक वह अपनी सही जगह तक नहीं पहुँच जाता। इसका एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि संचार प्रणाली के तहस-नहस हो जाने की अवस्था में भी ये पैकेट हवा में सुरक्षित रहेंगे, तथा उस क्षेत्र में जो भी नेटवर्क (नोड) बच जाएंगें, वे आसपास असमान रूप से छितराये हुए रहेंगे। यह अव्यवस्थित वितरण प्रणाली भले ही अक्षम लगे, विशेषकर जब हम इसकी तुलना साधारण टेलीफ़ोन जैसी चीज़ से करें लेकिन यह प्रणाली काफ़ी हद तक मज़बूत साबित होगी।

1960 के दशक में सभी बड़े धमाकों को झेल सकने वाली विकेन्द्रित पैकेट-बदल संचार प्रणाली की यह अद्भुत अवधारणा इधर-उधर उछाली जाती रही। परन्तु इसे 'RAND', MIT (एम.आई.टी.) तथा UCLA (यू.सी.एल.ए.) द्वारा जीवित रखा गया। 1968 में ब्रिटेन की राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (नैशनल फ़िज़िकल लैबोरेटरी) द्वारा इन सिद्धांतों को लेकर ऐसी पहली संचार प्रणाली का परीक्षण किया गया। इसके तुरन्त बाद ही पेन्टागन की ऐडवान्स रिसर्च प्रॉजेक्ट एजेन्सी ने अमेरिका में एक इससे अधिक विशाल एवं महत्वाकांक्षी प्रॉजेक्ट पर धन लगाने का निर्णय लिया। इस संचार प्रणाली के नोड्स (nodes) और कुछ नहीं बल्कि अति तीव्र सुपर कंप्यूटर थे (या उस समय सुपर कम्प्यूटर की जो भी परिकल्पना रही हो) — ऐसी दुर्लभ एवं मूल्यवान मशीनें जिनको एक अच्छी एवं ठोस संचार प्रणाली की सख़्त आवश्यकता थी और जिनका क्रियान्वयन राष्ट्रीय शोध एवं विकास संबंधी परियोजनाओं के लिए किया जाना था।

1969 के उत्तरार्द्ध में इस तरह का पहला नोड UCLA में स्थापित किया गया। दिसम्बर 1969 तक इस शिशु नेटवर्क में चार नोड जोड़ लिए गए थे और इसके प्रायोजक — पेन्टागन ने इसको नाम दिया अरपानेट (ARPANET)। यह अपनी उच्च प्रसारण लाइनों की सहायता से एक साथ चार कम्प्यूटरों पर आंकड़ों के आदान-प्रदान कर सकते थे। यहाँ तक कि इन्हें दूसरे कम्प्यूटरों के द्वारा दूर बैठे ही प्रोग्राम किया जा सकता था। अरपानेट (ARPANET) की मदद से अब वैज्ञानिक एवं शोधकर्ता दूर बैठे ही एक दूसरे के साथ साझा प्रॉजेक्ट कर सकते थे, कम्प्यूटरों में उपलब्ध सुविधाओं को आपस में बाँट सकते थे। यह एक अत्यन्त ही सुविधाजनक सेवा थी, क्योंकि आठवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में कम्प्यूटर-प्रयोग का समय काफ़ी क़ीमती था। 1971 में अरपानेट (ARPANET) पर पन्द्रह कम्प्यूटर हो गए, तथा 1972 आते-आते इनकी संख्या 37 हो गई थी, जो कि काफ़ी अच्छे संकेत थे।

इसके प्रचालन के दूसरे ही वर्ष में एक विचित्र सच्चाई बिल्कुल ज़ाहिर हो गई कि अरपानेट (ARPANET) का इस्तेमाल करने वालों ने इस साझा कम्प्यूटरीकृत संचार प्रणाली को एक नई दिशा प्रदान कर इसे सरकार द्वारा संरक्षित एक समर्पित एवं उच्च गति वाले विद्युतीय डाक घर का सा रूप दे दिया है। अरपानेट (ARPANET) पर मुख्य यातायात लम्बी दूरी की कम्प्यूटिंग से जुड़ी टिप्पणी या प्रयोग न होकर ख़बरों एवं व्यक्तिगत संदेशों का था। शोधकर्ताओं द्वारा ARPANET का उपयोग प्रॉजेक्ट्स में सहयोगी काम से जुड़ी टिप्पणियों के आदान-प्रदान, यहाँ तक कि खुलेआम गप्पे हाँकने एवं आपसी गपशप में होने लगा। ARPANET कम्प्यूटर पर लोगों के अपने व्यक्तिगत खाते थे, तथा उनके अपने पते दर्ज थे जिसका प्रयोग वे ई-मेल के लिए करते थे। ARPANET का प्रयोग वे न सिर्फ़ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के बीच सम्पर्क साधने के लिए करते थे बल्कि इस विशेष सेवा को लेकर वह बहुत अधिक उत्साहित भी थे — लम्बी दूरी के कम्प्यूटेशन से भी ज़्यादा उत्साहित।

और फिर 'मेलिंग लिस्ट' का आविष्कार होते देर न लगी। यह ARPANET की एक ऐसी प्रसारण व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत इस संचार जाल के सभी उपभोक्ताओं को स्वचालित रूप से एकसमान सन्देश भेजे जा सकते थे। मज़ेदार बात तो यह है कि ARPANET की सबसे पहली मेलिंग लिस्ट एस.एफ.लवर्स (S.F. Lovers) की थी — काल्पनिक विज्ञान-उपन्यास प्रेमियों के लिए। विज्ञान उपन्यास की चर्चा यूँ खुलेआम संचार जाल पर होना उसके काम का हिस्सा नहीं था और ARPANET कम्प्यूटर के कई प्रशासकों की भवें भी तनीं पर इस पर रोक लगाने में वे असफल रहे।

सत्तर के दशक में ARPANET का नेटवर्क बढ़ता गया। इसके विकेन्द्रित ढाँचे ने इसके प्रसार को और अधिक सरल बना दिया था। मानक कॉरपोरेट कम्प्यूटर नेटवर्क की तुलना में ARPANET संचार जाल विविध प्रकार की मशीनों को समाहित करने की क्षमता रखता था। जब तक व्यक्तिगत मशीनें उस समय तैयार की जा रही पैकेट की नई बोलचाल की भाषा समझ सकती थीं तब तक इस ओर नये विविध नेटवर्क जैसे कि उसका ब्रैंड या उसकी विषयवस्तु और यहां तक कि उसके स्वामित्व बेमानी थे।

ARPANET का मूल संचार मानक NCP कहलाता था, जिसका अर्थ था Network Control Protocol, लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया और तकनीक में सुधार होता गया वैसे-वैसे NCP की जगह एक उच्च स्तरीय अधिक सूक्ष्म मानक TCP/IP ने ले ली। TCP अथवा Transmission Control Protocol एक ऐसी व्यवस्था है जो संदेशों को उनके उद्गम स्थान पर ही छोटे-छोटे पैकेट धाराओं में बदल देती है तथा गंतव्य स्थान पर पुनः उन

सन्देशों को एक साथ एकत्रित कर लेती है। IP या Internet Protocol (इंटरनेट सम्बंधी नयाचार) इस बात को सुनिश्चित करता है कि पैकेट विभिन्न मार्गों के माध्यम से अधिक से अधिक शाखाओं में विभक्त हो पाएँ। और यह न सिर्फ़ ARPANET के अग्रणी NCP मानक बल्कि अन्य मानकों जैसे, इथरनेट, FDDI एवं X.251 का इस्तेमाल कर सके। 1977 के आरम्भ से ही TCP/IP को दूसरे संचार जालों को ARPANET से जोड़ने के काम में लाया जाने लगा। ARPANET स्वयं काफ़ी हद तक नियंत्रित रहा, 1983 तक तो अवश्य ही, क्योंकि वर्ष 1983 में इसका सैनिक खण्ड इससे अलग होकर MILNET बन गया पर इन सभी को जोड़ने वाली कड़ी अब भी TCP/IP थी, और ARPANET स्वयं (हालाँकि उसका भी विकास होता रहा) एक-दूसरे से जुड़ी हुई मशीनों के बढ़ते हुए महानगर के एक छोटे से मोहल्ले के रूप में सिमट कर रह गया। जैसे-जैसे '70 और '80 के दशक बीतते गए कम्प्यूटर नामक ये ताक़तवर मशीनें विभिन्न सामाजिक समूहों के हाथों में आती गईं। इन्हें इस विकासशील नेटवर्कों को नेटवर्क से जोड़ना आसान हो गया। TCP/IP का प्रचलन आम होता गया, अन्य संचार जाल व्यवस्थाओं ने भी इंटरनेट के डिजिटल प्रारूप को अपनाया तथा किसी प्रकार इससे चिपके रहे। चूंकि TCP/IP नामक यह साफ़्टवेयर (Software) मुक्त या सार्वजनिक था तथा इसकी मूल तकनीक विकेन्द्रित और किसी हद तक अराजक भी थी, लोगों को इसमें ज़बर्दस्ती घुसने से तथा स्वयं को यहाँ-वहाँ जोड़ने के प्रयासों पर रोक लगा पाना अत्यन्त ही कठिन था। सच तो यह है कि कोई भी उन्हें इस विलक्षण जाल में सम्मिलित होने से रोकना नहीं चाहता था। यही विलक्षण शाखा-प्रशाखाओं वाली प्रणाली बाद में 'इंटरनेट' कहलायी।

जहां तक ख़र्च की बात है, इंटरनेट से जुड़ने में लोगों को कुछ नहीं देना पड़ता था। क्योंकि हर नोड या कम्प्यूटर अपने आप में स्वतंत्र था। और इन्हें अपनी वित्तीय एवं तकनीकी आवश्यकताओं से स्वयं ही निपटना पड़ता था, यह जाल जितना फैलता गया चीज़ें उतनी ही सरल एवं आर्कषक होती चली गईं, ठीक टेलीफ़ोन संचार व्यवस्था की तरह ही कम्प्यूटर संचार जाल धीरे-धीरे और अधिक मूल्यवान होता चला गया, जैसे-जैसे इसे और अधिक इलाक़ों तथा साधारण जनता एवं संसाधनों ने अंगीकार किया।

एक फ़ैक्स मशीन तब तक ही उपयोगी है जब तक 'अन्य सभी लोगों' के पास भी फ़ैक्स मशीन है। जब तक 'फ़ैक्स' मशीन सभी के पास नहीं होगी तब तक वह मात्र एक कौतूहल की चीज़ ही रहेगी। ARPANET भी कुछ समय तक कौतुक मशीन ही रही, परन्तु बाद में ऐसा भी समय आया जब कम्प्यूटर संचार-प्रणाली एक आवश्यकता बन चुकी थी।

1984 में राष्ट्रीय विज्ञान संगठन ने अपने अत्याधुनिक वैज्ञानिक कम्प्यूटरीकरण कार्यालय के माध्यम से पहल की तथा NSF NET ने तकनीकी प्रगति से नए, तीव्र एवं बुद्धिमान सुपर कम्प्यूटर को श्रृखंलाबद्ध करके बिजली की गति प्रदान की जिसका माध्यम उच्चस्तरीय विस्तारित एवं तीव्र श्रृंखलाओं को बनाया गया। यही पद्धति बार-बार 1986, 1988, 1990 में दोहराई गई जिससे यह जाल फैलता चला गया। इसके पश्चात अन्य सरकारी एजेन्सियाँ भी इनमें कूद पड़ीं जैसे, NASA, नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ हेल्थ, ऊर्जा विभाग (NAHDE), इत्यादि तथा हरेक ने INTERNET महासंघ में अपनी डिजिटल पकड़ और साख बनाए रखी।

नेटवर्कों के इस नेटवर्क के अन्य nodes को इनकी मूल विविधता के आधार पर बाँट दिया गया, कुछ विदेशी कम्प्यूटरों, विशेषकर कुछ अमेरिकी कम्प्यूटरों ने स्वयं को भौगोलिक स्थान द्वारा चिन्हित करवाना ज़्यादा अधिक पसन्द किया, शेष को मूलतः छः कार्यक्षेत्रों में जैसे, gov, mil, edu, com, org और net (ये संक्षेपण TCP/IP नयाचार के मानक चरित्र के रूप में प्रचलित हैं): gov (government) अर्थात सरकार, mil (Military) अर्थात सैनिक, edu (Education) अर्थात शैक्षिक, अपने आप में अग्रणी साबित हुए क्योंकि ARPANET की शुरुआत राष्ट्रीय सुरक्षा के मद्देनज़र केवल एक उच्च तकनीक शोध अभ्यास था। com वाणिज्य संस्थाओं के लिए था जो जल्दी ही किसी मेले में आए छूटे साँड की तरह संचार जाल में घुस गए, और जिनके घर्षण-गर्जन से उमड़ते धूल के बादलों के बीच org (यानी ग़ैर मुनाफ़े वाली संस्थाएँ भी दृष्टिगोचर होने लगीं)। net की भूमिका नेटवर्कों के बीच सिंहद्वार की थी।

ARPANET औपचारिक रूप से 1989 में लुप्त हो गया, सच पूछें तो यह कहना होगा कि ARPANET अपनी असाधारण सफलता का एक सुखी शिकार बनकर अवकाश प्राप्त कर गया। इसे इस्तेमाल करने वालों ने

शायद ही इस बात को महसूस किया होगा क्योंकि ARPANET का कामकाज न केवल जारी रहा बल्कि इसमें धीरे-धीरे सुधार भी होता गया। कम्प्यूटर के संचार जाल के लिए TCP/IP मानक का प्रयोग एक विश्वव्यापी परिघटना है। 21 वर्ष पहले 1971 तक ARPANET पर केवल चार कम्प्यूटर थे, आज यहाँ पर लाखों ऐसे नोड हैं जिनका जाल विश्व के 42 देशों में फैला हुआ है और बड़ी ही तेज़ी से दिन प्रतिदिन इसमें बढ़ोत्तरी हो रही है। तीस लाख, संभवतः चालीस लाख लोग आज समस्त कम्प्यूटर जालों की भव्य जननी का प्रयोग कर रहे हैं।

वैज्ञानिकों के बीच ख़ास तौर से इंटरनेट काफ़ी लोकप्रिय है और यह कह सकते हैं कि शायद 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का यह सबसे महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक उपकरण है। जितनी ताक़त और बारीक़ी से यह विशिष्ट डेटा या व्यक्तिगत संदेश का संचार उपलब्ध कराता है, उससे वैज्ञानिक खोज की गति में गई गुणा वृद्धि हुई है।

1990 के दशक की शुरुआत में इंटरनेट के फैलाव की गति विस्मयकारी एवं ज़बरदस्त रही है। यह सेल्युलर फ़ोन एवं फ़ैक्स मशीनों से कहीं अधिक तेज़ी से फैल रहा है। पिछले वर्ष इंटरनेट के फैलाव की दर 'प्रतिमाह' 20 प्रतिशत थी। TCP/IP से सीधे रूप से जुड़ी 'मेज़बान' मशीनों की संख्या 1988 के बाद से हर साल लगातार दुगुनी होती जा रही है। अब इंटरनेट अपने मूल ढाँचे — यानी सैनिक एवं शोध कार्य क्षेत्र — से बाहर निकल कर प्रारम्भिक एवं उच्च विद्यालयों से लेकर सार्वजनिक पुस्तकालयों एवं वाणिज्यिक क्षेत्र में प्रवेश कर चुका है।

तो प्रश्न यह उठता है कि लोग 'इंटरनेट पर होना' क्यों चाहते हैं? इसका सबसे प्रमुख कारण इसमें निहित आज़ादी है। इंटरनेट सच्चे अर्थों में एक आधुनिक कार्यात्मक अराजकता का एक अद्‌भुत नमूना है। इंटरनेट कोई कम्पनी नहीं है। इसका न कोई आधिकारिक सेंसर है, न मालिक है और न ही निर्देशकों की कोई मण्डली या इस पर पैसा लगाने वाले इसके शेयर धारक। सैद्धांतिक रूप से इसका कोई भी एक नोड या कम्प्यूटर दूसरे किसी कम्प्यूटर से बातचीत कर सकता है, बशर्ते वह TCP/IP प्रोटोकॉल का पालन करता रहे। यह निर्देश राजनैतिक या सामाजिक न होकर पूर्ण रूप से तकनीकी है (हालाँकि इंटरनेट के वाणिज्यिक इस्तेमाल को लेकर इधर कुछ तनातनी चली है, पर यह स्थिति बदल रही है, क्योंकि विभिन्न व्यापारिक प्रतिष्ठानों के अपने संपर्क स्रोत होते हैं)।

इंटरनेट देखा जाए तो एक लाभप्रद सौदा भी है। फ़ोन प्रणाली के विपरीत यह लम्बी दूरी की सेवा के लिए पैसे नहीं मांगता, और अन्य वाणिज्यिक कम्प्यूटर संचार माध्यमों की तरह यह सेवा उपलब्ध कराने के समय की भी क़ीमत नहीं वसूलता। इंटरनेट की स्वयं में कोई आधिकारिक पहचान नहीं है, न ही यह शुद्ध लाभ के लिए चलता है। इंटरनेट को इस्तेमाल करने वाले अनेक समूह अपनी स्वयं की मशीनों एवं इस्तेमाल की जा रही लाइनों की प्रति उत्तरदायी रहते हैं।

इंटरनेट की यह अराजकता हमें विचित्र या अप्राकृतिक लग सकती है परन्तु यदि ग़ौर से देखें तो कुछ मूल बातें साफ़ हो जाती हैं। इसकी तुलना हम अंग्रेज़ी भाषा की अराजकता से भी कर सकते हैं। आज अंग्रेज़ी का न तो कोई मकान-मालिक है और न ही कोई किराएदार। अगर आप अंग्रेज़ी भाषी हैं तो यह आप पर निर्भर करता है कि आप अंग्रेज़ी को कैसे बोलें या लिखें। वैसे सरकारें इस भाषा को पढ़ने और सीखने के लिए कुछ धन भी मुहैया कराती हैं, वरना इसके मैदान में कोई भी आ जाए — खुला खेल फ़र्रूख़ाबादी है — इसमें काम करे और यह कामचलाऊ बन जाती है, मज़ेदार लगने लगती है और यहां तक कि वह लोगों का मन मोह लेती है। यद्यपि कई लोग अंग्रेज़ी का इस्तेमाल कर, या अंग्रेज़ी पढ़ा कर अपनी जीविका चलाते हैं फिर भी अंग्रेज़ी स्वयं में एक ऐसा संस्थान है जो पूर्ण रूप से सार्वजनिक सम्पत्ति है। यही बात इंटरनेट के साथ भी लागू होती है। तो क्या अंग्रेज़ी भाषा इतनी विकसित हो सकती थी, यदि 'अंग्रेज़ी प्राइवेट लिमिटेड' नाम की कोई कम्पनी होती? या इसका कोई मालिक होता? या बोर्ड के सदस्य या अध्यक्ष? यदि ऐसा होता तो अंग्रेज़ी का शब्द भंडार क्षीण होता, अंग्रेज़ी विचारों में धार नहीं होती। ठीक इसी प्रकार इंटरनेट का इस्तेमाल करने वाले लोग इसे अपनी संस्था समझकर इस्तेमाल करते हैं। यह एक ऐसी संस्था है जो इसे संस्थान बनने से रोकती है। तो यह कह लीजिए कि इंटरनेट सभी का है या फिर किसी का भी नहीं!

फिर भी इसके इस्तेमाल करने वाले विभिन्न समूहों का अपना-अपना दावा तो है। व्यापार से जुड़े लोग इंटरनेट को बेहतर आर्थिक नींव प्रदान करना चाहते हैं। सरकारी लोग इंटरनेट के और ज़्यादा नियमन की बात करते हैं, शिक्षा

से जुड़े लोग इसे विशेषकर शोध कार्य के प्रति समर्पित देखना चाहते हैं, तो दूसरी ओर सैनिक समूह इसे जासूसी से बचने का अभेद्य तंत्र बनाना चाहते हैं, वग़ैरह...वग़ैरह।

आज इस संघर्ष के सभी स्रोत समान रूप से परस्पर संतुलन की स्थिति में हैं और अभी तक इंटरनेट समृद्धि की अराजक अवस्था में है। एक समय की बात है जब NSF द्वारा उपलब्ध कराई गई तीव्र गति वाली लाइनों को इंटरनेट की रीढ़ की हड्डी कहा जाता था और इसके मालिक इस पर मालिकाना हक़ जमाते थे पर आज ऐसी रीढ़ की हड्डियाँ कैनाडा, जापान, युरोप और कहाँ-कहाँ नहीं हैं। यहाँ तक कि ऐसे निजी वाणिज्यिक नेटवर्क बन चुके हैं जिनका उद्देश्य व्यापार को बढ़ावा देना है। अब तो निजी रूप से चलाए जा रहे डेस्कटॉप कम्प्यूटर स्वयं भी इंटरनेट नोड बन सकते हैं। आप चाहें तो इन्हें बग़ल में दबाकर घूमफिर सकते हैं और शायद कल को यह आप की कलाई पर बँधने लायक भी हो जाए।

पर लोग इंटरनेट पर करते क्या हैं? मूलतः चार चीज़ें — पत्र व्यवहार, विचार-विमर्श, लम्बी दूरी के कम्प्यूटर-कर्म एवं फ़ाइलों का आदान-प्रदान।

इंटरनेट मेल जो पत्र वाहक e-mail या electronic mail भी कहलाता है, अमेरिकी डाक प्रणाली से कई गुणा तेज़ है। इतना तेज़ कि इंटरनेट का नियमित इस्तेमाल करने वाले पारंपरिक डाक सेवा को 'केंचुआ-डाक' कहते हैं। बहरहाल, ई-मेल कुछ-कुछ फ़ैक्स की तरह है। यह इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट होता है और आपको इसके लिए कोई क़ीमत नहीं चुकानी होती (कम से कम सीधे तौर पर नहीं) तथा यह विश्वव्यापी है। ई-मेल के ज़रिए कई प्रकार के सॉफ़्टवेयर एवं चित्रों को डिजिटल रूप में संकुचित करके प्रेषित किया जाता है। आजकल कई नई प्रकार की मेल प्रणालियाँ बनाई जा रही हैं।

चर्चा समूहों अथवा समाचार समूहों की अपनी अलग ही दुनिया है। समाचारों, वाद-विवाद एवं बहस की इस दुनिया को USENET के नाम से जाना जाता है। देखा जाए तो USENET इंटरनेट से कई मायनों में भिन्न है, या ये कह लें कि USENET एक उमड़ते हुए लोगों का ऐसा समूह है जो ख़बरों के भूखे हैं तथा गप-शप करने के इरादे से इधर-उधर घूम रहे हैं। और इंटरनेट के माध्यम से वे कई सारे निजी ढाबों पर भुनते कबाब का आनन्द ले रहे हैं। USENET इतना भौतिक संचार माध्यम नहीं है जितना कि एक सामाजिक परम्परा का समुच्चय। हर हालत में यह कहना होगा कि इस समय USENET में लगभग 2500 विभिन्न समाचार समूह मौजूद हैं और उनकी चर्चा से हर रोज़ सत्तर लाख (7 million) शब्द कम्प्यूटर पर अंकित किए जाते हैं। स्वाभाविक रूप से USENET पर कम्प्यूटर के विषय में बहुत अधिक चर्चा होती है पर चर्चा में नाना प्रकार के दीगर विषय आते हैं और यह विविधता लगातार बढ़ती जा रही है। USENET कई निःशुल्क इलेक्ट्रॉनिक पत्र-पत्रिकाओं का वितरण भी करता है।

नेट-समाचार एवं ई-मेल दोनों ही व्यापक रूप से उपलब्ध हैं, ख़ुद इंटरनेट तेज़ मुख्यधारा से परे भी। समाचार एवं ई-मेल मात्र साधारण फ़ोन लाइनों के माध्यम से इंटरनेट की उपांतीय शाखाओं जैसे BITnet, UUCP एवं FIDONET द्वारा उपलब्ध हैं, इनमें से UUCP एवं FIDONET सेवाएँ लम्बी दूरी के कम्प्यूटरीकृत फ़ाइलों के आदान-प्रदान में काम आती हैं जिन्हें सीधे-सीधे इंटरनेट द्वारा TCP/IP का इस्तेमाल करके प्राप्त किया जाता है।

लम्बी दूरी का कम्प्यूटर-कर्म अरपानेट की असली प्रेरणा था और अब भी यह एक महत्वपूर्ण सेवा है, विशेषकर एक वर्ग के लिए तो महत्वपूर्ण है ही। प्रोग्रामर दूर बैठे अपने कम्प्यूटरी खाते के माध्यम से ही सारा कामकाज कर लेते हैं, यहां तक कि दोबारा प्रोग्राम भी लिख लेते हैं। वैज्ञानिक सुपर कम्प्यूटरों के माध्यम से हिसाब-किताब तथा दूसरे महाद्वीप में बैठे लोगों से विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। विभिन्न पुस्तकालय इलेक्ट्रॉनिक कार्ड एवं पुस्तक सूची-पत्र निःशुल्क उपलब्ध करा कर लोगों को अपनी मन-पसंद पत्र-पत्रिकाएं एवं किताबें ढूंढने का अवसर प्रदान करते हैं। बड़े-बड़े CD-ROM कैटेलॉग-पत्र इस सेवा के माध्यम से उपलब्ध कराए जा रहे हैं और ऐसे उपयोग के लिए निःशुल्क सॉफ़्टवेयर भी भारी संख्या में उपलब्ध हैं।

फ़ाइल ट्रांस्फ़र के ज़रिए इंटरनेट इस्तेमाल करने वालों को सुदूर स्थित यंत्रों में लिखित (अंकित) प्रोग्रामों को प्राप्त करने में काफ़ी सुविधा होने लगी है। कुछ इंटरनेट कम्प्यूटर, जिनकी संख्या लगभग 2000 है, किसी भी बेनाम

व्यक्ति को इन आंकड़ों को प्राप्त करने में मदद देते हैं। यह कोई हंसी-ठट्ठा नहीं है क्योंकि इस तरह एक सम्पूर्ण किताब इंटरनेट के माध्यम से मिनटों में हस्तांतरित की जा सकती है। आज 1992 में लाखों ऐसी सार्वजनिक फ़ाइलें उपलब्ध हैं जो कोई व्यक्ति प्राप्त कर सकता है और कई लाख ऐसी फ़ाइलें हैं जो वो लोग प्राप्त कर सकते हैं जिनके अपने खाते हों। इंटरनेट फ़ाइलों का हस्तांतरण एक नए प्रकार के प्रकाशन को जन्म दे चुका है जिसके अर्न्तगत पाठक इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से ही किसी किताब की मर्ज़ी मुताबिक़ प्रतियाँ निःशुल्क प्राप्त कर सकते हैं। नए इंटरनेट प्रोग्राम जैसे, Archie, Gopher एवं Wais इस सामग्री के विशाल ज़ख़ीरों का पता लगाने में मदद करते हैं।

यह लाखों भुजाओं वाला, बेताज तानाशाह, अराजक इंटरनेट रोटी में लगे फफूंद की तरह लगातार फैलता जा रहा है। एक साधारण सा कम्प्यूटर, जिसमें पर्याप्त शक्ति हो, इंटरनेट की सुविधा प्राप्त करने में सक्षम है और आज इस की क़ीमत 2000 डालर से भी कम है और ये दुनिया के कोने-कोने में फैले लोगों के हाथों में हैं। ARPA संचार का वह जाल, जिसे परमाणु विध्वंस के पश्चात उजड़े हुए समाज को नियंत्रण में लाने के लिए अभिकल्पित किया गया था, आज उसे ही एक विचित्र से शिशु इंटरनेट ने पूरी तरह दरकिनार कर दिया है। यह अब पूर्णरूपेण उसके नियंत्रण से बाहर हो चुका है तथा दुगुनी-तिगुनी गति से उत्तर शीतयुद्धकालीन इलेक्ट्रॉनिक विश्वव्यापी गाँव के माध्यम से फैलता जा रहा है। '90 के दशक का इंटरनेट का फैलाव 1970 के निजी कम्प्यूटर की तकनीक के फैलाव जैसा ही है, बल्कि यह कह लें कि यह उससे कहीं अधिक तीव्र एवं अधिक महत्त्वपूर्ण भी है। ज़्यादा ज़रूरी बात यह है कि इसने शायद उन निजी कम्प्यूटरों की सस्ती, आसान-सी भण्डारण क्षमता को सही मायनों में नई, भूमंडलीय ऊंचाई तक पहुँचा दिया है।

इंटरनेट का भविष्य उज्जवल है, इंटरनेट का निजीकरण आज एक गर्मागर्म विषय है क्योंकि हर दिन एक नई वाणिज्यिक सूचना सेवा उपलब्ध करने का वायदा किया जाता है। अमेरिकी सरकार इसकी चौंका देने वाली सफलता से काफ़ी प्रसन्न है और इस दिशा में अब भी कार्यरत है। NREN (राष्ट्रीय शोध एवं शिक्षा नेटवर्क) को अमेरिकी कांग्रेस ने 1991 में मंजूरी दी जिसके अंतर्गत 5 वर्ष वाली दो बिलियन डॉलर की इस परियोजना के द्वारा इंटरनेट की रीढ़ की हड्डी को नई दिशा प्रदान करने की चेष्टा की गई। NREN आज उपलब्ध सबसे तीव्रतम संचार जाल व्यवस्था से भी पचास गुणा अधिक तेज़ काम करेगा, अर्थात एक सम्पूर्ण एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का हस्तांतरण एक क्षण में हो जाएगा। समूचे विश्व में फैले इस कम्प्यूटर संजाल द्वारा चल-कम्प्यूटरों पर 3-डी फ़िल्में देखी जा सकेंगी, सेलफ़ोन चलेंगे, रेडियो सुना जा सकेगा, फ़ैक्स भेजा जा सकेगा, आला दर्जे के टेलीविज़न कार्यक्रम देखे जाएंगे — ये चीज़ें एक-दूसरे से जुड़कर सर्कस-सा माहौल पैदा कर देंगी। जी हाँ मल्टी मीडिया का एकविश्वव्यापी सर्कस।

कम से कम उम्मीद तो यही है। अपनी हसरतों और योजनाओं के अनुरूप, भविष्य का इंटरनेट आज से बहुत भिन्न होगा। वैसे, इंटरनेट के इस ज़बरदस्त विकास के पीछे कोई विशेष योजना कभी नहीं रही है, हो भी नहीं सकती थी। आख़िर इंटरनेट RAND के उत्तर विध्वंसक नियंत्रण ग्रिड से किसी भी प्रकार मिलता-जुलता नहीं है। यह एक अच्छी और अनोखी विडम्बना है।

तो इंटरनेट की सुविधा कैसे प्राप्त की जाए? यदि आपके पास कम्प्यूटर या मोडेम नहीं है तो ख़रीद लें। आपका कम्प्यूटर एक टर्मिनल की भांति कार्य करेगा और आप इसे इंटरनेट से जोड़ने के लिए साधारण टेलीफ़ोन लाइन का प्रयोग कर सकते हैं। यह धीरे-धीरे कार्य करने वाली अनुलग्न मशीनों, नेट, समाचार, चर्चा समूह तथा आपके ई-मेल पते को उपलब्ध करा देगा। यह सेवाएं सचमुच प्राप्त करने लायक़ हैं, हालाँकि यदि आप के पास केवल पत्र या 'समाचार' है तो आप सही-सही अर्थों में इंटरनेट से जुड़े नहीं हैं। अगर आप किसी विश्वविद्यालय में अध्ययनरत हैं तो आप का संस्थान उच्च गति वाले TCP/IP Internet से जुड़ा हो सकता है। आप अपने कम्प्यूटर पर एक इंटरनेट खाते के लिए अर्ज़ी दे दें और हो सकता है कि आप लम्बी दूरी वाले कम्प्यूटरीकृत फ़ाइल हस्तांतरण प्रणाली की सेवा प्राप्त कर सकें। कुछ शहर freenet जैसी सामुदायिक पहुँच मुहैया कराते हैं। व्यापार के लिए तो इंटरनेट की बहुत आवश्यकता है और व्यापारी अपने ग्राहकों को इसे बेचने के लिए तत्पर हैं, इस का मानक शुल्क प्रतिमाह 40 डॉलर के लगभग है — लगभग इतनी ही क़ीमत में हम केबल टीवी (Cable TV) प्राप्त करते हैं।

ज्यों-ज्यों नब्बे का दशक बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे इंटरनेट और भी सस्ता एवं आसान होता जाएगा। इसका प्रयोग करना भी सरल हो जाएगा, जो कि एक सुखद समाचार है। Unix के TCP/IP को यूज़रप्रिय बनाने की दिशा में अभी अपार संभावनाएँ हैं। अभी इंटरनेट को सीखना या उसके बारे में पढ़ना समझदारी का कार्य है क्योंकि इस सदी के समाप्त होते ही अपनी बड़ी बहन 'कम्प्यूटर साक्षरता' की तरह 'नेटवर्क साक्षरता' भी आपके जीवन के ताने-बाने में तेज़ी से घुस आएगी।

यह लेख 1993 में प्रकाशित हुआ था।

अनुवादः सारिन

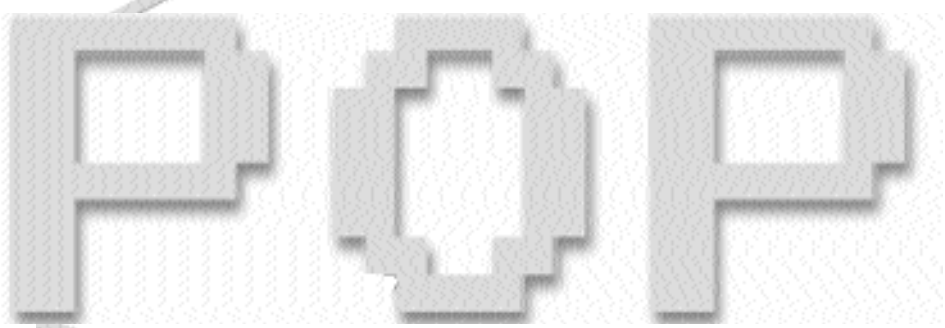

आधुनिकता के पुनर्संस्करण

भारत की दो नंबरी इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति

रवि सुन्दरम

मार्क्स, जिन्हें महज़ एक-दो दशक पहले तक उनकी क़समें खाने वालों ने भी अब भुला दिया है, ने 'एटीन्थ ब्रूमेयर ऑफ़ लुई बोनापार्ट' में विलक्षण व्यंजना के साथ कभी लिखा थाः "बुर्जुआ क्रांतियाँ...तूफ़ानी रफ़्तार से कामयाब होती हैं। उनके नाटकीय प्रभाव एक से बढ़कर एक होते हैं, मनुष्य और चीज़ें एक साथ चमक उठती हैं, उछाह का दैनिक माहौल होता है, लेकिन क्षणभंगुर भी। जल्द ही वे अपने चरम बिन्दु पर पहुंच जाती हैं और इसके पहले कि समाज ठंडे और सुलझे दिमाग़ से उस तूफ़ानी तनाव के दौर के परिणामों को आत्मसात करे उस पर एक लम्बी अवसाद भरी मंदी का ख़ुमार छा जाता है"।

मौजूदा संकट में घिसटते एशिया में उछाह का क्षण बहुत पहले बीत चुका है और 'मन्दी का ख़ुमार' यहां अभी लम्बे समय तक क़ायम रहेगा। पूर्वी एशियाई देशों के ग़रीब बिरादर भारत ने अपनी परंपरागत पश्चिमोन्मुखता का चश्मा लगा कर इस संकट को अनदेखा करने की ख़ूब कोशिश की है। मगर अंततः अब यह संकट दक्षिण एशिया में भी आ पहुंचा है। भारतीय रुपया लुढ़कता जा रहा है। परन्तु इलेक्ट्रॉनिक पूंजीवाद के क्षेत्र में उछाह का माहौल है। सॉफ़्टवेयर स्टॉक 120 फ़ीसदी बढ़ चुके हैं और जल्दी ही सॉफ़्टवेयर भारत का सबसे बड़ा निर्यात होंगे।[1]

एक ऐसे देश में, जहां 40 करोड़ लोग अभी भी पढ़-लिख नहीं सकते, वहां इलेक्ट्रॉनिक पूंजीवाद की फ़तह को लेकर नाना प्रकार की किंवदन्तियां गढ़ी जाने लगी हैं। इनमें से पहली किंवदन्ती विचारधारा का देसी संस्करण है। टेक्नोशाहों और प्रोग्रामिंग के अभिजातों द्वारा फैलाए गए इस भारतीय संस्करण में पश्चिमी आधुनिकता (और प्रगति) तक भारत की पहुँच एक विशाल आभासी ब्रह्मांड में सम्पन्न होगी और उसे ख़ुद 'भारतीयों' द्वारा ही विकसित और प्रोग्राम किया जाएगा। मॉडल यह हैः अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ मिल कर आभासी समय में मौजूद ऐसे टेक्नो नगर विकसित करना जहां बैठकर भारतीय प्रोग्रामर नवोदित वैश्विक तकनीकी पटल पर कम लागत के साधन मुहैया कराएंगे।

अगली किंवदन्ती पहली की प्रतिक्रिया है और उन लोगों के लिए काफ़ी जानी-पहचानी है जो नेट के वैकल्पिक जनपद में जीते हैं। यह किंवदन्ती हमारे देश की पुरानी वामपंथी राजनीति की लम्बी संस्कृति से उपजी है और 1960 के दशक के निर्भरता सिद्धांत पर काफ़ी हद तक आश्रित है। आश्चर्य नहीं कि इस किंवदन्ती की दलील यह है कि आभासी वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत की पैठ असमान विनिमय के परंपरागत ढर्रे पर आधारित है। भारतीय प्रोग्रामर बहुराष्ट्रीय निगमों की समस्याओं का एक अल्प लागत समाधान मुहैया कराता है। भारतीय सॉफ़्टवेयर समाधान वैश्विक आभासी माल की श्रृंखला में उसी तरह सबसे निचले पायदान पर आते हैं जिस तरह 19वीं सदी में मैनचेस्टर के कपड़ा मिलों को कच्चा माल मुहैया कराने वाले दक्षिणी एशिया के किसान आते थे। ये सारी किंवदन्तियां ग़लत भी नहीं हैं, कुछ दूसरों से ज़्यादा 'सही' अवश्य हैं। फलस्वरूप दूसरी किंवदन्ती में किया जाने वाला यह दावा ग़लत नहीं है कि ज़्यादातर भारतीय सॉफ़्टवेयर निर्यात हो रहे हैं और स्थानीय भाषाओं

में बहुत कम चीज़ें ही उपलब्ध हैं (ये विडम्बना नहीं तो और क्या है कि ज़्यादातर बड़े प्रोग्रामों के भारतीय भाषाओं में जो संस्करण बने हैं उन्हें आईबीएम और माइक्रोसॉफ़्ट जैसी कंपनियां ही विकसित कर रही हैं!)।

दूसरी किंवदन्ती के ज़रिए प्रस्तुत किया जा रहा वैकल्पिक दृष्टिकोण ठेठ राष्ट्रवादी है। इसमें भारत पहले अपने घरेलू परिक्षेत्र में ध्यान केंद्रित करेगा और उसके बाद अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाने के लिए बढ़ेगा। एक तरह से देखा जाए तो दोनों ही किंवदन्तियों में परिष्कार की चाह दिखाई देती है। जहां एक तरफ़ पहली किंवदन्ती में वैश्विकवाद की तरफ़ बिल्कुल सहज संक्रमण का आश्वासन दिखाई देता है वहीं दूसरे क़िस्से में एक ऐसा विश्व सामने आता है जो आत्मतुष्ट है। दोनों ही 19वीं सदी में प्रचलित उन अर्थों में विचारधारात्मक हैं जिनसे अब हमें थोड़ी असुविधा महसूस होती है। नीत्शे ने एक बार ग़ुस्से में लिखा था, "ऐसी तमाम परिकल्पनाओं का क्षय हो जो एक सच्चे विश्व में आस्था पैदा करती हैं"।

इसमें कोई शक नहीं कि 'तीसरी दुनिया' के किसी देश के लिए भारत नई टेक्नो-संस्कृति का एक जीवंत नक़्शा प्रस्तुत करता है। ऊपर उल्लिखित दोनों किंवदन्तियों की समस्या यह है कि वे अभी भी भारत में तकनीकी परिक्षेत्र के अभिजात्य दायरे तक ही सीमित हैं। इस दायरे में मोटे तौर पर युवा, उच्च जाति और प्रायः अंग्रेज़ी बोलने वाले प्रोग्रामर दिखाई देते हैं जो विशेष रूप से बंगलोर और हैदराबाद जैसे उदीयमान तकनीकी शहरों के बाशिन्दे हैं। यह एक ऐसी कहानी है जिसे Wired पत्रिका अपने पश्चिमी पाठकों को बड़े चाव से सुनाना चाहती है, परन्तु एक आलोचनात्मक और रचनात्मक अर्थ में ऐसे ज़्यादातर प्रोग्रामर हमारे देश के नेट जनपद के प्रतिपक्षी भावी नागरिक नहीं हैं।

भारतीय परिदृश्य में जो चीज़ अहमियत रखती है वह यह है कि वर्चस्वकारी इलेक्ट्रॉनिक जनपद ने एक युद्धोन्मादी हिंदू राष्ट्रवादी आन्दोलन की सांस्कृतिक राजनैतिक कल्पना के साथ संगति बिठा ली है। भारत में हिंदू राष्ट्रवाद अल्पसंख्यक विरोधी हिंसा और आधुनिकता के काफ़ी समकालीन विमर्श के विस्फोटक मिश्रण का सहारा लेते हुए सत्ता तक पहुंचा है। तेज़ी से बढ़ते शहरों और क़स्बों में मशीनी और इलेक्ट्रॉनिक पुनरुत्पादन के नए-नए रूपों का प्रयोग करते उच्च अभिजातों को यह विमर्श ख़ास तौर से पसंद आया। इस प्रकार सस्ते ऑडियो कैसेट्स का इस्तेमाल करने वालों में सबसे पहले हिंदू राष्ट्रवादी आते हैं जिन्होंने उनका इस्तेमाल मुस्लिम विरोधी संदेशों को फैलाने के लिए किया। बाद में घृणा की साफ़-सुथरी राजनीति को बढ़ावा देने के लिए विशाल वीडियो/दृश्य माध्यमों का प्रयोग किया गया। कुछ शुरुआती वेबसाइट्स भी हिंदू राष्ट्रवादियों ने ही बनाई थीं। और इस पूरे परिदृश्य में अब 19वीं सदी का भयावह हथियार, अणु बम भी जोड़ दिया गया है।

यह एक ऐसी कल्पना है जो आक्रामक, तकनीक पसंद और सायबर अभिजातों के लिए अत्यंत आकर्षक है। भले ही सायबर अभिजातों को अक्सर हिंदू राष्ट्रवादियों के '**राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता**' के शब्दाडम्बर से परेशानी होती हो, परंतु ऐसी भाषा हमेशा अतिराजनैतिक होती है और ज़मीनी हक़ीक़त से उसका ख़ास मतलब नहीं होता।

सायबर अभिजातों की दुनिया से बाहर एक और दुनिया है जो कहीं ज़्यादा ऊर्जावान टेक्नो संस्कृति से मुख़ातिब है। ये दुनिया है रचनात्मकता और अवैधानिकता की, कामचलाऊ खोजों और इलेक्ट्रॉनिक दुनिया में वजूद बनाए रखने की जद्दोजहद की। मगर इससे पहले कि मैं इस दुनिया के बारे में बात शुरु करूं, एक छोटा सा क़िस्सा ख़ुद मेरा भी।

कुछ बरस पहले मैं दक्षिण भारत की एक ट्रेन में सफ़र कर रहा था। इस सफ़र में मेरी मुलाक़ात सेल्वम से हुई। यह 24 वर्षीय नौजवान रेलवे कंपार्टमेंट में बैठा पुरानी कम्प्यूटर पत्रिकाएं पढ़ रहा था। सेल्वम की कहानी विलक्षण है। उसकी कहानी से तकनीकी अभिजातों के दायरे से बाहर की दुनिया पर अच्छी रौशनी पड़ती है। सेल्वम का जन्म दक्षिणी भारत में मंदिरों के शहर मदुरै में हुआ था। उसके पिता वहां कचहरी में मुलाज़िम थे। दस साल स्कूली पढ़ाई करने के बाद सेल्वम ने तरह-तरह की नौकरियां करनी शुरु कर दीं। इसी दौरान उसने एक रात्रि स्कूल में टाइपिंग सीखी और टाइपिस्ट की दुकान पर नौकरी कर ली। यह पहली जगह थी जहां सेल्वम का सामना नई — ठेठ भारतीय शैली की तकनीकी संस्कृति — से हुआ।

1980 के दशक के अन्तिम वर्षों से भारतीय संचार जगत में अनोखे बदलाव आए हैं। इस दौरान देश के विविध भागों में सार्वजनिक टेलीफ़ोन तेज़ी से फैले। इनकी ख़ास बात यह थी कि ये पब्लिक टेलीफ़ोन पश्चिमी देशों या तीसरी दुनिया के बाक़ी हिस्सों में चलने वाले कार्ड आधारित स्वचालित उपकरण नहीं थे बल्कि इन्हें हाड़-माँस के इंसान चलाते हैं। इन्हें पब्लिक कॉल ऑफ़िस (पीसीओ) के नाम से जाना गया। इनके पीछे सोच ये थी कि भारत जैसे अनपढ़ समाज में संचार का काम मनुष्यों की मध्यस्थता से ही अच्छी तरह सम्पन्न किया जा सकता है। इन पीसीओ ऑफ़िसों का इस्तेमाल पढ़े-लिखे और अनपढ़ दोनों करते थे और इन ऑफ़िसों में फ़ैक्स, फ़ोटोकॉपी और टाइपिंग ये सब काम जोड़ दिए जाते थे। चूंकि ये रात भर खुले रहते थे और यहाँ किफ़ायती व व्यक्तिगत ढंग से सेवाएं मुहैया कराई जाती थीं, इसलिए ये पीसीओ देश भर में फैलते चले गए।

सेल्वम की टाइपिंग की दुकान भी ऐसा ही एक पीसीओ थी। सेल्वम एक पुराने 286 कम्प्यूटर पर काम करता था जिसमें वर्डस्टार का एक पुराना संस्करण लगा था। वहां बैठकर वह कचहरी में आने वाले मुवक्किलों, जो अक्सर किसान और बेरोज़गार होते थे, के लिए सरकारी अफ़सरों के नाम औपचारिक पत्र टाइप किया करता था। जल्दी ही सेल्वम ने तरक्क़ी कर ली और वह थोड़ा तेज़ चलने वाले 486 कम्प्यूटर पर काम करने लगा। इस कम्प्यूटर पर आने के बाद वह पुरानी पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर या बस अपने आस-पास के लोगों से पूछताछ कर प्रोग्रामिंग सीख गया। ये भारत के ज़्यादातर हिस्सों में फैले अनौपचारिक तकनीकी ज्ञान की दुनिया है जिसमें सायबर अभिजातों के उच्च-जाति, अंग्रेजी भाषी गढ़ों से बहिष्कृत लोग अपनी क़ाबिलियत को निखारने की जद्दोजहद में लगे रहते हैं।

सेल्वम ने मुझे बताया कि किस तरह मदुरै से कुछ घण्टे की दूरी पर स्थित कपड़ों के शहर कोयंबटूर ने अपना ख़ुद का बीबीएस स्थापित किया। इसके लिए पुराने मोडेमों को इस्तेमाल करके उन्हें देर रात कनेक्ट किया जाता था। पुराने कम्प्यूटर उपकरण भारत की विशाल विनिमय श्रृंखला का एक अभिन्न अंग हैं और इसकी कड़ियां भारत के विभिन्न केंद्रों में होती हैं, परन्तु उसका मुख्य केंद्र दिल्ली ही है।

मुग़ल साम्राज्य के दिनों से ही दिल्ली में ऐसे बाज़ारों का एक लम्बा इतिहास रहा है जहां केवल एक चीज़ की ही ख़रीद-फ़रोख़्त होती है। यहां कई बाज़ार मात्र एक चीज़ बेचते हैं, और यह परंपरा आज तक क़ायम है। दिल्ली में कम्प्यूटर व्यापार का केंद्र नेहरू प्लेस मार्केट है। नेहरू प्लेस कंक्रीट की मटमैली इमारतों का एक अंधेरा, बेरौनक जंगल है। यहां कम्प्यूटर के व्यापार में लगी छोटी-छोटी दुकानों की भरमार है। यहां विशाल कम्पनियों के नुमाइंदे हैं तो जाली सॉफ़्टवेयर बनाने वाले, स्पेयर पार्ट्स का कारोबार करने वाले, इलेक्ट्रॉनिक सामान की तस्करी करने वाले और कम्प्यूटर की दुनिया के हरफ़नमौला भी मौजूद हैं।

वैधानिकता और अवैधानिकता का यह युग्म भारतीय तकनीकी संस्कृति की ख़ासियत है। 1990 के दशक में जब केबल टेलीविज़न क्रांति शुरु हुई तो तमाम केबल ऑपरेटर अवैध थे और उनमें से बहुत सारे आज भी वैसे ही हैं। इस मोटे तौर पर असंगठित, टूटे-फूटे परिदृश्य को देखते हुए भारत में भुगतानशुदा टेलीविज़न का चल पाना असंभव है। ये एक जाली आधुनिकता है, परन्तु एक ऐसी आधुनिकता जिसकी प्रतिसंस्कृति जैसी चीज़ों के बारे में कोई स्पष्ट सोच नहीं है। ये महज़ ज़िंदा रहने की जद्दोजहद है।

कम्प्यूटर व्यापार ने केबल टेलीविज़न की जाली आधुनिकता का अनुसरण किया है। जिस तरह छोटे-छोटे क़स्बों के केबल ऑपरेटर दिल्ली के वॉल्ड सिटी एरिया में स्थित केबल मार्केट से सामान ख़रीदते हैं उसी तरह छोटे-छोटे क़स्बों से आने वाले सेल्वम जैसे लोग कम्प्यूटर के पुर्ज़ों, पुराने कम्प्यूटरों, और दिल्ली में चलन से बाहर जा चुके

पुराने सफ़ेद-स्याह मॉनीटरों और मदर बोर्डों के लिए नेहरू प्लेस पहुंचते हैं।

इस दुनिया की कल्पना दैनंदिन है, इसका व्यवहार फ़र्ज़ी है और रचनात्मकता गतिशील। साथ ही यह एक ऐसी दुनिया भी है जिसे न तो कम्प्यूटर के रिसालों में कभी कोई जगह मिलती है और न सायबर अभिजातों की तकनीकी चर्चाओं में उसका कहीं नाम आता है। पुराने राष्ट्रवादी और वामपंथी इस दुनिया को विस्मय और भय के साथ देखते हैं क्योंकि वहां सरल राष्ट्रवादी समाधान गड्ड-मड्ड हो जाते हैं। आप इसे दोनम्बरी इलेक्ट्रॉनिक आधुनिकता का नाम दे सकते हैं। और यह एक ऐसी कल्पना है जिसे तकनीकी दुनिया के तमाम बड़े विचारधारात्मक खिलाड़ी संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

वैश्विक आभासी ब्रह्मांड के भारतीय हिमायतियों के लिए दोनम्बरी आधुनिकता की अवैधानिकता चिंताजनक और 'अनुत्पादक' है। दोनम्बरी आधुनिकता भारत को डब्ल्यूटीओ के कन्वेंशनों से दूर कर देती है और बहुराष्ट्रीय उत्पादकों को भारत के देसी कम्प्यूटर बाज़ार पर हावी होने से रोकती है। राष्ट्रवादियों के लिए यह आधुनिकता असामान विनिमय और वैश्विक असमानता के पुराने ढर्रों की पुनर्स्थापना ही है। सायबर दुनिया की भाषा में इसका मतलब है पश्चिम के मुक़ाबले कम प्रोसेसिंग क्षमता, कम बैंडविड्थ, और इलेक्ट्रॉनिक उत्पादन की मुख्य प्रक्रियाओं पर नियंत्रण का अभाव।

मेरा अन्दाज़ा है कि पश्चिम में इलेक्ट्रॉनिक अवाँ-गार्द और नेट जनपद के प्रतिपक्षी भारत की इस दोनम्बरी आधुनिकता को देखकर दंग रह जाएंगे। इस दोनम्बरी आधुनिकता की न तो सायबर अभिजातों के बरक्स कोई अपनी हैसियत है और न ही वह कोई स्वपरिभाषित प्रतिपक्षी तेवर अख़्तियार करती है। यह एक ऐसी आधुनिकता है जो अपनी परिभाषा में अस्थिर और चिढ़ाने वाली है। परन्तु यह उन बाशिन्दों की भी दुनिया है जिन्हें इलेक्ट्रॉनिक दायरे से बेदख़ल किया जा चुका है, एक ऐसी दुनिया जिसमें शिकारियों वाली चतुराई और व्यावहारिक बुद्धि काम आती है।

'दोनंबरी' सुनकर शायद आपको लगे कि हम किसी उधार की, अमौलिक आधुनिकता की बात कर रहे हैं। निश्चय ही, मौलिकता ('नएपन' की अनवरत खोज) बॉदलेयरवादी आधुनिकता की गतिशीलता का महान दावा थी। सामाजिक ज़िंदगी तो बिखरती-जुड़ती चलती ही रहती है, पर बॉदलेयरवादी मनुष्य कलात्मक और वैज्ञानिक रचना की आकांक्षा — ईजाद की हसरत — से प्रेरणा लेकर आगे बढ़ता रहता है। हालांकि इस स्वप्न के ज़्यादातर हिस्से तो पिछले कुछ दशकों के दौरान यहां-वहां गिरकर टूट चुके हैं, परन्तु कुछ कमज़ोर से स्पंदन अभी भी सुनाई दे जाते हैं।

यहां इस बात पर ज़ोर देना भी ज़रूरी है कि दोनम्बरी आधुनिकता एक सुविचारित उत्तर-आधुनिक संवेदनशीलता को प्रतिबिंबित नहीं करती। पुनर्संस्करण उत्तरजीविता और रचनात्मकता की रणनीति है और वह भी उन अर्थों में जो नेट और टेक्नो संस्कृति की संरचना और कल्पना की मौजूदा बहसों से पूरी तरह बाहर हैं। जबकि विश्वायनवादी और आभासिकतावादी एक आभासी दुनिया की नई अर्थव्यवस्था के लिए तेज़ी से आगे बढ़ना चाहते हैं और राष्ट्रवादी ख़ेमा राष्ट्रीय इलेक्ट्रॉनिक आत्मनिर्भरता का आह्वान दे रहा है, तब पुनर्संस्करण के अभिकर्ता देश के अदृश्य बाज़ारों में बैठे चुपचाप अपना काम करते रहते हैं।

दरअसल साक्ष्यों को देखा जाए तो यहां तक कहा जा सकता है कि 'आधुनिकता' और रीसाइक्लिंग का संबंध बहुत कमज़ोर है। (कम से कम आज के) रिसाइक्लिंग तौर-तरीक़ों में आधुनिकता की स्वपोषित पारस्परिकता का अभाव है, उसमें साधन-साध्य क्रिया का कोई प्रभाव नहीं है और न ही उसके प्रॉजेक्ट में कोई सामंजस्य दिखता है। यह बात हमारे देश में आधुनिकता की कई ऐतिहासिक विरासतों के विपरीत है। हमारी ऐसी विरासतों में से एक नेहरूवादी विरासत थी। इस आधुनिकता का तकनीकी पक्ष विराट और भविष्योन्मुखी था; वह परियोजनाओं और स्पष्ट दृष्टिकोण के शब्दों में बात करती थी तथा स्पष्ट लक्ष्यों की वकालत करती थी। इस आधुनिकता का सबसे पसंदीदा औज़ार एक संघीय योजना था जिसे सोवियत मॉडल से उधार लिया गया। नेहरूवादी आधुनिकता को भी पिछले समय में हिंदू राष्ट्रवाद से चुनौती दी जाने लगी है। अब वह भी ख़ुद को एक ऐसे आधुनिक के रूप में पेश करना चाहती है जिसमें अधिनायकवादी राज्य तथा हिंदू बहुलवाद के वर्चस्व और गतिशील शहरी उपभोग तंत्र के बीच साफ़ तालमेल है।

पुनर्संस्करण के चलन इस अर्थ में आधुनिक नहीं हैं कि उनकी बुनियाद गतिशीलता पर टिकी है। लेकिन वे रफ़्तार से जूझते ज़रूर हैं। गति इस रीसाइक्लिंग की ध्वनि, दृष्टि और डेटा पर केंद्रित क्रिया का भव्य संदर्भ मुहैया कराती है। यह दोनंबरी आधुनिकता का 'सनातन वर्तमान' (बेंयामिन) है, एक ऐसा वर्तमान जो असहमति के विभिन्न सूचकांकों के ज़रिए ऐतिहासिक रूप से स्थित और मध्यस्थित होता है। 'अब' के समय में गति का अर्थ त्वरा पर केंद्रित प्रयास हैं जिन्हें आंशिक रूप से वैश्विक तकनीकी पूंजी द्वारा भी ठेला जा रहा है। कालिक त्वरा, जिसके बारे में राइनहार्ड कोसेलेक का दावा है कि वह आधुनिकता का एक केंद्रीय पहलू है, रीसाइक्लिंग के व्यवहार और सिद्धांत की गहरी लालसा के बारे में बात करता है। परन्तु यह गति के उपलब्ध उपकरणों के अनुरूपणों का निरंतर परिवर्तनशील ब्रह्मांड है, जिसमें विश्व सूचना महामार्ग वक़्ती इत्तफ़ाक़ भर है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देश में गति के प्रयोग को देखिए जहां नेट तक पहुंच की सहज उपलब्धता और प्रोसेसिंग क्षमता की ख़रीद एक साथ मौजूद नहीं हैं। उन्हें आंशिक रूप से नई तकनीक विकसित करके और आंशिक रूप से वैश्विक इलेक्ट्रॉनिक पूंजी के क़ानूनों को तोड़ते हुए निर्मित करना पड़ेगा।

कम्प्यूटर/नेट उद्योग में रीसाइक्लिंग की सबसे बड़ी सीमा कॉन्टेन्ट या अन्तर्वस्तु है। यह बात भारत के सांस्कृतिक उद्योग के अन्य क्षेत्रों — संगीत एवं सिनेमा — के बिल्कुल विपरीत पड़ती है। लोकप्रिय संगीत के क्षेत्र में जाली संस्कृति ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के वर्चस्व को मुकम्मल तौर पर तोड़ दिया और लोकप्रिय संगीत के ऐसे नए विशाल क्षेत्र खोल दिए जिन्हें बड़ी कंपनियां छूने से भी डरती थीं। अधिकृत म्यूज़िक स्टोरों से कम और आस-पास की पान की दुकानों से ज़्यादा बिकने वाले इन जाली कैसेटों ने भारत को दुनिया के सबसे बड़े संगीत बाज़ारों की क़तार में ला खड़ा किया है। सिनेमा और टेलीविज़न के क्षेत्र में एक विशाल स्थानीय फ़िल्म उद्योग के चलते कॉंटेंट कभी भी समस्या नहीं रहा और इस उद्योग ने हॉलीवुड को मोटे तौर पर अंग्रेज़ीभाषी दर्शकों तक ही सीमित कर दिया।

नेट और कम्प्यूटर पुर्ज़ों के मामले में इस आधुनिकता की इस भारी सीमा की जड़ क्या है? जैसा कि हम देख चुके हैं, रीसाइक्लिंग का चलन कम्प्यूटर को सस्ता और सहज बनाकर कम्प्यूटर संस्कृति को फैलाने में अत्यंत सफल सिद्ध हुआ है। सबसे अहम बात यह है कि रीसाइक्लिंग ने ऐसे हज़ारों-हज़ार लोगों को व्यावहारिक शिक्षा मुहैया कराई जिनके लिए उच्चवर्णीय तकनीकी विश्वविद्यालयों के दरवाज़े बंद हो चुके थे। लेकिन कॉंटेंट बनाने वालों का अभाव क़ायम है। लेकिन, शायद अब नहीं। पिछली बार जब मैं नेहरू प्लेस गया तो वहां मेरी

मुलाक़ात एक युवक से हुई। पूर्वी भारत से आया यह नौजवान लिनक्स से जुड़ी पत्र-पत्रिकाएं ढूंढ रहा था। कुछ बरसों के भीतर माइक्रोसॉफ़्ट वेयर की नक़ल बनाने वाले लोग निश्चय ही अपने खुद के सॉफ़्टवेयर लिखना शुरु कर देंगे।

संक्रमण का सिलसिला: शहर और दोनंबरी आधुनिकता

भारत में विशाल 'जाली' इलेक्ट्रॉनिक परिधि का विकास 1980 और 1990 के दशकों की कई उभरती प्रक्रियाओं का प्रतिबिम्ब है। हालांकि 'वैश्वीकरण' को आमतौर पर इस काल को व्यक्त करने के लिए एक प्रतिनिधि प्रतीक के रूप में पेश किया जाता है, परन्तु हम कह सकते हैं कि दरअसल हमारे 'समकाल' को निर्मित करने में कई जटिल, और अक्सर अनचाहे कारकों का मिला-जुला हाथ रहा है।

सार्वजनिक परिक्षेत्र में वैश्वीकरण के विमर्श प्रायः एक मुख्य संदर्भ बिन्दु के रूप में राज्य और उसकी नियमन व्यवस्था पर केंद्रित प्रतीत होते हैं। हालाँकि राज्य केंद्रित संचय की पुरानी व्यवस्था के नवउदार आलोचकों ने अक्सर सफलतापूर्वक राज्य नियंत्रणों की समाप्ति के लिए दबाव डाला है परन्तु दक्षिण और वाम दोनों पक्षों के आलोचक एक ऐसे राष्ट्रवादी आर्थिक मॉडल की हिमायत करते प्रतीत होते हैं जिसमें नियमन और नियंत्रण राज्य के हाथ में बना रहे।

वस्तुतः भारत में 1990 के दशक का एक सबसे दिलचस्प पहलू यह रहा है कि राज्य दैनंदिन ज़िंदगी से हाथ खींचता चला गया। नेहरूवादी ढांचे में मौजूद नियंत्रणकारी राष्ट्रीय राज्य, जिसे ख़ूब बढ़ा-चढ़ा कर भी पेश किया जाता है, वह ज़मीन पर मौजूद कई दूसरे कारकों के मुक़ाबले कोई ख़ास साक्ष्य नहीं है।

यहां 'दैनंदिन' को स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। मिसाल के तौर पर राज्य वैधानिक हिंसा के साधनों पर कड़ी पकड़ बनाए हुए है और इसने नियमन मॉडल अभी भी समाप्त नहीं होने दिया है। वस्तुतः बुनियादी ढांचे के क्षेत्र में बड़े-बड़े ठेके जारी करने के लिए भ्रष्ट उदारीकरण की व्यवस्था पर इस मॉडल का आरोपण कर दिया गया है।

'दैनंदिन' से मेरी मुराद ऐसे स्थान से है जहां दैनिक उपभोग, गतिशीलता और संघर्ष की अभिव्यक्तियां आकार लेती हैं। यही वह स्थान है जो उपभोग और पहचान के आभिजात्य दायरों पर नज़र डालने की कोशिश कर रहे तकनीकी वैश्वीकरण पर केंद्रित सांस्कृतिक विमर्शों से भी नदारद है।

अतीत में गहरे उतरे बिना, सिर्फ़ 1990 के दशक की बात करें तो बदलाव को समझने के कुछ प्रारंभिक सूत्र पेश किए जा सकते हैं। स्पष्टता के लिहाज़ से यहां मैं अपने तर्क को इलेक्ट्रॉनिक दैनंदिन, यानी फ़ोन, कम्प्यूटर, संचार, टेलीविज़न और संगीत की दुनिया तक ही सीमित रखूंगा।

पहला सूत्र यह है कि यह दैनंदिन एक ख़ास शहरी दायरे में विकसित हुआ है और देश के तेज़ी से फैलते महानगरीय केंद्रों और छोटे शहरों में स्थित है। भारतीय संदर्भ में एक ख़ास भारतीय संस्कृति के विचार में सार्वजनिक सूचकांक का अभाव रहा है, परन्तु इस 'नए' दैनंदिन ने एक तरह से नाना रूपों के आगमन की, हिचक भरी ही सही, घोषणा कर दी है। हम इन रूपों को 'शहरी अनुभव' की संज्ञा के अंतर्गत रख सकते हैं। इस दशक के साक्षी रहे हममें से ज़्यादातर लोग इस बात से नावाक़िफ़ हैं कि भारत में 'शहरी' (अर्बन) का आगमन 1990 के दशक में हुआ। निश्चय ही तीसरी दुनिया के शहर के विविध संकट भी इस 'शहरी अनुभव' में प्रतिबिंबित होते हैं। ये संकट हैं विशाल असमानता, हिंसा, बुनियादी ढाँचे का क्षय और स्वचालित परिवहन पर आधारित आभिजात्य उपनगरों का उदय। इस सबके बीच नए फ़ोन, टेलीविज़न और संचार संस्कृतियों से बात करता एक ऐसा फ़र्ज़ी इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र है जो अवैध अर्थव्यवस्था में नई गतिशीलता और हज़ारों रोज़गार पैदा करता है।

इस दैनंदिन का दूसरा आयाम इसकी सर्वव्यापी अवैधानिकता है। शहरों और क़स्बों में अधिकांश आबादी को तकनीकी सांस्कृतिक सेवाएं मुहैया कराने के स्तर पर काम करते हुए इस दायरे के चरित्रों ने दैनंदिन की ज़िन्दगी पर राज्य के नियंत्रण को पूरी तरह अनदेखा कर दिया है। हज़ारों छोटे-छोटे केबल टेलीविज़न ऑपरेटरों, जाली ऑडियो कैसेट बेचने वाली दुकानों के मालिकों, और अवैध कम्प्यूटर कंपनियों ने अपने कामों को काफ़ी सफलतापूर्वक राज्य

के नियंत्रण और दख़लंदाज़ी से मुक्त कर लिया है। समस्या का एक हिस्सा नई प्रौद्योगिकियों को समझ पाने में विफलता के कारण राज्य की ओर से नियमन मशीनरी को लागू करने की प्रक्रिया का धीमापन रहा है। परन्तु अब जबकि क़ानून आ भी गए हैं, तब भी उसकी सफलता का ग्राफ़ एक जैसा नहीं रहा है और मोटे तौर पर केवल बड़ी कंपनियां ही उसके दायरे में आ पाई हैं।

दैनंदिन का तीसरा पहलू यह है कि दैनिक उपभोग के नेटवर्कों पर उन लोगों का वर्चस्व है जिन्हें पुरानी मार्क्सवादी भाषा में 'छोटे माल उत्पादक' कहा जा सकता है। लेनिन से लेकर संरचनावादियों तक 20वीं सदी का ज़्यादातर मार्क्सवाद समकालीन पूंजीवाद में छोटे माल उत्पादन पुनरुत्पादन के सवाल से जूझता रहा। अक्सर इस क्षेत्र को एक ऐसी सहायक श्रेणी के रूप में देखा जाता है जो पूंजीवादी उत्पादन की मुख्य प्रक्रिया से भिन्न है। एक ऐसा रूप जो 'circulation' में लगा है न कि उत्पादन में। वस्तुतः 1990 के दशक में भारतीय शहरों में इलेक्ट्रॉनिक दैनंदिन के विस्तार में यही, छोटे माल का क्षेत्र महत्वपूर्ण था। इस पर छोटे उद्यमियों का वर्चस्व रहा है और वह अक्सर अपने ख़ास इलाक़े तक केंद्रित रहते हैं। इस क्षेत्र ने अवैध केबल टेलीविज़न नेटवर्क बिछाए हैं, छोटे-छोटे पीसीओ और कम्प्यूटर की दुकानें खोली हैं और संगीत की कैसेटों के छोटे-छोटे केंद्र बनाए हैं। इस फैलाव के साथ स्थानीय इलाक़ों में कई दूसरे हस्तक्षेप भी सामने आएः डेस्कटॉप पर छपे सस्ते पर्चों के ज़रिए इलाक़े में विज्ञापन का चलन फैला और अनौपचारिक ऋण नेटवर्क अस्तित्व में आए, जिसने शहर के ग़रीब इलाक़ों में बिकने वाले ब्लैक एण्ड व्हाइट टेलीविज़न जैसे सस्ते उपभोक्ता सामानों के लिए लोगों को पैसा मुहैया करा दिया।

कई साल पहले, अकादमिक स्टार जगत में चमकने से पहले ज़्यां बॉद्रीला ने *द मिरर ऑफ़ प्रोडक्शन* लिखी थी। यह मार्क्सवादी राजनैतिक अर्थशास्त्र की समालोचना थी। अपनी तमाम दिक़्क़तों, जिनमें से कुछ से बॉद्रीला की प्रस्थापनाओं में बाद में आने वाले बदलावों का संकेत मिलता था, के बावजूद बॉद्रीला की इस कृति ने राजनैतिक अर्थशास्त्र की मार्क्सवादी समालोचना के मनुष्यकेंद्रिता (anthropomorphic core) की तरफ़ इशारा तो कर ही दिया था। मार्क्सवाद में उत्पादन ('भौतिक जगत') पर इतना ज़्यादा ज़ोर दिया गया है कि विनिमय और उपभोग के दायरों की अनदेखी होने लगी। विनिमय को हमेशा एक अभावग्रस्त क्रिया के रूप में देखा गया, एक ऐसा स्थान जहां श्रम शक्ति मूर्त रूप लेती थी और अक्सर 'मिथ्या आवश्यकताओं' को जन्म देती थी। भारतीय संदर्भ में वैश्वीकरण के बहुत सारे आलोचक आभिजात्य उपभोग क्षेत्रों (बरबादी और हिंसा के उनके प्रभावों) पर ध्यान केंद्रित करते हुए उन विराट रूपांतरणों की अनदेखी करने की तरफ़ प्रवृत्त रहे जो शहरों और क़स्बों में दैनिक जीवन में हो रहे थे। सामान्य रूप से उपभोग के प्रति शत्रुता और नैतिक संदेह के शिकार मार्क्सीय (marxisant)/राष्ट्रवादी विरासत के पैरोकारों ने भी इसमें कोई छोटी भूमिका अदा नहीं की।

इलेक्ट्रॉनिक दैनंदिन का अन्तिम पहलू गति के ज़रिए स्थानीय इलाक़े में एक देशकालिक अनुभव की पैठ रहा है। जैसे-जैसे शहरी मुहल्ले फ़ोन की लाइनों, टेलीविज़न और रोज़ाना फैलती पीसीओ/इंटरनेट दुकानों से जुड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे हमें उस चीज़ की झलक मिलने लगती है जिसे पॉल विरिलिओ ने आधुनिकता के उत्तरवर्ती चरण में प्रस्थान-रहित-आगमन की संभावना की संज्ञा दी थी। विरिलिओ का तर्क है कि कालिक अनुभव नए दूरसंचार नेटवर्कों के आगमन के साथ आमूल रूप से बदल चुके हैं। इस संक्रमण में सबसे केंद्रीय भूमिका परिवहन के साधनों के बदलने की रही है। इसलिए विरिलिओ के लिए आधुनिकता में ऑडियो-विज़ुअल माध्यम रेलवे, ऑटोमोबाईल और हवाई जहाज के बाद 'अंतिम वाहन' हैं। इसके अलावा chrono-politics उत्तरोत्तर रूप से भू-राजनीति (geo-politics) के पुराने स्वरूपों का स्थान लेती जा रही है।

विरिलिओ का मॉडल भारतीय संदर्भ में अतिवादी है परन्तु टेक्नो-सांस्कृतिक सघनता के फैलाव के साथ हम शहर में 'स्थानीय' के रूपान्तरण को चिन्हित अवश्य कर सकते हैं। संचार की नई प्रौद्योगिकियों (लाइव टेलीकास्ट, खेल घटनाएं, प्रवासी ग़रीबों द्वारा लम्बी दूरी के लिए फ़ोन का प्रयोग) के ज़रिए समानांतरता के रूपों के सामान्यीकरण के साथ 'इलाक़ा' स्थानिक सुरक्षा के अपने पुराने स्वरूप खो देता है। दूरी का विलोप निश्चय ही गति की महान प्रेरक शक्ति रहा है। हालांकि भारत में मूल रूप से इसकी प्रेरणा टेलीविज़न (यहां हम टेलीविज़न पर हायडेगर की इस टिप्पणी "दूरस्थता की प्रत्येक संभावना के विनाश का चरम बिन्दु" को याद कर सकते हैं) से ही मिली, परन्तु टेलीफ़ोन नेटवर्क का भी इसमें योगदान रहा।

'एशियाई' आधुनिक?

क्या समकालीन आधुनिकता के 'एशियाई' संस्करण का सबसे मूल तत्व दोनंबरी इलेक्ट्रॉनिक संस्कृतियां ही हैं? 'एशिया' निश्चय ही एक हिंसक अमूर्तन है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि यहां हाँगकाँग से लेकर शंघाई तक और सिंगापुर से लेकर दिल्ली तक अवैधानिक इलेक्ट्रॉनिक बाज़ारों की एक लंबी श्रृंखला दिखाई देती है। अवैधानिकता सभी पूर्वी एशियाई कम्प्यूटर संस्कृतियों का एक विशिष्ट पहलू रही है, जिसमें पश्चिमी इलेक्ट्रॉनिक मालों को विश्व, विशेष रूप से तीसरी दुनिया, के बाज़ारों में दोबारा बेचा जा रहा है। भारतीय संदर्भ में अनुकरण की पाबंदी थोड़ी कम रही है; यहां दोनम्बरी संस्कृति के लिए नक़ल अहम नहीं है। अवैधानिक स्थानीय, सांस्कृतिक उत्पाद श्रृंखला, और राज्य के अनचाहे उपहास के उत्सव में घुसे होने से ही 'जाली' की परिभाषा बनती है। यही वह पद्धति है जो ऐसी संभावनाओं के विशाल दरवाज़े खोल देती है, जिनमें से बहुत सारी अभी साकार भी नहीं हुई हैं।

संदर्भ

1. यह लेख 1999 के आख़िर में लिखा गया था, जब डॉट कॉम उन्माद चढ़कर उतर चुका था।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

नेहरू प्लेस

चारदीवारी के भीतर

आईटी उद्योग में काम का निजी तजुर्बा

मृत्युंजय चैटर्जी

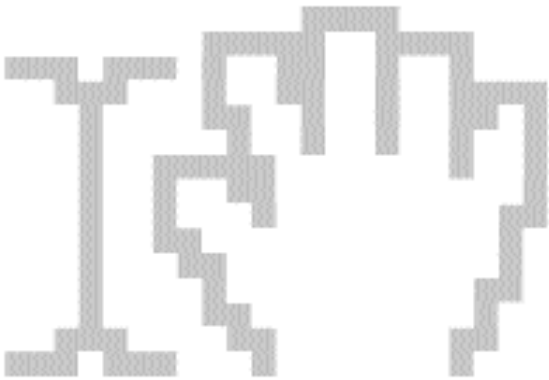

मैंने दो साल तक एक प्रतिष्ठित सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) कम्पनी में काम किया है। अक्सर सुनने को मिलता है कि सूचना प्रौद्योगिकी कम्पनियां तो कामगारों के लिए स्वर्ग-जैसी हैं। सूचना प्रौद्योगिकी से जुड़े किसी भी कार्यस्थल के ब्यौरे में आपको खुदमुख़्तारी, रचनात्मकता, और खेल जैसे अल्फाज़ की भरमार मिलेगी। आख़िरकार, कहा ही जाता है कि कामगारों की ये नई जमात 'स्टेट ऑफ दि आर्ट' माहौल में काम करती है और उसे एयरकंडीशंड माहौल, इंटरनेट के ज़रिए एक दूसरे के साथ बेरोक-टोक जुड़ाव, ई-मेल, संगीत, मुफ़्त कॉफ़ी, चाय और न जाने क्या-क्या आसाइशें हासिल रहती हैं। काम के घंटों को ऐसे बांटा जाता है जिससे कर्मचारी को काम करने में सुविधा रहे और वह रचनात्मक ढंग से काम कर सके वग़ैरह, वग़ैरह।

इस आलेख में मैंने आईटी उद्योग के बारे में किए जाने वाले इन दावों की सच्चाई आंकने की ही कोशिश की है।

काम की प्रक्रिया का ब्यौरा

मैं जिस फ़ैक्ट्री में नौकरी करता था वहां काम कुछ इस ढर्रे पर चलता थाः

1. **उत्पादन शृंखला का पदानुक्रम**

प्रबंधकीय स्टाफ़

- **विभागीय (डिविज़नल) मुखिया:** स्थायी पद प्रबंधक। तमाम क़िस्म के प्रॉजेक्ट्स के लिए ज़िम्मेदार वही होता है।
- **प्रॉजेक्ट लीडर (PL):** स्थायी पद सुपरवाइज़र। प्रॉजेक्ट्स को श्रेणियों में बांट दिया जाता है और हर प्रॉजेक्ट की ज़िम्मेदारी एक ख़ास प्रॉजेक्ट नेता को दे दी जाती है।
- **दल नेता (Group Leader-GL):** स्थायी पद जूनियर सुपरवाइज़र। प्रॉजेक्ट नेता अपने हिस्से की परियोजनाओं को अपने मातहत काम करने वाले दल नेताओं के बीच बांट देते हैं। ये लोग उत्पादकता मानकों के ज़रिए तय किए गए दिशानिर्देशों के हिसाब से प्रॉजेक्ट की समयबद्ध योजना तैयार करते हैं।

ग़ैर-प्रबंधकीय स्टाफ़

- **प्रॉजेक्ट मालिक:** वक़्ती ज़िम्मेदारी — कामगार/श्रमिक/कर्मचारी। प्रत्येक प्रॉजेक्ट को चलाने के लिए दल नेता एक ख़ास कामगार को चुन लेते हैं। प्रॉजेक्ट का क्या हश्र होना है, क़ायदे से ये इसी आदमी पर निर्भर करता है।
- **सहकर्मी (Peers):** वक़्ती ज़िम्मेदारी — सहकर्मी। प्रॉजेक्ट मालिक को प्रॉजेक्ट चलाने के लिए कुछ सहकर्मी मुहैया कराए जाते हैं। कभी-कभी प्रॉजेक्ट मालिक से उम्मीद की जाती है कि पूरे प्रॉजेक्ट को वह अकेला ही चला लेगा और उसे कोई सहकर्मी मुहैया नहीं कराए जाते हैं।

2. परियोजना के दौरान काम का बंटवारा

- **सूचना अन्वेषक (Info-searchers):** ये वे लोग हैं जो संबंधित विषय पर अनुसंधान और खोजबीन करके प्रॉजेक्ट का आधारभूत ख़ाका तैयार करते हैं।
- **निर्देशक डिज़ाइनर (Instructional Designers):** ये लोग सूचना अन्वेषक दल द्वारा तैयार किए गए ख़ाके के आधार पर प्रॉजेक्ट के लिए स्क्रिप्ट तैयार करते हैं।
- **ग्रैफ़िक डिज़ाइनर (Graphic Designer-GD):** ग्रैफ़िक डिज़ाइनर पहले तो स्क्रिप्ट के आधार पर ग्रैफ़िक के बारे में सोचते हैं और फिर ग्रैफ़िक तैयार करते हैं।
- **सर्जक (Constructors):** ये लोग पाठ (text) और तस्वीर को एक दूसरे के साथ जोड़ते हैं। अंतिम उत्पाद की शक्ल इसी से तैयार होती है।
- **परीक्षक (Testers):** जब उत्पाद तैयार हो जाता है तो परीक्षक निर्मित प्रॉजेक्ट की जांच करते हैं कि उसमें कहीं कोई कमी तो नहीं रह गई है।

परीक्षण का काम हर चरण में अलग-अलग भी होता है। मिसाल के तौर पर, जब पटकथा तैयार हो जाती है तो विषयवस्तु विशेषज्ञ (Subject Matter Expert- SME) उसकी और जांच करता है। इसी तरह जब निर्माणकर्ता को देने के लिए कम्प्यूटर पर तस्वीर तैयार कर ली जाती है तो संबंधित टीम का दल नेता एसएमई के साथ मिल कर तस्वीर और सौंदर्यात्मक मानदंडों के लिहाज़ से उसकी समीक्षा करता है।

3. काम का सांगठनिक ढांचा

अंतिम तिथि (Deadline)

उत्पादकता नियमों के हिसाब से उत्पादन के हर चरण की एक ख़ास समयसीमा निर्धारित की जाती है। मसलन, मान लीजिए कि एक दिन में 45 ग्रैफ़िक बनाए जाने वाले हैं। ऐसे में, अगर पूरे प्रॉजेक्ट में कुल 600 ग्रैफ़िक बनने हैं तो ग्रैफ़िक डिज़ाइनर से उम्मीद की जाती है कि वो अपना काम 13.3 दिन के भीतर पूरा कर लेगा। सूचना अन्वेषक से लेकर परीक्षक तक हर किसी को तयशुदा उत्पादकता मानकों का पालन करना होता है। और अंत में पूरे प्रॉजेक्ट की तो एक अंतिम तिथि निर्धारित की ही जाती है।

नुक़्स (Bug) रिपोर्ट और संशोधन

प्रत्येक चरण के परीक्षण के बाद संबंधित कामगार को नुक़्स रिपोर्ट दी जाती है जिसमें उन सब कमियों/दोषों का ब्यौरा दिया रहता है जिन्हें चालू प्रॉजेक्ट की समय सीमा के भीतर दुरुस्त किया जाना है। अंतिम नुक़्स रिपोर्ट प्रॉजेक्ट के पूरा हो चुकने के बाद तैयार की जाती है, इसलिए इस रिपोर्ट के हिसाब से जो बदलाव किए जाने हैं वे लाज़िमी तौर पर अगले प्रॉजेक्ट के लिए तय समय में ही किए जा सकते हैं। मगर ऐसे किसी भी बदलाव के लिए अतिरिक्त समय कभी नहीं दिया जाता है। इसलिए पिछले प्रॉजेक्ट की नुक़्स रिपोर्ट को अमल में लाने और नए प्रॉजेक्ट के क्रियान्वयन का काम हमेशा साथ-साथ ही चलता है। इसलिए इन मरम्मतों के लिए अतिरिक्त दो-तीन घंटे तो एक तरह से अनौपचारिक क़िस्म की अनिवार्यता हैं।

प्रशिक्षण सत्र और बैठकें

प्रॉजेक्ट के दौरान भी अक्सर प्रशिक्षण सत्र और बैठकें होती रहती हैं। पर इन के लिए अलग से कोई समय नहीं दिया जाता है। ये सत्र और बैठकें (ख़ास तौर से बैठकें) आमतौर पर दिन के पहले घंटे में ही बुलाई जाती हैं। इस तरह दिन भर के लिए निर्धारित काम एक सामान्य नौ घंटे वाले कार्यदिवस में पूरा नहीं हो पाता है।

उत्पादकता मानक (Productivity Norms)

किसी प्रॉजेक्ट के उत्पादकता मानक सुपरवाइज़र के निर्देशों पर ही तय होते हैं। नए मानक आमतौर पर इस तरह तय होते हैं: सुपरवाइज़र एक अनौपचारिक बैठक बुलाता है और उसमें ख़त्म हुए काम की मात्रा को लेकर सहकर्मियों के साथ मोलभाव करता है। उसका प्रस्थानबिंदु ये होता है — इस बार का उत्पादन स्तर पिछले साल के उत्पादन स्तर के मुक़ाबले दुगुना नहीं तो कम से कम 'क' गुना अधिक तो अवश्य ही होना चाहिए। मसलन, अगर पिछले साल, हर रोज़ 25 तस्वीरों के फ़्रेम बनाए जाते थे तो इस साल कम से कम 45 ग्रैफ़िक फ़्रेम प्रतिदिन बनाए जाने चाहिएं। इसके बाद दोनों पक्षों के बीच खींचतान शुरु होती है। सुपरवाइज़र अपनी बात आम तौर पर दुगुने या उससे भी ज़्यादा उत्पादकता-स्तर की मांग के साथ शुरु करता है। मगर धीरे-धीरे वह उस स्तर पर राज़ी होने लगता है जिसके लिए उसे उसके ऊपर बैठे अफ़सरों ने हिदायत देकर भेजा है! बिल्कुल वैसी ही सौदेबाज़ी होती है जैसे किसी सब्ज़ी बाज़ार में। चूंकि शुरु में जिस स्तर की मांग की जाती है वह बहुत ऊंचा होता है इसलिए थक और ऊब चुके सहकर्मी उसमें किसी भी हद तक गिरावट पर ख़ुद को ख़ुशकिस्मत मानते हैं और प्रायः ज़्यादा जद्दोजहद नहीं कर पाते।

यहां एक और बात ध्यान रखने वाली है कि गुणवत्ता के लिए होने वाले मोलभाव में दोषहीनता की शर्त पहले ही मनवाई जा चुकी होती है। इसके नीचे जाना अकुशलता की निशानी होती है और उसके लिए दंडित किया जाता है।

डेटा पर कब्ज़ा (Data Capture)

सभी कामगारों से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने काम का विस्तृत रोज़नामचा रखेंगे। ये पूरी प्रक्रिया कम्प्यूटरीकृत होती है और इस प्रकार दर्ज होने वाले सारे डेटा को एक संयुक्त सर्वर में संचित कर दिया जाता है। इसके लिए समय को भी संख्यात्मक ढंग से मापा जाता है। एक घंटा = 1 इकाई और 30 मिनट = 0.5 इकाई। रोज़ाना कम से कम 6 इकाई के बराबर काम होना चाहिए। छमाही और सालाना मूल्यांकन रिपोर्टों की तैयारी में इन आंकड़ों की भूमिका बेहद अहम हो जाती है।

मूल्यांकन

प्रत्येक कामगार के काम का छमाही और सालाना मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यांकन रिपोर्टों में उत्पादकता, गुणवत्ता, डेटा को संभालने, और प्रॉजेक्ट की लेखा रिपोर्ट को ध्यान में रखा जाता है। यदि कोई कामगार इनमें से किसी पैमाने पर पूरी तरह खरा नहीं उतरता है तो उस पर अकुशलता/नाक़ाबिलियत का ठप्पा लगाकर उसे दंडित किया जाता है। नतीजतन, कम से कम उसकी सालाना वेतनवृद्धि पर तो रोक लगा ही दी जाती है।

और अब काम होता कैसे है?

"क्षैतिज सीढ़ियां"

उत्पादन श्रृंखला का पदानुक्रम

यद्यपि काम की पूरी प्रक्रिया में पदानुक्रम (तरतमता), यानी कौन ऊपर है और कौन नीचे, ये बेहद साफ़ ढंग से परिभाषित होता है, पर प्रबंधन लगातार ऐसा दिखावा करता है मानो कम्पनी के भीतर संबंध पूरी तरह पदानुक्रम-मुक्त हों। जैसे वहां सब बराबर ही हों। अलग कमरे का मज़ा सिर्फ़ प्रबंधक को ही मिलता है। प्रॉजेक्ट नेता और दल नेता

वहीं बैठते हैं जहां साधारण कामगार बैठते हैं। मगर उनके बैठने की जगहें ख़ूब सोच-समझकर तय की जाती हैं: या तो यह सुनिश्चित किया जाता है कि उनके मॉनीटर के स्क्रीन कामगारों को न दिखाई पड़ सकें, या फिर उनकी टेबल बाहर जाने के दरवाज़े या सर्वर कक्ष के पास रहें ताकि तमाम कर्मचारियों पर नज़र रखने में आसानी हो।

प्रबंधन स्टाफ इस समताभास को बनाए रखने के लिए अपनी तरफ़ से हर मुमकिन कोशिश करता है। कामगारों और मैनेजमेंट स्टाफ़ की समान सामाजिक पृष्ठभूमि के चलते ऐसा कर पाना बहुत कठिन नहीं होता है। लतीफ़ों, फ़िल्मी गपशप और तकनीकी बहसों के ज़रिए एक सहज दोस्ताना माहौल बनाए रखने की कोशिश हमेशा की जाती है।

पर कई बार वे भी इस ढकोसले से ऊब जाते हैं। ख़ासतौर से प्रॉजेक्ट नेता अपने ओहदे का रुतबा दिखाए बिना नहीं रह पाते और लंच के दौरान थोड़ा 'आराम' फ़रमा ही लेते हैं। हालांकि वैसे तो उम्मीद यही की जाती है कि कामगार और सुपरवाइज़र दोपहर का खाना साथ बैठकर ही खाएं पर दोनों को एक ही मेज पर खाना खाते हुए कम ही देखा जाता है।

फ़र्क़ के दूसरे संकेतक : कारें कामगारों के मुक़ाबले मैनेजमेंट स्टाफ के पास ज़्यादा दिखाई देती हैं। ज़्यादातर कामगार तुलनात्मक रूप से थोड़ा कामचलाऊ कपड़े भी पहनकर आ जाते है, जबकि मैनेजमेंट स्टाफ़ कहीं ज़्यादा औपचारिक कपड़े पहनना पसंद करते हैं। मगर अपने बैग, बैगेज, लंच बॉक्स और पानी की बोतल वग़ैरह से लैस प्रबंधकीय ओहदेदार ऐसे दीखते हैं मानो पूरा घर साथ लेकर चल पड़े हों। फिर अक्सर होने वाली आधिकारिक विदेशी यात्राओं के 'फ़ायदे' सबको सायास सुनाए जाते हैं कि हमारे अलावा हर कहीं कितनी बढ़िया सुविधाएं हैं, वहां कितनी सफ़ाई है और तमाम कर्मचारियों के बीच कितनी एकजुटता और सौहार्द के संबंध हैं।

मेरे एक सहकर्मी ने प्रबंधकीय जीवनशैली पर टिप्पणी करते हुए एक दफ़े कहा था कि "...मेरे एक रिश्तेदार किसी बड़ी कम्पनी में प्रबंधक हैं। उनके परिवार में उनके हर फ़ैसले को सराहा जाता है। यहां तक कि वो गुस्लख़ाने में भी जाते हैं तो घर वाले इतने बैचैन हो जाते हैं मानो देश का प्रधानमंत्री विदेश यात्रा पर जा रहा हो...।"

इन सबके बावजूद, सुपरवाइज़र ये ज़ाहिर करने में कोई कसर नहीं छोड़ते कि वे अपने कामगार की वाक़ई 'चिंता' करते हैं। यहां तक कि वे उनकी निजी समस्याओं में भी दिलचस्पी लेने का दिखावा करते रहते हैं। असल में इससे उन्हें कामगार की हरकतों और गतिविधियों पर नज़दीकी नज़र रखने में आसानी हो जाती है। इस तरीक़े का सबसे ख़ूबसूरत पहलू ये है कि ऐसी स्थिति में कामगार निजी कारणों का हवाला देकर कोई 'बहाना' नहीं बना सकता।

दरअसल, किसी भी संकट के समय वे अपने मातहतों की जमकर खाल खींचते हैं। अगर किसी प्रॉजेक्ट में कोई भी समस्या आती है तो वे समस्या की जड़ फ़ौरन उस प्रॉजेक्ट से जुड़े कामगारों के रवैये में ढूंढते हैं। उनकी पहली सोच यही होती है कि समस्या कामगार की तरफ़ से ही रहती है।

"कामगारों के बीच विभाजन" (Divisions)

प्रॉजेक्ट से जुड़े विभाजन

ज्ञान का पदानुक्रम ख़ुद कामगारों के बीच भी तरतमता बना ही देता है। मिसाल के तौर पर, प्रबंधकों की नज़र में दूसरे कामगारों की वैसी हैसियत नहीं होती जैसी सूचना अन्वेषकों को मिली रहती है। कामगार और प्रबंधन के बीच अंतर्वैयक्तिक संबंधों में कामगार का प्रदर्शन भी अहम भूमिका निभाता है। यही महत्व पढ़ाई और सामाजिक पृष्ठभूमि का है। संपन्न पृष्ठभूमि से आने वाले कामगार अक्सर प्रबंधन के ज़्यादा निकट होते है।

कामगारों को अलग-अलग दर्जों (ग्रेड) में बांटा जाता है। अधिक अनुभवी और बेहतर प्रदर्शन करने वाले कामगारों को ऊंचे दरजे में रखा जाता है। नौसिखिए और धीमे काम करने वालों को सबसे नीचे रखा जाता है। चूंकि वेतन भी ग्रेड पर ही निर्भर करता है, इसलिए काम की जगह पर एक क़िस्म की लगातार तेज़ होती गलाकाट प्रतियोगिता चलती रहती है। ऊंचे और नीचे, दोनों ग्रेड के कामगारों से एकसमान प्रदर्शन की उम्मीद की जाती है जबकि दोनों के बीच वेतन में फ़र्क़ 1:4 तक का होता है।

"व्यवस्था और अनुशासन"

बैठकें और प्रशिक्षण

बैठकें आमतौर पर दिन के पहले घंटे में बुलाई जाती हैं। जैसा कि हमारे सुपरवाइज़र ने एक बार कहा था, ऐसा करने के पीछे मुख्य वजह "वक़्त पर ऑफ़िस पहुंचने की आदत डालना" है। बैठकों के सिलसिले में दो जुमले बड़े अहम होते हैं – "वक़्त पर हाज़िर" और "मुस्तैद रहना"। इसका मतलब है कि 'वक़्त की बचत' करो और 'जो कुछ कहा गया है उसे याद रखो'। बैठक में हर व्यक्ति के पास क़लम और कॉपी ज़रूर होनी चाहिए।

बैठकों में सुपरवाइज़र या प्रबंधक तरह-तरह के सवाल पूछने में कोई कोताही नहीं बरतते। हर बैठक एक गंभीर मानसिक कसरत होती है। बैठकें कम्पनी या विभाग की समस्याओं और प्रदर्शन पर चर्चा करने के लिए बुलाई जाती हैं। कम्पनी की नई नीति की घोषणा बैठक में ही होती है और उस पर सवाल खड़ा करने का हक़ किसी को नहीं होता। उल्टे, तालियों की गड़गड़ाहट के साथ स्वागत की अपेक्षा की जाती है।

यदि कम्पनी पर किसी तरह का 'संकट' हो तो उस पर विचार करने के लिए भी बैठक बुलाई जाती है। ऐसी बैठकों में कामगारों की मदद 'मांगी' जाती है। और ये मदद या तो काम में इज़ाफ़े के रूप में, या फिर कामगारों को मिलने वाली सुविधाओं में कटौती के रूप में सामने आती है।

बैठकें कामगारों के सामने चुनौती खड़ी करने का सबसे बढ़िया मंच हैं। खेल के मैदान के विपरीत, यहां चुनौती लादी जाती है और उन्हें लाज़िमी तौर पर मंज़ूर भी करना होता है। बैठकों में वैसे तो कामगारों से उनकी राय भी ज़रूर मांगी जाती है पर यह व्यापार एक ऐसे नियंत्रित माहौल में चलता है कि 'खुलापन' एक मज़ाक बनकर रह जाता है। प्रबंधक या सुपरवाइज़र की मौजूदगी यह सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त है कि आप कुछ ख़ास बातें तो कर सकते हैं, दीगर बातें नहीं।

अगर कर्मचारियों को कुछ दिक़्क़तें पेश आ रही हैं तो उनके 'बहानों' को समाप्त करने का सबसे बढ़िया तरीक़ा प्रशिक्षण सत्र ही होते हैं। संप्रेषण संबंधी समस्याओं का निपटारा भी यहीं किया जाता है। जो बातचीत में लद्धड़ पाया जाता है उसे यहीं बिठाकर दुरुस्त करते हैं।

कार्यस्थल पर हर व्यक्ति को संपूर्ण उत्पादन प्रक्रिया के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिए। ये बहाना बनाने का हक़ किसी को नहीं होता है कि 'मैं ये नहीं जानता' या 'मुझे इसका पता क्यों हो'। तकनीकी कामगारों को ग़ैर-तकनीकी विषयों का प्रशिक्षण दिया जाता है और ग़ैर-तकनीकी कामगारों को तकनीकी जानकारियों से लैस किया जाता हैं। कई बार इन प्रशिक्षण सत्रों की आड़ में कामगार के संभावित व्यवहार का अंदाज़ा लगाने की कोशिश भी की जाती है। उत्पादन प्रक्रिया के बारे में स्पष्टीकरण या चर्चा के ज़रिए कई बार कामगार ख़ुद भी उत्पादन प्रक्रिया की कमियों को पकड़ने लगते हैं। उन्हें सुझाव देने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और तत्पश्चात सुनिश्चित किया जाता है कि वे कमियां दूर की जाएं। कहते हैं कि प्रबंधन कभी किसी पर ये आरोप नहीं लगाता कि वह काम नहीं करना चाहता, और ये मानकर चला जाता है कि हर कामगार अपनी कम्पनी के प्रति समर्पित है। सारा मामला बस इतना होता है कि वे थोड़ा 'पिछड़' जाते हैं।

अनुशासन और सांगठनिक क़ायदे क़ानूनों को आसानी से मनवाने के लिए कामगारों को कुछ प्रबंधकीय निपुणताओं से भी परिचित कराया जाता हैं। यहां तक कि मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है ताकि 'उत्पादकता के वर्तमान निम्न स्तर' का कारण पाया या बनाया जा सके।

"गड़बड़झाला बाज़ार" (The fishy market)

उत्पादकता मानक

हमारे विभागीय प्रबंधक ने एक दिन – 1997 की बात है – सभी विभागों के कर्मचारियों को बुला कर चीन की कहानी सुनाई। बताया गया कि चीन में बंदूक की नोक पर काम निकलवाया जाता है! और हमारी ख़ुशक़िस्मती रेखांकित की कि यहां वैसा तो नहीं होता। लगे हाथ उसने यह भी साफ़ कर दिया कि उत्पादन को बढ़ाने के कुछ और तरीक़े तो ढूंढने ही पड़ेंगे, क्योंकि हमें चीन को पछाड़ना है।

प्रबंधक उवाच, "तो आइए, हम लंबी छलांगों के महत्वाकांक्षी सपने बुनना शुरु करें, मसलन, 1000 या 2000

प्रतिशत की वृद्धि की सोचें — तभी हम 500 या 750 प्रतिशत की दर हासिल कर पाएंगे।"

इसके बाद उत्पादकता का यह स्तर प्राप्त करने के लिए छोटे-छोटे ग्रुप बनाकर उन्हें पायलट प्रॉजेक्ट विकसित करने का काम सौंप दिया गया। इसके लिए सॉफ़्टवेयर रिसर्च की प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए नए-पुराने तरीक़े का इस्तेमाल सुझाया गया। कुछ रचनात्मक और ऊर्जस्वी कामगारों ने यह 'चुनौती' स्वीकार भी कर ली।

काफ़ी अनुसंधान और प्रयोगों के बाद सभी स्तरों पर एक बड़ी छलांग लगा ली गई। नए सॉफ़्टवेयर विकसित किए गए, उत्पादन प्रक्रिया को नई शक्ल दे दी गई और छुट्टियां कम कर दी गईं, काम के घंटे बढ़ा दिए गए।

पायलट प्रॉजेक्ट में उत्पादकता स्तर 100 से 200 प्रतिशत ऊपर चला गया। निराशा का दिखावा करते हुए प्रबंधन ने इस इज़ाफ़े को पूरी फ़ैक्टरी पर थोप दिया।

1998 की वर्षांत बैठक में ग्रैफ़िक टीम के सदस्यों को बैठक के लिए सम्मेलन कक्ष में बुलाया गया। ये लोग उस समय एक ख़ास प्रॉजेक्ट पर काम कर रहे थे। उन परियोजनाओं के दल नेताओं और ग्रैफ़िक प्रॉजेक्ट नेताओं (जीपीएल — वह सुपरवाइज़र जो विभाग की संपूर्ण ग्रैफ़िक टीम का मुखिया होता है) ने पिछले साल की सफलताओं को लेकर एक प्रेरणास्पद और उत्साहवर्धक भाषण दिया। सफलता के सबूत के तौर पर वे आंकड़े और चार्ट वग़ैरह से लैस होकर आए थे। मगर, भाषण के आखिर में दल नेता ने अगले साल के लिए चुनौती पेश की — "हमें उत्पादन को दुगना करना पड़ेगा।"

इस बार कामगार इतनी 'विकट चुनौती' के लिए तैयार नहीं थे। चुनांचे, उन्होंने 50 प्रतिशत इज़ाफ़े के लिए मोलभाव किया। ग्रैफ़िक प्रॉजेक्ट नेता ने कम्पनी के दूसरे प्रतिस्पर्धियों के बारे में आंकड़े पेश करते हुए इस मांग को ख़ारिज कर दिया। उसने जानकारी दी कि दुनिया के किसी अनजान कोने में कुछ प्रतिस्पर्धी हमारे मुक़ाबले चौथाई लागत पर उत्पादन कर रहे हैं। ऐसे में यदि कम्पनी लागतों में आधी कटौती भी नहीं कर पाती है तो 'अनुबंध टूट भी सकता है'। उसके चेहरे पर ग़ज़ब की संजीदगी थी। कामगारों को धीरे-धीरे मना तो लिया गया पर मानवीय पक्ष पर विचार करते हुए उत्पादकता में केवल 75 प्रतिशत वृद्धि का ही लक्ष्य रखा गया।

कहना न होगा कि इस पूरी प्रक्रिया में तनख़्वाहों पर कभी कोई बात नहीं की गई।

उत्पादकता को तनख़्वाह के साथ कभी नहीं जोड़ा जाता है। इसकी बजाय उत्पादकता में वृद्धि को कम्पनी के ज़िंदा और शिखर पर बने रहने की ज़रूरत के रूप में देखा जाता है। कम्पनी के टॉप पर बने रहने के मंत्र को बार-बार जपा जाता है ताकि उत्पादकता में वृद्धि पर आम सहमति बन जाए। आप जितना ज़्यादा उत्पादन करेंगे, कम्पनी की हैसियत उतनी ही और बढ़ जाएगी!

"....और सौदेबाज़ी"

वार्षिक मूल्यांकन

ये मौक़ा होता है बहानों और औचित्यों का। और निस्संदेह इनकारों का भी।

वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट के दो भाग होते हैं। पहला भाग व्यक्तिगत प्रभावी फ़ीडबैक (इंडिविजुअल इफ़ेक्टिव फ़ीडबैक) का होता है। इस भाग में टीम के सदस्यों को समूहों में बांट दिया जाता है और उनसे उम्मीद की जाती है कि वे एक दूसरे को अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत कराते रहेंगे। एक कम्प्यूटर नेटवर्क के ज़रिए ऐसा किया जाता है। सभी कामगारों को सवालों की एक फ़ेहरिस्त दी जाती है। ये प्रश्न संप्रेषण, सहयोग, प्रदर्शन, सामूहिक गतिविधि आदि उपश्रेणियों में विभाजित होते हैं। प्रत्येक कामगार को हरेक सहकर्मी के लिए प्रत्येक प्रश्न के सामने अंक देने होते हैं। सूची में जीएल और पीएल के नाम भी शामिल होते हैं। इसका मतलब ये हुआ कि कामगारों को अपने सुपरवाइज़रों के बारे में भी अपनी राय देनी होती है।

इस फ़ीडबैक की 'विश्वसनीयता' बनाए रखने के लिए प्रबंधन दावा करता है कि आईईएफ़ को वार्षिक मूल्यांकन में शामिल नहीं किया जाता। मगर हर कर्मचारी जानता है कि ऐसा नहीं है। इसलिए वे बड़े 'रचनात्मक' फ़ीडबैक देने लगते हैं। पर यदि सारे कर्मचारी एक दूसरे को पूरे अंक देने लगें तो फ़ीडबैक फ़ॉर्म को दोबारा भरवाया जाता

है। इससे बचने के लिए कर्मचारी करते क्या हैं कि वे अपने क़रीबी या ऐसे सहकर्मियों को ज़्यादा अंक देते हैं जिनके साथ उनके ताल्लुक़ात दोस्ताना क़िस्म के हों। बदक़िस्मती से, जो कर्मचारी बहुत लोकप्रिय नहीं होते उन्हें इस प्रक्रिया में कई बार काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ता है।

मूल्यांकन के दूसरे चरण में कामगारों और दल नेता के बीच बैठक होती है। इस बिंदु पर कामगार के प्रदर्शन के हर पहलू की बारीकी से जांच की जाती है। यहां उसकी उपलब्धियों (उत्पादकता, गुणवत्ता, अन्य ज़िम्मेदारियों, ऑडिट वग़ैरह) को तीन तरह के ग्रेड या श्रेणियों में रखा जाता है। ये ग्रेड होते हैंः

>M, M-S और S-O (स्तर से नीचे, स्तरीय और स्तर से ऊपर)।

अगर किसी कामगार को ज़ेड ग्रेड मिलता है तो सुपरवाइज़र इस बात की तह में जाने की कोशिश करता है कि उसका प्रदर्शन अपेक्षा से इतना कम क्यों रहा है। अगर उसे M-S मिलता है तो उससे पूछा जाता है कि उसने S-O स्तर का प्रदर्शन क्यों नहीं किया। इसके बाद अगर उसे S-O भी मिल जाता है तो भी उसके सामूहिक व्यवहार, संप्रेषण आदि को लेकर सवाल पूछे जाते हैं।

सामान्यतः कामगार अपनी अकुशलता और ढील-ढाल के लिए 'हल्के-फुल्के बहाने' बनाने की कोशिश करते हैं। स्वास्थ्य, पारिवारिक समस्याओं, ग़लतफ़हमी, ग़लत संप्रेषण आदि को कारण के तौर पर पेश किया जाता है। पर प्रबंधन की नज़र में इन सब स्थितियों की जड़ में असल कारण सदा एक ही रहता है — समर्पण की कमी। इन बैठकों के ज़रिए कामगार के दिमाग़ में ये बात गहरे बैठने लगती है कि मशीनी रुकावटें, शारीरिक सीमाएं, काम का दबाव, वग़ैरह सब फ़िज़ूल के बहाने हैं; कि मसला दरअसल रवैये का है।

इन सत्रों के दौरान कामगार से तरह-तरह के निजी सवाल भी पूछे जाते हैं ताकि वह बैठक में सहज महसूस करे। कामगार से छः पन्ने का फ़ॉर्म भरवाया जाता है जिसमें प्रदर्शन के स्तर, उपलब्धियों और खेद, भविष्य के लिए योजनाओं और महत्वाकांक्षाओं का उल्लेख होता है। इसके अलावा इसमें अगले साल के प्रशिक्षण कार्यक्रम का भी उल्लेख रहता है। साथ ही अगले साल के दौरान प्रदर्शन के स्तर को पुनर्परिभाषित करने की भी चर्चा रहती है। सबसे अहम बात ये है कि यहां कामगार को अपने प्रदर्शन के लिए ग्रेड ख़ुद ही देना होता है। सुपरवाइज़र कथित रूप से कामगार को इसमें सिर्फ़ रास्ता दिखाने भर का काम ही करता है।

हालांकि उत्पादकता हर साल दिन दूनी रात चौगुनी रफ़्तार से बढ़ती रहती है पर तनख़्वाहें वहीं की वहीं रहती हैं। कामगार की उत्पादकता से उनका कोई ताल्लुक़ नहीं रहता। वेतन और उत्पादकता में इज़ाफ़ा दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र रहते हैं। विडंबना है कि जब उत्पादकता-स्तर निर्धारित करने के लिए बैठकें होती हैं तो उनमें कामगारों को 'परिवार के सदस्यों' के रूप में महिमामंडित किया जाता है, पर मूल्यांकन-सत्र के दौरान वही 'कामचोर' मालूम पड़ने लगते हैं।

एक बदक़िस्मत कामगार की स्वीकारोक्ति देखें, "... सूचना अन्वेषक ने ग्रैफ़िक निर्माण समय सारणी तय करते हुए 400 ग्रैफ़िक का आकलन पेश किया पर जब मैंने उन पर काम किया तो मैंने 200 फ्रेम में ही काम ख़त्म कर दिया। इस तरह समय सारणी के हिसाब से तो मुझे 10 दिन मिले थे पर क़ायदे से इस काम के लिए केवल साढ़े पांच दिन ही काफ़ी थे। ये बात मैंने अपने समूह नेता को नहीं बताई। पर मेरे मूल्यांकन-सत्र के दौरान उसने अपने प्रॉजेक्ट नेता से इस बारे में पूरी जानकारी हासिल कर ली और मेरी जमकर खिंचाई की गई। मुझे ज़ेड ग्रेड मिला।"

"इस खेल में आप कभी नहीं जीत सकते। यही दुनिया का शायद अकेला ऐसा खेल है जिसमें सदा आपको हारना ही है।" चार घंटे के मूल्यांकन सत्र के बाद एक और हताश कामगार की टिप्पणी थी।

"मृत्यु जाल"

अंतिम तिथि

अंतिम तिथि पवित्र होती है — ब्रह्मवाक्य की तरह। उसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। यह प्रलय की भविष्यवाणी की तरह गूंजती रहती है।

अगर सर्वर बैठ जाता है, वायरस का हमला हो जाता है, या कोई तकनीकी परेशानी पैदा हो जाती है तो साफ़ है कि कामगार का ही डेटा सबसे पहले नष्ट होगा। मगर इसके लिए भी उसे ही देर तक काम करके उस समय

की दोबारा भरपाई करनी पड़ेगी। अंतिम तिथि का टलना अकल्पनीय है।

अगर कोई कामगार छुट्टी ले लेता है तो इसका मतलब है कि उसके सहकर्मी को दुगनी ज़िम्मेदारी उठानी पड़ेगी। इससे कामगारों के बीच तनाव पैदा होता है और एक घुटनभरी स्थिति पैदा हो जाती है। ऐसा होना लाज़िमी ही है क्योंकि आप अपने सहकर्मी के साथ केवल कुछ पहले से तय छुट्टियों के लिए ही तालमेल बिठा सकते हैं।

प्रबंधन भी अंतिम तिथि को अपने ग्राहकों के साथ होने वाले अनुबंध में शामिल रखता है। बताया जाता है कि अगर अंतिम तारीख़ तक काम पूरा नहीं हो पाया तो कम्पनी को अपने ग्राहक को इसका हर्जाना देना पड़ेगा। और स्वाभाविक है कि ये हर्जाना कामगारों के वेतन पर ही आकर गिरेगा। इसके चलते कामगारों पर बेहद दबाव रहता है। वे हर मुमकिन कोशिश करते हैं कि अपने काम को समय-सीमा के भीतर निपटा लें। किसी भी कामगार की तरफ़ से थोड़ी-सी भी ढिलाई पूरी टीम को संकट में डाल देती है। इसलिए सभी लोग हर समय एक दूसरे पर दबाव बनाए रखते हैं। इस परिस्थिति में सबसे आश्चर्यजनक बात ये है कि अक्सर सुपरवाइज़रों की जगह खुद कामगार ही ले लेते हैं। सुपरवाइज़र महज़ समय-सारणी तय करके ही छुट्टी पा लेते हैं।

"नुक़्स" **(Bugs)**

नुक़्स रपट

"हमारे मरने के बाद नुक़्स रूपी कीड़े हमारे ताबूत में आ जमते हैं और हमारी लाशों पर दावत उड़ाते हैं"

प्रत्येक प्रॉजेक्ट में परीक्षण के कम से कम तीन से चार चरण होते हैं। इनमें से कुछ आंतरिक और कुछ बाहरी होते हैं। सबसे पहले परीक्षण विषयवस्तु विशेषज्ञ (एसएमई) द्वारा किए जाते हैं। इसके बाद ग्राहक द्वारा दिए गए दिशानिर्देशों के आधार पर परीक्षक प्रॉजेक्ट की जांच करते हैं। जब आंतरिक परीक्षक शुरुआती चरण में उत्पाद को पास कर देते हैं तो उसे ग्राहक के पास भेज दिया जाता है जो उसकी बारीकी से जांच-पड़ताल करते हैं। इसके बाद अगला चरण शुरु होता है। कई बार ये अगला चरण ग्राहक की रिपोर्ट आने से भी पहले ही शुरु हो जाता है। ऐसा समय के दबाव में किया जाता है। जब प्रॉजेक्ट पूरा हो जाता है तो आंतरिक स्तर पर ही तीन बार उसकी जांच की जाती है और उसके बाद ही उसे ग्राहक के पास भेजा जाता है। इसके बाद ग्राहक अंतिम उत्पाद की एक बार फिर जांच करता/करती है और अगर उसे उसमें कोई कमी नज़र आती है तो हरेक कमी के लिए कम्पनी को दंडित किया जाता है। इसका मतलब यह है कि यहां तक आते-आते प्रॉजेक्ट त्रुटिमुक्त हो गया है।

इन तमाम जांच बिंदुओं के बाद कामगार को परीक्षण रिपोर्टों की एक मोटी सूची मिल चुकी होती है। ये रिपोर्टें ही त्रुटि रपट या बग रपट कहलाती हैं। इनमें बताई गई तमाम त्रुटियों को पहले से चालू प्रॉजेक्ट के साथ-साथ दुरुस्त करना होता है। अक्सर ऐसा होता है कि त्रुटि रपटें कामगार के पास व्यवस्थित ढंग से नहीं पहुंच पाती हैं। निर्माण समय सीमा को पूरा करने के लिए परीक्षण का काम भी पटकथा लेखन (स्क्रिप्टिंग) और ग्रैफ़िक निर्माण के साथ ही चलता है। जैसे ही एक भाग पूरा हो जाता है उसे परीक्षण के लिए भेज दिया जाता है और जब दूसरा भाग निर्माण के चरण में होता है तभी पिछले भाग की रपट आ जाती है। पहले दौर के परीक्षण के समय बदलाव की 60 से 70 प्रतिशत गुंजाइश रहती है। इस तरह काम का बोझ क़ायदे से दुगुना हो जाता है। और अंतिम भाग के ख़त्म होने तक त्रुटि रिपोर्टों का इतना बड़ा ढेर लग चुका होता है कि उनके लिए एक नई प्रॉजेक्ट समय-सारणी की ज़रूरत होती है।

मगर इन रपटों में बताई गई कमियों को दूर करने के लिए कोई अतिरिक्त समय नहीं दिया जाता है। प्रॉजेक्ट की समय सारणी में त्रुटि रपट और उसके मुताबिक़ किए जाने वाले बदलावों के लिए अलग से समय का कोई प्रावधान नहीं किया जाता है। इन सब चीज़ों को भी उसी समय सीमा के भीतर पूरा करना होता है। सच्चाई यह है कि ऐसी परिस्थितियों में कामगार किसी भी उत्पादकता मानक में निर्धारित स्तर से कहीं अधिक काम करते हैं।

इन सब चीज़ों का नतीजा ये होता है कि कामगारों को ज़्यादा घंटों तक काम करना पड़ता है, रात में देर तक रुकना पड़ता है और छुट्टियों से हाथ धोना पड़ता है।

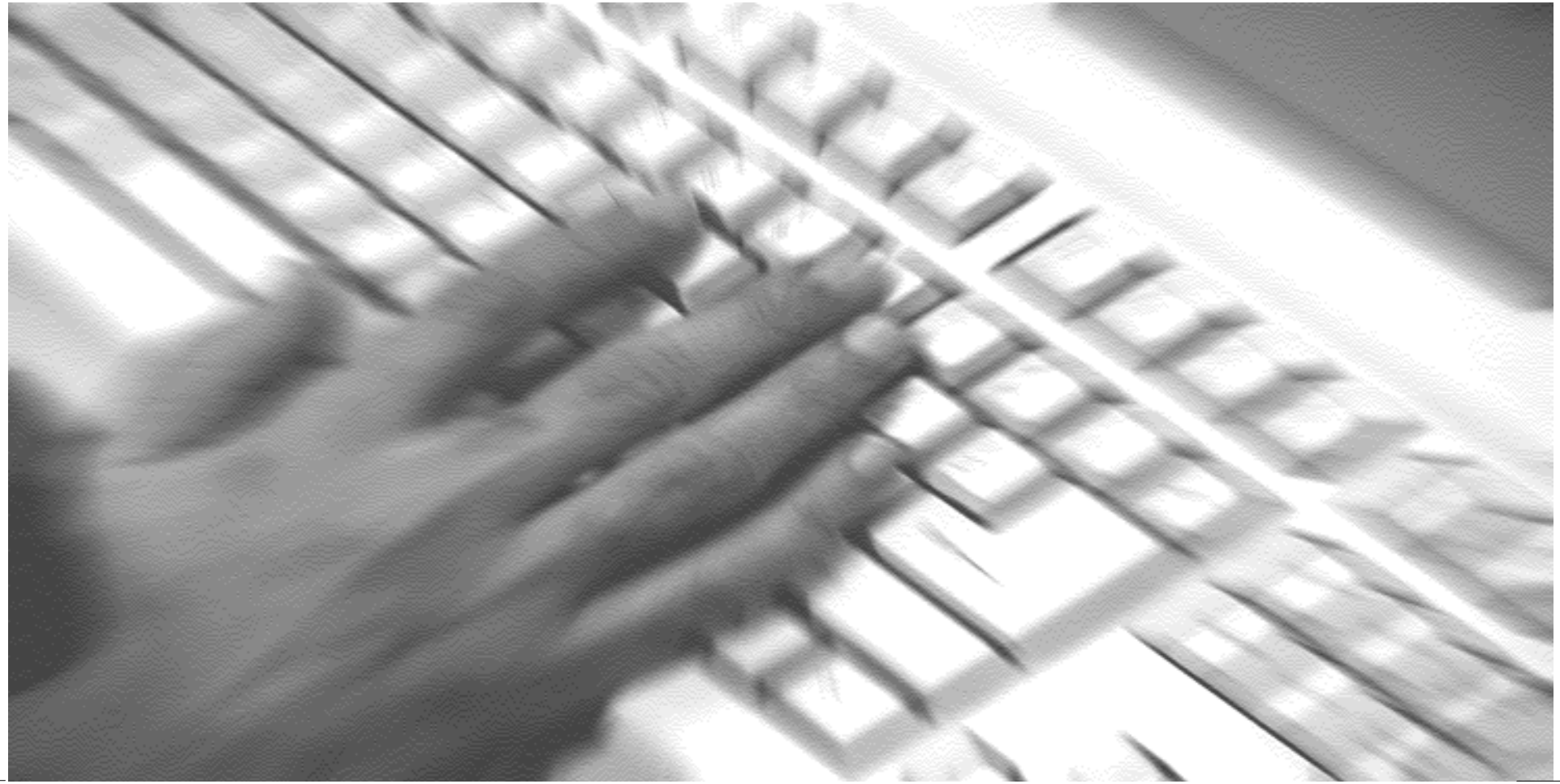

"आत्मा की क़ैद"

डेटा पर क़ब्ज़ा

स्वचालित निगरानी

यद्यपि कार्यदिवस सुबह 9 बजे से शाम 6 बजे तक ही होता है, यानी कुल नौ घंटे, मगर देर रात तक रुकने और कई बार लंच के दौरान भी काम के हालात में यह दस से बारह घंटे तक खिंच जाता है।

प्रत्येक कामगार का दैनिक उत्पादकता डेटा तैयार करने के लिए कम्प्यूटर नेटवर्क के ज़रिए एक डेटाबेस बनाया जाता है। इस मक़सद के लिए जिस सॉफ़्टवेयर का इस्तेमाल किया जाता है उसमें प्रॉजेक्ट कोड, काम की क़िस्म, डिलिवरी विकल्पों आदि के बारे में सूचनाएं पहले से ही मौजूद रहती हैं और कामगार को उसमें किसी ख़ास काम को पूरा करने के लिए जो वक़्त लगा था, उसे भरना होता है। यहां तक कि चाय और लंच ब्रेक भी इस सॉफ़्टवेयर में पहले से निर्धारित रहते हैं। इस सॉफ़्टवेयर में जाने के बाद डेटा को बदला नहीं जा सकता है।

शुरुआत में ज़्यादातर कामगार डेटा पर इस क़ब्ज़े से बचने की कोशिश करते थे। मगर जल्दी ही इसे अनिवार्य बना दिया गया। प्रबंधन का दावा सामान्यतः यही होता है कि इस डेटा का उनके मूल्यांकन से कोई ताल्लुक़ नहीं होता है और वे इसका इस्तेमाल केवल भावी परियोजनाओं और समय सीमाओं के निर्धारण के लिए करते हैं ताकि अपने ग्राहक को ज़्यादा सटीक समय सीमा बता सकें। मगर हर कामगार बख़ूबी जानता है कि जब मूल्यांकन का वक़्त आएगा तो ये डेटा भी प्रबंधन के हाथों में एक हथियार बन जाएगा।

यहां मैंने यह बताने की कोशिश की है कि उन दो सालों में मेरे शरीर और मस्तिष्क पर किस तरह नियंत्रण क़ायम किया जाता था। मगर अभी भी मैंने उस दौरान मुझ पर हुए दूसरे 'अदृश्य' प्रभावों की तो चर्चा तक नहीं की है। मेरे वजूद ने उत्पादकता की लगातार बढ़ती रफ़्तार की कैसी मार झेली है। कीबोर्ड और माउस के साथ घंटों तक होने वाली जद्दोजहद ने मुझे स्पॉंडिलाइटिस और आर्थराइटिक समस्याओं से ग्रस्त कर दिया। मेरी पीठ, मेरी उंगलियों के पोरों और मेरी गर्दन — सब पर बुरा असर पड़ा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रबंधन को इन सब नतीजों के बारे में ख़ूब पता था। इसीलिए, वे ई-मेल और ग्राफ़िती के ज़रिए स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के बारे में बताते रहते थे। यहां तक कि हमारी शारीरिक क्षमता को बढ़ाने के लिए एरॉबिक व्यायाम भी करवाए गए थे।

मगर सबसे बड़ी त्रासदी तो संगीत के साथ मेरा मौजूदा लगाव है। चूंकि संगीत से काम की रफ़्तार बढ़ जाती है और निरंतर टाइपिंग और पंचिंग की एकरसता कम हो जाती है इसलिए यह संयोग एक आदत सी हो गई। अब यह बिल्कुल ग़ैरमुमकिन है कि मैं संगीत सुनूं और सामने के काल्पनिक की-बोर्ड पर संगत न दूं।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

हिन्दी वेब जगतः भविष्य का इतिहास

रविकान्त

मैं समुझ्यो निरधार, यह जग काचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखिए तहाँ।।

- बिहारी

वैसे तो मानवीय भाषा का कम्प्यूटर की आंकिक (0, 1) भाषा से कोई नैसर्गिक संबंध नहीं है, लेकिन जिन भाषाओं में इंसान और कम्प्यूटर के बीच बातचीत हो सकती है, उनकी विविधता में ही उसका सौंदर्य भी है और तमाम तरह की तकनीकी परेशानियाँ भी। इसी दीवान में छपे अपने लेख में ब्रूस स्टर्लिंग ने नेट की तुलना अंग्रेज़ी भाषा से की है, जो इस अर्थ में बिल्कुल सटीक है कि जैसे अंग्रेज़ी का कोई मालिक, पहरेदार या ठेकेदार नहीं है, उसी तरह नेट भी बहते नीर की तरह है — स्वतंत्र और अबाध। लेकिन एक और अर्थ में, चूँकि कम्प्यूटर की मातृभाषा अंग्रेज़ी है (लिहाज़ा, नेट और वेब की भी), यह तुलना थोड़ी चिढ़ानेवाली लग सकती है। 'डिजिटल डिवाइड' की बात करते हुए कम्प्यूटर, फ़ोन, मोडेम और बैंडविड्थ ख़रीदने की औक़ात के मुताल्लिक़ समाजों की अमीरी-ग़रीबी की चर्चा तो आम है लेकिन भाषाई अक्षमता भी इस खाई का एक अनिवार्य पक्ष है, इस पर प्रायः चर्चा नहीं होती। अभी भी नेट का ज़्यादातर कारोबार इसकी मूलभाषा अंग्रेज़ी में ही होता है। परंतु, नेट एक अंतर्राष्ट्रीय जन माध्यम भी है इसलिए इस पर किसी भाषाविशेष का एकाधिपत्य बना रहना असंभव-सा है। धीरे-धीरे लोगों ने कम्प्यूटर की भाषा को स्थानीयकृत करना शुरु कर दिया है और जगत जोड़ता जाल (वर्ल्ड वाइब वेब) अब ढेर सारी भाषाओं में आबाद है। यह सब कहना बहुत आसान लगता है, और चूँकि अब वेब पर हिन्दी की एक उपस्थिति है, कुछ अंतर्वस्तु आ गई है तो मैं यह लेख लिख पा रहा हूँ। लेकिन अंग्रेज़ीतर भाषाओं में कम्प्यूटिंग की कहानी एक लंबे संघर्ष की अलग और असमाप्त दास्तान है ('लंबा' शब्द मैं इशारतन ही इस्तेमाल कर रहा हूँ — पिछले एक-दो दशक के छोटे-से इतिहास में क्या छोटा, क्या लंबा!)। बहरहाल, यह लेख उस छोटे-से लंबे इतिहास के हर पहलू में न जाकर हिन्दी की हालिया और अभी एक बौनी-सी वेब-उपस्थिति का एक संक्षिप्त लेखा-जोखा है। इस बड़ी तेज़ी से बदलते और फैलते जनपद में अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी की हालत के प्रति मैं आशान्वित हूँ। बल्कि अगर मौजूदा दौर में इसकी ताज़गी, दरियादिली और आज़ाद तबीयत पर भरोसा रखें तो आसार इस बात के हैं कि इसके मिज़ाज और तेवर बुनियादी तौर पर बदलने वाले हैं। लेकिन शुरुआत उस जद्दोजहद की कहानी से जिससे यह अभी भी पूरी तरह उबर नहीं पाई है।

कम्प्यूटर तभी वाक़ई जादुई मशीन बनता है जब आप इसकी तमाम क्षमताओं का इस्तेमाल कर सकें। जहाँ एक ओर अंग्रेज़ी और मशीन में जैसे एक नैसर्गिक संबंध है, वहीं हिन्दी को कम्प्यूटर दूसरे लोक की भाषा समझता है।

यह सही है कि हम अब टाइप कर लेते हैं, ईमेल कर लेते हैं, दस्तावेज़ों की नक़ल कर सकते हैं, लेकिन यह सब अब भी एक पराये-से डिजिटल माहौल में होता है। आपके फ़ाइल व फ़ोल्डर के नाम, उनको बनाने से लेकर संजोने तक के सारे कमांड अंग्रेज़ी में ही हैं। वेबसाइट भी बना और नेट पर झुला ली जाती है, लेकिन ये वेबसाइटें दरअसल ऐसी छोटी दुकानें हैं, जिनमें माल की विविधता के साथ-साथ लिपियों की विविधता भी है। अब कल्पना कीजिये कि चंद ज़रूरियात ख़रीदने आप बाज़ार गये हैं और हर दुकानदार आपसे अलग तरह की मुद्रा की फ़रमाइश करे। हिन्दी के अधिकांश कंप्युलिपियों की हालत यही है। इनमें आपसी बातचीत नहीं होती यानी बायीं जेब का पैसा दायीं जेब में नहीं रख सकते। नतीजतन, हर दुकान पर जाने से पहले आप दरवाज़े पर ही नई मुद्रा भंजा लें, अर्थात नई लिपि उतारें तो आगे कुछ बूझ पड़ेगा। ई-मेल के साथ भी वहीं दिक़्क़त हैः 'रीडिफ़' का लिप्यंकण 'वेबदुनिया' नहीं पढ़ेगा, 'मेलजोल' का 'अपनामेल' नहीं। भेज लीजिए चिट्ठी, घूम लीजिए वेब पर, कर लीजिये सर्फिंग! इन दुश्वारियों को कम्प्यूटर की शब्दावली में स्टैंडर्डाइज़ेशन की कमी कहेंगे।

दुनिया भर में मुद्राओं की तरह फ़ॉन्ट के स्तरीकरण में सरकारों की भूमिका अहम रही है। कुछ प्रयास हमारे यहाँ भी हुए हैं लेकिन कुछ इस अंदाज़ में कि कोई उन्हें मानता ही नहीं। यानी समाधान है भी लेकिन नहीं भी। सी-डैक (C-DAC) ने बहुत सारा जन-संसाधन ख़र्च करके कुछ लिपियाँ बनाईं और 'आई-लीप' नामक एक सॉफ़्टवेयर बनाया जो सिर्फ़ भारत के सरकारी दफ़्तरों की शोभा बढ़ाता रहा। सरकार को उसपर भी पैसे कमाने की सूझी जो उसकी अनगढ़ता की कोढ़ में खाज की तरह साबित हुआ। पर आम लोगों ने लिपि को ख़ारिज करके अनौपचारिक या 'चुराये हुए' सॉफ़्टवेयर पर 'चुराई हुई' लिपियों के सहारे अपना काम करना और करवाना ज़्यादा श्रेयस्कर समझा। अब जाकर श्रीलिपि जैसी चीज़ें मुफ़्त उपलब्ध करायी जा रही हैं, जबकि उनका ज़माना लद गया है। इस तरह मॉड्युलर इन्फ़ोटेक के द्वारा गढ़े गये हाल के बहुभाषी सॉफ़्टवेयरों की नियति भी सरकारी अहातों में ही सड़ जाने की लगती है, ठीक उसी तरह जिस तरह नौकरशाही टकसालों में ढाले गए शब्द ऑफ़िसिया अल्मारियों में बंद शब्दकोशों में ही दम तोड़ देते हैं। भाषा प्रौद्योगिकी विभाग के तकनीकी अनुवाद वाले 'शब्दिका' प्रॉजेक्ट की दयनीय और अपठनीय हालत देखकर तो यही लगता है कि इतिहास से सीखना हमारी फ़ितरत नहीं है। वैसे ग़ुमान ख़ूब पालते हैं, वर्ना टीडीआइएल की साइट पर *कठोपनिषद* का नचिकेता हमें क्यों उपदेश पिलाता होता?

वैसे, सियापा भी हमारा संस्कार क्यों हो? शुक्र है कि नेट सिर्फ़ सरकार के हाथ में नहीं है। वाहियात सरकारी समाधानों से अलग लोगों ने ज़रूरत के मुताबिक़ कुछ अपने हल ढूँढ़े हैं। साथ ही देश के एक प्रसिद्ध निर्यात अर्थात विदेश में बसे देसी इंजिनियरों ने कुछ तरक़ीबें कर के 90 के दशक में कुछ कामचलाऊ लेकिन महत्वपूर्ण पैकेज बनाए। आई-ट्रांस, जेट्रांस, आईराइट32 जैसी तरक़ीबों से लिप्यंतर संभव हो गया। यानी कि अंग्रेज़ी के कुंजीपट का इस्तेमाल कर हिन्दी की ध्वन्यात्मक प्रकृति का फ़ायदा उठाते हुए, कम्प्यूटर पर लिखना संभव हो सका। कुछ लोगों ने भारतभाषा की शुषा लिपि को लेकर अच्छी-अच्छी वेबसाइटें भी बनाईं। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि इन तमाम प्रोग्रामरों की पकड़ कम्प्यूटर और अंग्रेज़ी दोनों पर काफ़ी मज़बूत थी। आज भी विदेशों में बननेवाली ज़्यादातर साइटें शुषा पर ही चलती हैं और क्या ख़ूब चलती हैं। ये साइटें हिन्दी के प्रति मोहब्बत से प्रेरित तो हैं, लेकिन इनमें हिन्दीत्ववादी कटुता और जड़ता नहीं है। एक खुलापन है, हिन्दी के छूट गये जनपदों को पुनर्प्रतिष्ठित करने की लालसा है। इस खुले आकाश के नीचे हिन्दी को एक ही साँस में 'किसानों, विद्वानों और गानों की भाषा' कहा गया है। आई-ट्रांस गीत संग्रह (song book) पर संदर्भ सहित फ़िल्मी गीतों का विशाल संकलन है। साहित्य की बात करें तो अमीर ख़ुसरो से लेकर अंशुमान अवस्थी तक फैली इस समृद्ध परंपरा में सबके लिए जगह हैः यहाँ भेदभाव की न तो इच्छा है, न ही अवकाश। नेट की दुनिया सच्चे अर्थों में बहुभाषी है। एक साधु-समाज है, जहाँ शब्दों, भाषाओं और रचनाकारों से उनकी जात नहीं पूछी जाती। अगर कुछ लोग पूछते भी हैं तो भलमनसाहत में सीखने-जानने के ख़याल से, अगर किसी और नीयत से पूछते हैं तो उनकी नीयत में खोट है, यह भी बता दिया जाता है। शास्त्रीय शुचिता का वह चिरपरिचित विश्वविद्यालयी आग्रह नहीं है जो हिन्दी और उर्दू को अलहदा ज़बान माने। उदाहरण के लिए प्रोफ़ेसर मलय की साइट 'अमर हिन्दी लेखकों-कवियों' की सूची में एक साथ निराला और ग़ालिब, सिद्ध कवियों के साथ वली दक्कनी, बच्चन के साथ फ़ैज़ और भगत सिंह के आजू-बाजू जावेद अख़्तर के लिंक मिल जाते हैं। यहाँ *पृथ्वीराज रासो* है तो *मधुशाला* भी, महादेवी वर्मा हैं तो काका हाथरसी भी। इनमें से ज़्यादातर अंतर्वस्तु

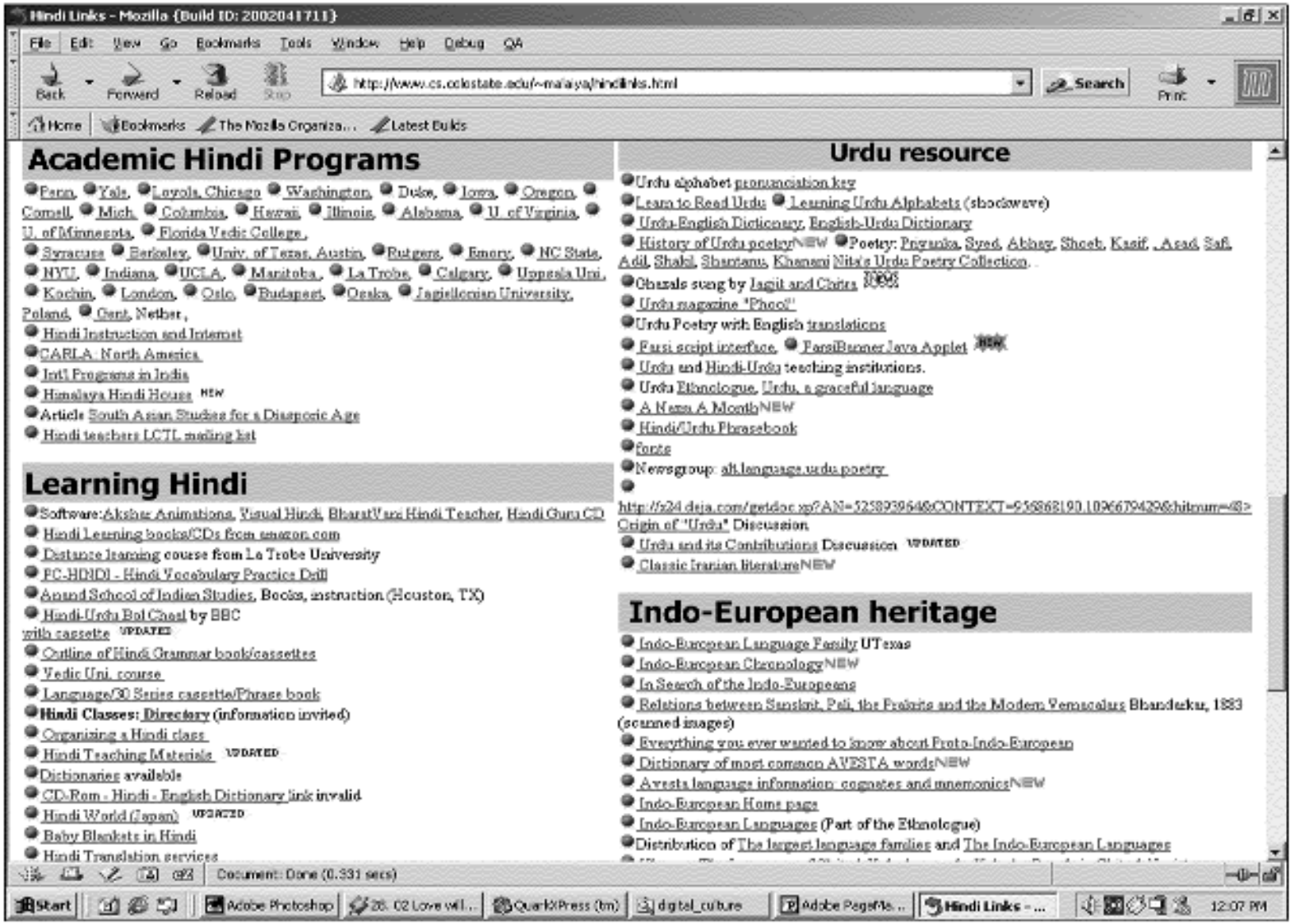
Hindi Links - Mozilla {Build ID: 2002041711}
File Edit View Go Bookmarks Tools Window Help Debug QA
Back Forward Reload Stop
http://www.cs.colostate.edu/~malaya/hindilnks.html
Search Print
Home Bookmarks The Mozilla Organiza... Latest Builds
Academic Hindi Programs
Penn, Yale, Loyola, Chicago, Washington, Duke, Iowa, Oregon, Cornell, Mich, Columbia, Hawaii, Illinois, Alabama, U. of Virginia, U. of Minnesota, Florida Vedic College,
Syracuse, Berkeley, Univ. of Texas, Austin, Rutgers, Emory, NC State, NYU, Indiana, UCLA, Manitoba, La Trobe, Calgary, Uppsala Uni, Kochin, London, Oslo, Budapest, Oeska, Jagiellonian University, Poland, Gent, Nether,
Hindi Instruction and Internet
CARLA: North America
Int'l Programs in India
Himalaya Hindi House NEW
Article South Asian Studies for a Diasporic Age
Hindi teachers LCTL mailing list
Learning Hindi
Software: Akshar Animations, Visual Hindi, BharatVani Hindi Teacher, Hindi Guru CD
Hindi Learning books/CDs from amazon.com
Distance learning course from La Trobe University
PC-HINDI - Hindi Vocabulary Practice Drill
Anand School of Indian Studies, Books, instruction (Houston, TX)
Hindi-Urdu Bol Chaal by BBC with cassette UPDATED
Outline of Hindi Grammar book/cassettes
Vedic Uni. course
Language/30 Series cassette/Phrase book
Hindi Classes: Directory (information invited)
Organizing a Hindi class
Hindi Teaching Materials UPDATED
Dictionaries available
CD-Rom - Hindi - English Dictionary link invalid
Hindi World (Japan) UPDATED
Baby Blankets in Hindi
Hindi Translation services
Urdu resource
Urdu alphabet pronunciation key
Learn to Read Urdu, Learning Urdu Alphabets (shockwave)
Urdu-English Dictionary, English-Urdu Dictionary
History of Urdu poetryNEW, Poetry: Priyanka, Syed, Abbas, Shoeb, Kasif, Asad, Safi, Adil, Shahil, Shantanu, Khanani Nitin's Urdu Poetry Collection.
Ghazals sung by Jagit and Chitra NEW
Urdu magazine "Phool"
Urdu Poetry with English translations
Farsi script interface, FarsiBrowser Java Applet NEW
Urdu and Hindi-Urdu teaching institutions.
Urdu Ethnologue, Urdu, a graceful language
A Name A MonthNEW
Hindi/Urdu Phrasebook
Fonts
Newsgroup: alt.language.urdu.poetry
http://s24.deja.com/getdoc.xp?AN=523939646&CONTEXT=936868190.1096679429&hitnum=48> Origin of "Urdu" Discussion
Urdu and its Contributions Discussion UPDATED
Classic Iranian literatureNEW
Indo-European heritage
Indo-European Language Family UTexas
Indo-European ChronologyNEW
In Search of the Indo-Europeans
Relations between Sanskrit, Pali, the Prakrits and the Modern Vernaculars Bhandarkar, 1883 (scanned images)
Everything you ever wanted to know about Proto-Indo-European
Dictionary of most common AVESTA wordsNEW
Avesta language information: cognates and mnemonicsNEW
Indo-European Home page
Indo-European Languages (Part of the Ethnologue)
Distribution of The largest language families and The Indo-European Languages
Document: Done (0.331 secs)
Start Adobe Photoshop 28. 02 Love will... QuarkXPress (tm) digital_culture Adobe PageMa... Hindi Links - ... 12:07 PM

रोमन में ही है। फॉन्ट की समस्या से निबटने के लिए लोगों ने नागरी या अरबी सामग्री के चित्र (जिफ़ फ़ाइल) डाल दिए हैं, जो वज़न और आकार के हिसाब से थोड़े बोझिल तो होते हैं, लेकिन अपने समय के एक कारगर जुगाड़ हैं।

आभासी साहित्य...

यह बात शायद ढेर पाठकों को तोषप्रद लगे कि हिन्दी वेब का एक बहुत बड़ा हिस्सा साहित्य को समर्पित है। कविता, कहानी, ग़ज़ल नज़्म, उपन्यास, लघुकथा, समीक्षा, आलोचना, नाटक, हंसिकाएं, चुटकुले-तक़रीबन सारी विधाएं इसकी ज़द में हैं। प्रिंट का बहुत सारा माल यहां फिर से परोसा जाता हैं, ख़ास तौर पर लिटरेटवर्ल्ड.कॉम और वेबदुनिया इस तरह के पुनर्संस्करण खूब डालते हैं। वेबदुनिया ने लगभग साल-भर तक *हंस* की मेज़बानी करने के बाद उससे पल्ला झाड़ लिया है, हांलांकि कुछ पुराने अंक अभी भी मिल जाएँगें। वेबदुनिया का मुख्य ज़ोर अब स्वतंत्र रचनाएं प्रकाशित करने में है और इस चक्कर में अवश्य कुछ अच्छी कृतियां मिल जाती हैं। इसके अलावा उनके पास परिचित उत्कृष्ट साहित्य का क्रमशः विकासमान डेटाबेस भी हैं। शुरूआती दौर की स्पर्धा आक्रांत हीन भावना से उबरकर वेबदुनिया अब 'अन्यत्र' स्तंभ के अंतर्गत दीगर महत्वपूर्ण साहित्य/कला-केन्द्रित साइटों के लिंक्स देने लगा है। उन्हें शायद अहसास हो गया है कि समानधर्मा उपयोगी लिंक डालने से हिट्स की संख्या बढ़ाने में सहायता मिलती है। होता यूं है कि आप अगर नियमित 'सर्फ़र' नहीं हैं, या 'सर्फ़िंग सुख' लेने किसी सायबर ढाबे पर जाते हैं तो आप कम से कम वक़्त में ज़्यादा काम निकालने के चक्कर में स्वभावतः ऐसी साइट पर जाएँगे जहाँ एक जगह आपको दूसरी ज़रूरी साइटों के पते मिल जाएं। इस दिशा में वेबदुनिया की एक और अच्छी तरक़ीब यह है कि अब तक ख़ित्ते में रहने को अभिशप्त बहुत सारी लघुपत्रिकाओं को अंतर्राष्ट्रीय नक़्शे पर ला दिया है। दुनिया के किसी भी कोने में बैठा पाठक चाहे तो अंतर्वस्तु देखकर पत्रिका-विशेष घर पर मंगा ले।

लेकिन सुविधा सिर्फ़ ताज़ा सामग्री हासिल कर लेने तक सीमित नहीं है। मेरी एक इतिहासकार दोस्त को किसी शोध के सिलसिले में सुभद्रा कुमारी चौहान की मशहूर कविता 'झांसी की रानी' की दरकार हुई। उन्होंने शहर भर में स्कूली पाठ्य-पुस्तकों की ढुँढवाई करवाई लेकिन लगता है कविता इतिहास के कूड़ेदान में जा चुकी थी। उन्होंने मुझे फ़ोन किया और मैंने हमारे 'मुख्य संवाददाता' गूगल के भरोसे उन्हें आश्वासन दे दिया कि ढूंढ दूंगा। मेरे अलादीन के चिराग़ ने मुझे निराश नहीं किया। मैंने सिर्फ़ 'सुभद्रा + झाँसी' टाइप करके खोज का आदेश दिया और उसने मुझे मेरे चिर-परिचित साइट *काव्यालय* का रास्ता दिखा दिया। वहाँ पूरी की पूरी, अविकल कविता पाकर किंचित पछतावे का अहसास हुआ कि मैंने स्कूल में उसका संपादित अंश पढ़ा था। मैंने वह लिंक बाक़ायदा अपनी दोस्त को बढ़ा दिया, लेकिन अब उन्हें एक और चिंता ने आ घेरा कि यह लिंक वह उद्धृत तो कर देंगी लेकिन क्या इस अभासी स्रोत को प्रामाणिक माना जाएगा।

बहरहाल यह इतिहास के अनुशासन और उसके साक्ष्यों की प्रिंट-केंद्रित अबूझ संहिता का मामला था जिसका नेट से कोई लेना-देना नहीं है। लिहाज़ा, हम भी भटकाव छोड़कर वापस *काव्यालय* की ओर चलें, जिसे वाणी मुरारका और बिनोद तिवारी (आत्मपरिचयः आई टी डेवेलपर, हिन्दी का सतही ज्ञान; भैतिकशास्त्री जिन्हें कवि होने का गुमान है। 1997 से चला रहे हैं)। इनका काव्यलोक तीन खंडों में विभक्त हैः

1. **शिलाधारः** Classic poetry of pre-20th century. अमीर खुसरो की 'मुकरियों' से लेकर रैदास की कविताओं का छोटा-सा खंड।

2. **युगवाणीः** Contemporary poetry starting from the beginning of the 20th century. पांच भागों में फैला अमूमन एक सौ कविताओं का खंड।

3. **नवकुसुमः** Gems from new and budding poets. The Kaavyaalaya Magazine.

यह कालविभाजन तो परंपरा से प्रस्थान है ही, काव्य-चयन में भी उदारता दीखती है। संकलन की अर्हता आलोचकों की राय से तय नहीं होती है। जो इनके संचालकों को रुच जाय, जिसकी इबारत उपलब्ध हो जाय, वही वे अपने संभाव्य पाठकों से साझा कर लेते हैं। चूंकि इस दुनिया में आप अपने पाठकों के बारे में कोई पूर्वनिश्चित राय नहीं रखते इसलिए मदद के लिए शब्दार्थ भी दिये गए हैं। वैसे तो फ़ॉन्ट की दुश्वारियों से बचने के लिए पाठ की प्रतियां छविरूप में भी उपलब्ध हैं लेकिन मेरी सलाह होगी कि आप दिए गए निर्देशों के अनुसार शुषा फ़ॉन्ट डाउनलोड कर लें, आगे भी काम आएगा।

मसलन *अभिव्यक्ति* या *अनुभूति* पर, जो क्रमशः गद्य और पद्य पर केन्द्रित हिन्दी साहित्य की दो सबसे उम्दा साइटें हैं। लोकप्रिय भी। साहित्यिक दुनिया के राजेन्द्र यादव जैसे कुछ दिग्गज अक्सर बड़े सशंक भाव से मुझसे पूछते हैं कि विश्वजाल पर भी कोई हिन्दी के पन्ने देखता है? उनकी ख़िदमत में मैं नेडस्टैट के आंकड़े पेश करना चाहता हूँः गिनती के आरंभ से यानी फ़रवरी 2001 से *अभिव्यक्ति* पर कोई 56,173 मेहमान पधार चुके हैं, जिनमें से तक़रीबन 33% अमेरिका से और लगभग 10% यूएई से। पर इससे पहले कि लोग इसे विदेशी, एनआरआई परिघटना मानकर रद्द कर दें, भारत से मिले हिट्स का प्रतिशत भी पूरे 20 से थोड़ा ही कम है। अगर आप *अभिव्यक्ति* को वेब पत्रिका मानकर 'हारे को हरिनाम' जैसी मजबूरी के रूप में देखते हैं तो मेरा सुझाव है कि थोड़ा संयम रखकर अखिलेश वाले *तद्भव* के वेब पाठकों से मिलेंः औसतन 10-12 लोग तो इसपर रोज़ाना आते हैं, जिनमें बहुसंख्यक हिट (42.7%) सिर्फ़ भारत से मिलते हैं। तद्भव की वेब-उपस्थिति अपेक्षाकृत नई है इसका चरित्र भी बुनियादी तौर पर गरिष्ठ-गंभीर साहित्यिक प्रिंट पत्रिका का है इसलिए इसमें वेबप्रिय, यूज़प्रिय, सुगम और सुलभ बनने की तमाम गुंजाइशें हैं। *अभिव्यक्ति* से तुलना करूँ तो चंद ग़ौरतलब चीज़ें सामने आती हैंः *अभिव्यक्ति* की अभिलेखन-प्रक्रिया (आर्काइविंग) ठोस है जिससे आपको पुराने अंक जब चाहें मिल जाएँगे। इसमें हाइपरलिंक तकनीक का कारगर इस्तेमाल हुआ है, यानी एक पन्ने से दूसरे तक अनायास जाया जा सकता है, जिससे पन्ने की लम्बाई नही अखरती। मुखपृष्ठ पर अंतर्वस्तु की आकर्षक प्रस्तुति है, साज-सज्जा को ज़रूरी माना गया है — भले ही प्रकृति के प्रति घनघोर आसक्ति छायावादियों की याद दिला जाती है — लेकिन जावा आलेख में कविताओं के साथ रंगीन चल-चित्रों का उपहार मोहक तो है ही, एक संचिंतित और सुरूचिपूर्ण तकनीकी इस्तेमाल भी है। *अभिव्यक्ति* का कलेवर, इसका दायरा विस्तृत है और चूँकि इसे हर हफ़्ते परिवर्द्धित किया जाता है, इसलिए पाठकों को कभी निराशा नहीं होती। अभी पिछले दिनों पत्रिका ने कथा महोत्सव के तहत 'प्रवासी भारतीयों के संकलन' की प्रस्तुति की जिसमें अलग-अलग देशों से कई नामी-गिरामी कथाकारों जैसे प्रेम जनमेजय, पूर्णिमा वर्मन, कृष्ण बिहारी, अश्विन गाँधी, शैल अग्रवाल और ऊषा वर्मा आदि की कहानियाँ है। इनमें जड़ों का मोह और प्रवास का अवसाद अनायास झाँक उठता है। लेकिन, *अभिव्यक्ति* सिर्फ़ 'नॉस्टैल्जिया' नहीं थोपती, बल्कि वर्तमान से भी सांस्कृतिक और रचनात्मक संवाद करती दीखती है। मसलन, हिन्दी दिवस पर सुधा अरोड़ा का सामयिक निबंध ' "राजभाषा" को "राज" के चंगुल से बचाकर उसे "जन" भाषा बनाइए' दो टूक बातें करता है। *अभिव्यक्ति* के अनेक स्तंभों में से एक है 'कला संगम' जिसमें भारत की सोलह भाषाओं की चुनिंदा कहानियों का प्रतिनिधित्व है। कुछ अच्छे, चित्रमय यात्रा-वृत्तांत भी हैं।

अभिव्यक्ति की जुड़वाँ बहन *अनुभूति* के पास आख़िरी गिनती पर विश्व के 312 से अधिक कवियों की तक़रीबन 1060 कविताओं का संकलन है। गौरव ग्रंथ में धर्मवीर भारती का *अंधा युग,* दिनकर का *कुरूक्षेत्र*, बच्चन की *मधुशला*, निराला की *राम की शक्तिपूजा* और जगदीश गुप्त की *साँझ* उपलब्ध हैं तथा तुलसीदास की *कवितावलि* तथा श्यामनारायण पांडेय की *हल्दीघाटी* का वादा है। पाठकों की कविताओं के लिए अलग से जगह है। हास्य-व्यंग्यपरक कविताओं के खंड में मशहूर सरोजिनी प्रीतम और काका हाथरसी से लेकर निदा फ़ाज़ली तक। चलते-चलते, *अनुभूति* के मुरीदों के बारे में नेडस्टैट का एक आँकड़ाः 28 जून 2001 से आज (28.9.'02) तक इस पर कोई 37,627 लोग आ चुके हैं, अपने व्यस्ततम दिन में इसे 246 हिट्स मिले। और सत्येश भंडारी की एक लज़ीज़ हास्य कविता, जो शायद चंद गंभीर इशारे भी करती हैः

इंटरनेट पर शादी

कनाडा के मेल का,
मुंबई की फ़ीमेल से,
ई-मेल के ज़रिये,
बेमेल मेल हो गया,
देखते देखते खेल हो गया।

कल शाम मेरे पड़ोस की लड़की,
मेरे घर आई और बोली,
अंकल जी, कल आप
घर में ही रहिये,
कहीं जाइये मत,
मेरी शादी है।

न बाजे गाजों का शोरगुल,
न रिश्तेदारों की हलचल,
न ढोलक की थाप,
न मेंहदी की छाप।
और अभी तो शादी का
मौसम भी नहीं है।
वो बोली,
शादी इंटरनेट पर है।

पानी में शादी,
हवा में शादी तो सुनी थी,
मगर इंटरनेट पर शादी?
बड़ा अजीब लगा सुनकर।
कैसे हुआ यह सब?

ई मेल से परिचय हुआ,
चैट रूम में रोमांस बढ़ा,
अब डबल्यू डबल्यू डबल्यू,
मैरेज डॉट काम पर शादी है।
ई पंडित मंत्रोच्चार करेंगे, और
आप जैसे दर्शक आशीर्वाद दें

पड़ोस की लड़की थी,
समझाना धर्म था, बोला
देखो! इस तरह के
कम्प्यूटर प्रेम में बड़ा ख़तरा है।
ई मेल के ज़रिये
बड़े बड़े वाइरस आते है।
तुम्हारे प्यार की डिस्क
क्रैश हो जाएगी, और
रोमांस का पैकअप हो जाएगा।
वो बोली,
परवाह नहीं, अंकल!
मेरे पास सॉलिड बैकअप है।
प्यार का सॉफ़्टवेयर
फिर लोड कर लूंगी।

समझाना बेकार था, बोला
अच्छा बताओ,
मुझे क्या करना है?
बोली, कुछ नही अंकल,
कल बस घर में रहना है।
शाम को छह सात के बीच
इंटरनेट खुला रखना है।
मेरी शादी वाली साइट पर
मुझे और केन को
माउस घुमाकर
शादी के फेरे लेते देखना है।
और, जब शादी हो जाए तब
शगुन के रूप में
अपने क्रेडिट कार्ड का नंबर
बताई जगह पर भरना है।

विविध व्यंजनों से लदी-फदी एक और थाली है बोलोजी.कॉम उर्फ़ हिंदीनेस्ट.कॉम। साहित्य के अलावा भक्तिकालीन धर्म पर दिलचस्प लेख हैं, कविता-कहानी-निबंधों का एक बड़ा-सा ज़ख़ीरा है, जिसके मंच पर नामी-गिरामी लेखकों के साथ अल्पज्ञात रचनाकार भी मिल जाते हैं। हिंदीनेस्ट वस्तुतः इंडियानेस्ट नामक अंग्रेज़ी पोर्टल की बहन है। दोनों ही ने समस्यापूर्ति की लगभग लुप्तप्राय परंपरा को पुनर्जीवित कर पाठकों से कुछ मज़ेदार कृतियाँ निकलवाई हैं। कार्यशाला नामक इस स्तंभ के अब तक तेरह आयोजन हो गये हैं और एक ही 'समस्या' पर हिन्दी और अंग्रेज़ी के जवाब मनोरंजक तुलना का मौक़ा देते हैं। मॉडल *कादंबिनी* वाला ही है यानी कि आप दिये हुए चित्र को देखकर कुछ रचें लेकिन यहाँ पद्य में लिखने की कुछ ख़ास माँग नहीं है, न ही कोई शब्द सीमा। नृत्य, स्वास्थ्य, संस्मरण, व्यंग्य — इन सब के अंतर्गत कुछ न कुछ ऐसी सामग्री है जो हिन्दी के घनघोर पाठकों से भी वाहवाही लूट लेने की सलाहियत रखता है। हिंदीनेस्ट के इस छोटे-से क़सीदे में दो बातें और — इसमें कुछ मनमोहक चित्रलेख हैं और याहू, रीडिफ़, वेबदुनिया या सिफ़ी की तरह यहाँ भी मुफ़्त ई-मेल सुविधा उपलब्ध है।

...और सहयोग

साइटों के इन बड़े घरानों के अलावा चंद आभासी लघु-पत्रिकाएँ हैं, जिन्हें व्यक्तिगत या मुफ़्त या थोड़े विज्ञापनों के बदले वेबस्थान मुहैया कराने वाली एजेंसियों का चतुर लाभ उठाकर शौक़िया साइट बनानेवाले लोग चलाते हैं। ये साइटें आपको 'सर्च' करने पर शायद ही मिलें, लेकिन विश्वव्यापी 'हिन्दी रिंग' से जुड़कर इनमें से कई ने अपना जीवंत अस्तित्व बनाए रखा है। मामला बहुत सीधा हैः जिस तरह हमारे विद्वान एक दूसरे को उद्धृत करके दोनों पक्षों को ख्यात कर देते हैं, या जिस तरह एक सामान के साथ दूसरे के मुफ़्त आ जाने से दोनों का विज्ञापन हो जाता है, उसी तरह एक आपसी समझदारी के तहत लोग अपने पृष्ठों पर अपने हमक़दम साइटों के लिंक दे देते हैं, फ़िर ऐसे कई हममक़सद साइट मिलकर एक साझा मंच बना लेते हैं, जो हर किसी को दूसरों का पता दे देता है। इससे हमारे जैसे वेब-घुमक्कड़ों का पंथ-श्रम घट जाता है।

सहयोग/सामूहिकता/सामुदायिकता नेट की ख़ासियत है। एक बंगालन लड़की है। दिल्ली में रहने वाली। उसे अचानक हिन्दी सीखने की सूझती है और वह याहू के हिन्दी ग्रुप में शामिल होकर इस आशय का एलान करती है। उस लिस्ट पर मौजूद एक जर्मन, एक अमेरिकी और एक अंग्रेज़ उसका तहेदिल से मुखर ख़ैरमक़दम करते हैं, बाक़ी ख़ामोश ख़ुशी से। हम हिंदीवाले शायद इस बात पर हँसें लेकिन उस लिस्ट पर एक आम राय है कि हिन्दी सीखने का सबसे आसान तरीक़ा है हिन्दी फ़िल्में देखना। इस बात पर भले ही बहस हो ले कि मोहम्मद रफ़ी का तलफ़्फ़ुज़ किशोर कुमार से अच्छा है, या अमिताभ का लहज़ा नसीर से बेहतर है पर यहाँ आनंद बक्षी के 'स्टेशन से गाड़ी जब छूट जाती है तो' के निहितार्थ पर वैसी ही संजीदा बहस होती है, जैसी हम मुक्तिबोध की कविता पर करते हैं। उसी लिस्ट का एक और वाक़या। अब की बारी एक अंग्रेज़ लेखक आता है। वह मुंबई के इर्द-गिर्द एक उपन्यास लिखना चाहता है, लेकिन उसे ठीक-ठीक पता नहीं कि उसके चरित्र अपने माँ-बाप, चाचा-चाची को कैसे संबोधित करेंगे। समस्या को रखने की देर हैः जिसको जो सूझता है, मददगार सुझाव लेकर फ़ौरन हाज़िर हो जाता है। लेखक घर बैठे सारा ज्ञान बटोरकर सब का धन्यवाद देते हुए विदा लेता है और कोई इसका बुरा नहीं मानता कि उस अवसरवादी ने संगठन क्यों छोड़ा।

एक आख़िरी और निजी क़िस्सा। इस और इसी क़िस्म के दीगर लिस्ट लगातार इस बात से परेशान रहे हैं कि उन्हें रोमन में हिन्दी लिखने से कब मुक्ति मिलेगी। मैं ख़ुद हूँ। इतने में कोई घोषणा करता है कि बराहा.कॉम पर एक अच्छी लिप्यंतरण प्रणाली उपलब्ध है। मैं फ़ौरन बराहोन्मुख होता हूँ और उस कन्नड़ साइट से अपने काम का सॉफ़्टवेयर उतार लेता हूँ और मज़े करता हूँ। कुछ दिनों बाद कोई बताता है कि युडिट नामक एक टेक्स्ट एडिटर है, जो युनिकोड में लिखता है, यानी एक ऐसी तकनीक में जो किसी भी भाषा को जवार से निकालकर सार्विकता प्रदान करे, आपके फ़ाइल और बुकमार्क के नाम आपके डेस्कटॉप पर नागरी में दिखाए, बिल्कुल उसी तरह जिस तरह आप उन्हें अंग्रेज़ी में देखने के अभ्यस्त हो चुके हैं। यह चमत्कार मेरे लिए भारत में सलमान रश्दी के पैदा होने जैसा था। मैंने अपने 'टेकी' दोस्त सुप्रीत की मदद से उसे अपनी मशीन पर लगाया और पहली बार नागरी में ई-ख़त लिखकर फूला नहीं समाया। अभी इस नेमत को बरसे कुछ ही दिन हुए थे कि याहू के हिन्दी ग्रुप में किसी

ने एक और सुर्रा छोड़ा कि एक सॉफ़्टवेयर है जो विन्डोज़ पर युनिकोड में लिखता है, ग़ैर-व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए मुफ़्त में उपलब्ध है, फ़ॉन्ट आप बीबीसी हिन्दी से ले लें और हमारे पास एक देवरोमू नामक ऐसा कुंजीपट-चालक है जो ध्वन्यात्मक आदेश लेता है, यानी 'K' से 'क' लिखता है, आदि-आदि। आख़िरी लाइन सबसे अहम थीः अगर कोई चाहे तो हम उसे निजी इस्तेमाल के लिए दे सकते हैं। मैंने फ़ौरन अपनी याचिका भेजी और उसी दिन देवरोमू हाज़िर। मैं उसे टेस्ट करने में जुट गया। पता लगा बाक़ी सब तो ठीक है लेकिन सॉफ़्टवेयर देनेवाले का नाम ही मैं हिन्दी में नहीं लिख पा रहा हूँ। बॉब ईटन में बा के ऊपर का चंद्र पूरे कीबोर्ड से ही ग़ायब है। लिहाज़ा मैं ईटन साहब को रुआँसे अंदाज़ में चिट्ठी लिखता हूँ, वे अपने दोस्त स्टीव स्मिथ को लिखते हैं (दोनों ने मिलकर यह कुँजीपट बनाया था) और स्टीव स्मिथ मुझे बिल्कुल दुखी करनेवाली ख़बर देते हैं कि वाक़ई चंद्र का कोई प्रावधान नहीं है। मुझे लिखने के लिए दोनों का धन्यवाद देकर मैं अपने भाग्य से समझौता करने की मनस्थिति में आने को होता हूँ कि स्मिथ का एक और मेल आता है, भूल-सुधार करते हुए, कि उन्होंने कीबोर्ड में ज़रूरी परिवर्तन कर दिये हैं, और नया पैकेज भी मेल में संलग्न है। मेरी मनमाँगी मुराद पूरी हो गई थी। इन छोटी-छोटी कहानियों के ज़रिए मैं सिर्फ़ यही कहना चाह रहा हूँ कि नेट पर लगातार वैकल्पिक समुदायों की रचना होती रहती है; लोग अपनी ज़रूरतों के लिए सहयोग माँगते हैं जो उन्हें मिल भी जाता है। सभ्य विचार-विमर्श होता है और आम तौर पर लोग अपने ज्ञान की ग़ैर-ज़रूरी नुमाइश नहीं करते। सामनेवाले को महज़ आपकी और अपनी ज़रूरतों में दिलचस्पी है, बस। हाँ कभी-कभार तीखी झड़पें भी होती हैं, घृणा का प्रोपेगैंडा भी, लेकिन अगर बहस नक़ाबिले बर्दाश्त हो जाए तो 'लॉगआउट' कर जाने की आज़ादी तो आपकी अपनी है ही।

बतौर निष्कर्ष थोड़ी टेक् चर्चा उर्फ़ संभाव्य का वर्तमान

उम्र का एक घिसा-पिटा मुहावरा लें तो नेट के सूचना महामार्ग पर हिन्दी अभी उंगली पकड़ कर चलना सीख रही है। हालांकि सारे प्रमुख अख़बारों ने ख़ुद को वेब पर डाल दिया है लेकिन नेट संस्करण प्रिंट की प्रतिलिपि लगते हैं, जो डिजिटल तकनीक की क्षमताओं के दोहन की अच्छी मिसाल नहीं है। दृश्य, श्रव्य, हाइपरलिंकिंग आदि के अभाव के अलावा पाठकों की भागीदारी के पर्याप्त मौक़े नहीं हैं। अच्छा हो अगर लिपियों की इन छोटी-छोटी दुकानदारियों का सिलसिला बंद हो जाए। यद्यपि डायनैमिक फ़ॉन्ट्स के ज़ोर पकड़ने से फ़ॉन्ट डाउनलोड की रोज़ाना कवायद से राहत मिली है, लेकिन सूचना, ज्ञान और मनोरंजन का तेज़ प्रसार तब तक संभव नहीं होगा जब तक मानकीकृत लेखन शैली नहीं चल जाती। युनिकोड में इस तरह की संभावनाएँ हैं क्योंकि इसे 'इंटरनेट एक्सप्लोरर' भी पढ़ लेता है और 'मोज़िला' भी। विडोंज़ में तो इसका सपोर्ट है ही, लिनक्स पर काम करने वाला मुक़्त सॉफ़्टवेयर समुदाय भी अब भारतीय भाषाओं में सक्रिय दिलचस्पी लेने लगा है।

सोर्सफ़ोर्ज.नेट पर वॉलंटियर प्रयास शुरू हो गए हैं। वागीश शुक्ल ने तो LaTeX पर पूरी किताब ही छाप डाली; ऑमेगा सिस्टम के आ जाने से दायें-बायें-ऊपर-नीचे-आड़े-तिरछे किसी भी तरह से और किसी भी तरह की इबारत लिखी जा सकेगी। तमिलनाडु में कुछ लोग सस्ती तकनीक इस्तेमाल कर गांवों को कम्प्यूटर और इंटरनेट से जोड़ रहे हैं। आईआईटी मद्रास की हेमा मूर्ति ने एक अच्छा क़िस्सा सुनायाः वहाँ किसी गाँव में भिंडी के पौधों को कीड़े लग रहे थे कि एक स्कूली लड़की ने नेट के ज़रिए बीमार पत्तियों के चित्र कृषि विशेषज्ञों को भेज कर फ़ौरी और अचूक इलाज ढूंढ लिया। ज़ाहिर है कि इस तरह भिंडी का इलाज हो सकता है तो मानवीय शरीर का भी हो रहा है।

आईआईआईटी हैदराबाद ने लोगों से शब्ददान लेकर पूरा शब्दकोश बना लिया है, जो उनकी साइट पर मुक्त डाउनलोड के लिए उपलब्ध है। उनका 'अनुसारक सॉफ़्टवेयर' भारतीय भाषाओं के बीच कामचलाऊ अनुवाद कर संवाद को संभव बनाता है। तलहथी पर रखकर चलनेवाला किफ़ायती 'सिंप्यूटर' जल्द ही आ जाएगा। अगर बोले हुए शब्दों का एक विशाल भंडार इकट्ठा हो जाए तो 'बोली की पहचान' करने वाला यंत्र (speech recognition system) भी बन जाएगा और तब लिखने की भी ज़रूरत नहीं, टाइपिस्ट को न बोलकर मशीन को बोलिए।

और यह तो शुरुआत हैः कहते हैं न, आगे-आगे देखिए होता है क्या..?

स्रोत, संदर्भ और संसाधन

सबसे ज़रूरी वेब ठिकाना

http://www.cs.colostate.edu/~malaiya/hindilinks.html

उर्दू-हिन्दी लिंक्स

http://www.columbia.edu/~fp7/urduhindilinks.html
http://www.angelfire.com/sd/urdumedia/hind.html
http://www.gulzaronline.com
http://www.msci.memphis.edu/~ramamurt/ghazal.html#Mir
http://userpages.umbc.edu/~kjoshi1/msjoshi.html
http://www.javedakhtar.com
http://www.ravindrakalia.com/gcs/book.htm
http://www.narendrakohli.org
http://babel.uoregon.edu/yamada/guides/hindiurdu.html
www.urdustan.com
www.ebazm.com
http://www.shayaranamusic.com
http://www.cs.wisc.edu/~navin/india/songs
http://www.bollywhat.com/lyrics/mk_lyr.html#1
http://www.wupper.de/sites/unnet/home.html#JAADOO

भाषाई कम्प्यूटिंग: संसाधन/प्रॉजेक्ट

http://www.bharatbhasha.org.in/articles.htm
http://www.acharya.iitm.ac.in/ind_fonts.html
http://www.unicode.org/unicode/standard/translations/hindi.html
http://indic-computing.sourceforge.net
http://www.indlinux.org
http://www.yudit.org
http://www.ncst.ernet.in
http://www.tavultesoft.com
http://www.iiit.net/ltrc/downloads.html
www.cdac.org.in
http://www.mithi.com
http://users.skynet.be/hugocoolens/hindi/hindi.html
http://members.tripod.com/sbiswas/IWrite32/IWrite32.html#UsingIt
http://www.bttlindia.com/mozilla
http://www.bridges.org/toolkit/freeIT.html#host
http://hindi3.tripod.com
http://www.baraha.com/downloads.htm
http://www.cs.colostate.edu/~malaiya/devafonts.htm
http://www.alanwood.net/unicode/devanagari.html
http://theory.tifr.res.in/bombay/history/people/language/hindi.html
http://www.aksharamala.com
http://www.ucl.ac.uk/~ucgadkw/indnet-textarchive.html
http://www.languageinindia.com

साहित्यिक पत्रिकाएं

http://www.tadbhav.com
http://www.abhivyakti-hindi.org
http://www.aanubhuti-hindi.org
http://www.literateworld.com
http://manaskriti.com/kaavyaalaya
http://hindi.india-today.com
http://www.womeninfoline.com/hindi/internet/index.asp
http://www.kalayan.org/kalayanpatrika/index.html
http://www.bharatdarshan.co.nz/stories/index.html

विचार समूह
http://groups.yahoo.com/group/Hindi-Forum/messages/50?threaded=
http://groups.yahoo.com/group/hindi/messages/359
http://groups.yahoo.com/group/subhaashitas

शौक़िया वेब पृष्ठ
http://www.geocities.com/chandra_pm/hindi_top.html
http://www.geocities.com/aawasthi
http://www.shails.com/manjusha/poem6.htm
http://www.geocities.com/sumankghai
http://www.geocities.com/Tokyo9785/madhu1.gif
http://koshnr.tripod.com
http://users.panda.be/walter.rajesh

शब्दकोश: संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी
http://sanskrit.gde.to/hindi/dict/eng-hin-itrans.html
http://aa2411s.aa.tufs.ac.jp/~tjun/sktdic
www-aa.tufs.ac.jp/~kmach/hnd-la-e.htm
http://www.ishipress.com/wordlist.htm
http://dsal.uchicago.edu/dictionaries/index.html
http://www.cs.wisc.edu/~navin/india/urdu.dictionary

सरकारी और स्वायत्त संसाधन
http://dol.nic.in/software.htm
http://tdil.mit.gov.in/knowledge.htm# Geeta and Upanishad in Hindi
http://hindinideshalaya.nic.in
http://www.sahitya-akademi.org
http://www.hindivishwa.nic.in/hindivishwa/welcome.html
http://rajbhasha.com/hindisansar/hindsnsr.htm

पोर्टल्स
http://www.webdunia.com
http://hindi.netjaal.com
www.rediff.com
www.sify.com
www.prabhasakshi.com
http://www.sahitya-akademi.org

रेडियो/टीवी
http://www.bbc.co.uk/hindi
http://www.nic.in/indiapublications/Hindi-Pub/Reference/HR06.htm
http://www.aajtak.com
http://www.ddindia.net

अख़बार
http://203.200.89.66:8080/sahara
http://www.amarujala.com
http://www.bhaskar.com
http://www.naidunia.com
http://www.rajasthanpatrika.com
http://www.jagran.com
http://www.prabhatkhabar.com
http://www.hindimilap.com

मुक्त सॉफ़्टवेयर

'मुक्त सॉफ़्टवेयर' अंग्रेज़ी के फ़्री सॉफ़्टवेयर की हिंदी है। फ़्री यानी 'मुफ़्त' नहीं बल्कि 'मुक्त' या 'आज़ाद'। यह एक आंदोलन है, एक दर्शन है। ऐसा दर्शन जो सॉफ़्टवेयर को बाज़ार से आज़ाद करके प्रयोग करने वाले समाज को सौंप देने की हिमायत करता है। इस दर्शन में विश्वास रखने वाले प्रोग्रामर स्वत्वाधिकार (कॉपीराइट) नहीं बल्कि स्वत्वत्याग (कॉपीलेफ़्ट) पर बल देते है। बात सीधी है: आप अपना प्रोग्राम विकसित करें और उसे 'जेनरल पब्लिक लाइसेंस' के तहत जनपद में खुला छोड़ दें। फिर जो चाहे, जैसे चाहे, उसको आगे विकसित कर सकता है। अपने सोर्स कोड को खुला रखने के इसी व्यवहार को 'ओपन सोर्स' या खुला स्रोत कहते है। इन सिद्धांतों को सूत्र रूप में यूँ रखा जा सकता है:

1. मुक्त सॉफ़्टवेयर मंगनी में, बिना दाम के, नक़ल किया जा सकता है।

2. प्रोग्राम सोर्स कोड भी उपलब्ध करा दिया जाता है।

3. सोर्स कोड को मर्ज़ी मुताबिक़ बदला जा सकता है और दूसरे प्रोग्रामों के लिए इस्तेमाल भी।

4. मुक्त सॉफ़्टवेयर पर कोई पाबंदी नहीं है। इसे व्यावसायिक कार्यों के लिए भी बिना दाम के इस्तेमाल किया जा सकता है। लाइसेंस शुल्क नहीं लगता।

5. मुक्त सॉफ़्टवेयर के वितरण पर भी कोई रोक नहीं है। जो भी चाहे पैसा दिए बग़ैर प्रोग्राम को बेच सकता है।

अनुवाद: रविकान्त

कॉपीलेफ़्ट क्या है?

किसी प्रोग्राम को मुक्त करने का सबसे आसान तरीक़ा ये है कि आप उसे बिना कॉपीराइट के जनपद (Public Domain) में छोड़ दें। इससे लोगों को किसी प्रोग्राम को मिलजुल कर इस्तेमाल करने की आज़ादी मिल जाती है और वे चाहें तो उसमें किए जाने वाले सुधारों का भी लाभ उठा सकते हैं। पर इससे असहयोगी क़िस्म के लोगों को सॉफ़्टवेयर पर अपना मालिकाना क़ायम करने का मौक़ा भी मिल जाता है। इसके लिए वे सॉफ़्टवेयर में कम या बेशी फेरबदल करके उसके नए रूप को अपनी मिल्कियत में तब्दील कर सकते हैं। ऐसे में जिन लोगों को सॉफ़्टवेयर का यह संशोधित संस्करण मिलेगा वे लोग उस आज़ादी से महरूम होंगे जो सॉफ़्टवेयर का मूल लेखक उन्हें देना चाहता था। यानी इस आज़ादी को बीच में कुछ बिचौलियों/दलालों ने छीन लिया है।

जीएनयू परियोजना में हमारा मक़सद अपने सभी उपभोक्ताओं को यह आज़ादी देना है कि वे तमाम जीएनयू सॉफ़्टवेयरों को जितना चाहे बांट सकें और उसमें चाहे जैसे बदलाव करें। यदि बिचौलिए इस आज़ादी को छीन सकते हैं, तो ज़ाहिर है हमें बहुत-से उपभोक्ता भी मिलेंगे, पर बदक़िस्मती से उन उपभोक्ताओं को आज़ादी नहीं होगी। इसलिए जीएनयू सॉफ़्टवेयर को जनपद में छोड़ देने के बजाय हम उसे 'कॉपीलेफ़्ट' कर देते हैं। कॉपीलेफ़्ट की समझ कहती है कि जो कोई भी आदमी सॉफ़्टवेयर को आगे बांटता है, वह चाहे उसे बदलावों के साथ बांटे या बदलाव किए बिना बांटे, पर उसकी ज़िम्मेदारी बनती है कि जो आज़ादी सॉफ़्टवेयर के साथ खुद उसे मिली थी वह आज़ादी आगे भी मुहैया कराए। यानी वह इस सॉफ़्टवेयर को जिसे भी दे, उस व्यक्ति को भी सॉफ़्टवेयर की कॉपी करने और उसमें बदलाव करने की आज़ादी रहे। कुल मिलाकर, कॉपीलेफ़्ट इस बात की ज़मानत है कि हरेक उपभोक्ता को सॉफ़्टवेयर का जैसा चाहे इस्तेमाल करने की आज़ादी होगी।

कॉपीलेफ़्ट के ज़रिए दूसरे प्रोग्रामरों को भी मुक्त सॉफ़्टवेयर तैयार करने का प्रोत्साहन मिलता है। जीएनयू सी++ जैसे महत्वपूर्ण मुक्त प्रोग्राम केवल इसी वजह से अस्तित्व में आए हैं।

कॉपीलेफ़्ट की मार्फ़त, मुक्त सॉफ़्टवेयर में सुधार करने की इच्छा रखने वाले प्रोग्रामरों को ऐसा करने की छूट भी मिल जाती है। अक्सर ये प्रोग्रामर कम्पनियों या विश्वविद्यालयों के लिए काम करते हैं जो पैसा बनाने के लिए तक़रीबन कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। हो सकता है कि कोई प्रोग्रामर चाहती हो कि किसी ख़ास सॉफ़्टवेयर में उसके द्वारा किए जाने वाले बदलाव समाज के लिए निःशुल्क उपलब्ध हों पर उसके नियोक्ता यही चाहेंगे कि उन बदलावों को भी निजी मिल्कियत में तब्दील कर दिया जाए।

जब हम नियोक्ता को समझाते हैं कि सॉफ़्टवेयर के संशोधित संस्करण को केवल मुक्त सॉफ़्टवेयर के रूप में ही बांटा जा सकता है और उसके बदले पैसे ऐंठना ग़ैरक़ानूनी है तो नियोक्ता आमतौर पर उस सॉफ़्टवेयर को रद्दी में डालने की बजाय मुक्त सॉफ़्टवेयर के रूप में जारी कर देता है।

किसी प्रोग्राम को कॉपीलेफ़्ट उत्पाद बनाने के लिए पहले हम उसका कॉपीराइट करवाते हैं। इसके बाद कॉपीराइट में उस सॉफ़्टवेयर के वितरण से संबंधित शर्तें रखी जाती हैं जिनमें हर व्याक्ति को यह आज़ादी होती है कि वह

उस प्रोग्राम के कोड या उससे बने किसी भी प्रोग्राम को जैसे चाहे इस्तेमाल कर सकता है, उसमें सुधार कर सकता है और उसे जिसे चाहे दे सकता है। पर यह सब कुछ करने के लिए सबसे अहम शर्त ये है कि वितरण से संबंधित उपरोक्त शर्तें हर सूरत में अपरिवर्तित रहें। यानी वह सॉफ़्टवेयर में जो भी सुधार करेगा न तो उन पर उसका मालिकाना रहेगा और न ही वह उन लोगों को उपरोक्त आज़ादी से वंचित करेगा जिन्हें वह सॉफ़्टवेयर दे रहा है। इस तरह प्रोग्राम कोड और उससे मुताल्लिक़ आज़ादी एक दूसरे से क़ानूनन अविभाज्य रूप से जुड़ जाते हैं।

मालिकाना सॉफ़्टवेयर बनाने वाले लोग कॉपीराइट का इस्तेमाल करते हैं उपभोक्ता की आज़ादी छीनने के लिए; मगर हम कॉपीराइट का इस्तेमाल करते हैं उनकी आज़ादी बनाए रखने के लिए। यही वजह है कि हमने इसका नाम ही उलट दिया है। हमने **'कॉपीराइट'** को **'कॉपीलेफ़्ट'** बना दिया है: 'स्वत्व' के अधिकार का 'त्याग' कर दिया है।

कॉपीलेफ़्ट की समझ एक मोटा-मोटी अवधारणा है। इसमें तफ़्सीलात और बारीकियों के लिए पर्याप्त गुंजाइश हैं। जीएनयू परियोजना में हम जिन ख़ास वितरण शर्तों का इस्तेमाल करते हैं वह जीएनयू जेनरल पब्लिक लाइसेंस (एचटीएमएल, टेक्स्ट और टेक्स्ट-इन्फ़ो फ़ॉरमैट में उपलब्ध) में दी गई हैं। जीएनयू जेनरल पब्लिक लाइसेंस को संक्षेप में जीएनयू-जीपीएल कहा जाता है।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

सॉफ़्टवेयर किसी की मिल्कियत नहीं होनी चाहिएः क्यों?

रिचर्ड स्टॉलमैन

डिजिटल सूचना प्रौद्योगिकी ने सूचना की नक़ल और उसमें रद्दोबदल को आसान बना कर ज़बर्दस्त योगदान दिया है।

- और कम्प्यूटर के ज़रिए यह हम सबके लिए और आसान हो जाएगा।

पर ऐसा लगता है कि कुछ लोग 'अगर आसानियां हों, ज़िंदगी दुश्वार हो जाए' में ज़्यादा यक़ीन रखते हैं। मालूम होता है कि कॉपीराइट की ईजाद करने वाले लोग भी इसी सोच के शैदाई रहे होंगे। कॉपीराइट का चलन सॉफ़्टवेयर प्रोग्रामों के कुछ 'मालिकान' पैदा कर देता है जिनमें से ज़्यादातर की मंशा यही रहती है कि बाक़ी जनता को उस सॉफ़्टवेयर के संभावित फ़ायदों से महरूम रखा जाए। उनकी कोशिश रहती है कि जिस सॉफ़्टवेयर का हम इस्तेमाल करते हैं उसकी नक़ल (कॉपी) बनाने और उसमें बदलाव करने का हक़ सिर्फ़ उन्हीं के पास रहे।

कॉपीराइट का चलन प्रिंटिंग प्रेस यानी छापाख़ाने के साथ अस्तित्व में आया था। छपाई ऐसी प्रक्रिया है जो बड़े पैमाने पर नक़ल या प्रतिलिपियाँ तैयार करने के काम आती है। इस तकनीक के मामले में कॉपीराइट की व्यवस्था के साथ कोई दिक़्क़त नहीं थी क्योंकि उसमें कॉपीराइट से केवल उन्हीं लोगों पर पाबंदियां लगती थीं जो बड़े पैमाने पर प्रतिलिपियाँ या नक़लें बनाते थे। इस व्यवस्था से किताबों के पाठकों की आज़ादी पर कोई आंच नहीं आती थी। एक ऐसा आम पाठक, जिसके पास प्रिंटिंग प्रेस नहीं था वह किताबों की नक़ल केवल क़लम और स्याही के ज़रिए ही कर सकता था, लिहाज़ा शायद ही किसी पर मुक़दमा चला हो।

पर, बामुक़ाबले प्रिंटिंग प्रेस, डिजिटल टेक्नॉलजी ज़्यादा लचीली है: जब सूचनाएं डिजिटल रूप में हों तो आप उन्हें आसानी से कॉपी करके दूसरों के साथ बांट सकते हैं। इसका यह लचीलापन ही इसे कॉपीराइट जैसी व्यवस्था के लिए बेतुका बना देता है। यही कारण है कि सॉफ़्टवेयर कॉपीराइट को लागू करने के लिए एक से एक ऊल-जुलूल और ज़ोर-ज़बरदस्ती वाले नियम-क़ानून बनते जा रहे हैं। मिसाल के तौर पर सॉफ़्टवेयर पब्लिशर्स एसोसिएशन (एस.पी.ए) के इन चार हथकंडों को देखिए:

- इस बात का भारी प्रचार कि दोस्त की मदद करने के लिए मालिक की अवज्ञा करना ग़लत है।
- अपने सहकर्मियों और साथियों के बारे में जानकारी देने वाले मुख़बिरों को लगाना।
- दफ़्तरों और स्कूलों में (पुलिस सहायता से) छापे, जिसमें लोगों को यह साबित करने के लिए बाध्य किया जाता है कि उन्होंने गैरक़ानूनी नक़लें नहीं बनाई हैं।

- एम.आई.टी में कार्यरत डेविड लामैकिया जैसे लोगों को अमेरिकी सरकार द्वारा, एस.पी.ए की मांग पर दंडित करना, जिन्होंने सॉफ़्टवेयर को कॉपी नहीं किया था (डेविड पर यह आरोप है भी नही) बल्कि कॉपी करने की सुविधाओं को खुला छोड़ दिया था और उनके प्रयोग पर नज़र नहीं रख पाए थे।

ये चारों ही तरीक़े भूतपूर्व सोवियत संघ से मिलते-जुलते हैं जहां कॉपी करने वाली प्रत्येक मशीन पर एक पहरेदार तैनात रहता था जो प्रतिबंधित चीज़ों की कॉपीईंग को रोकता था। नतीजतन लोग वहां सूचनाओं को चोरी-छिपे कॉपी (समिज़्दात) के रूप में एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंचाते थे। पर यहां एक फ़र्क़ है:

सोवियत संघ में सूचनाओं पर नियंत्रण का मक़सद राजनैतिक था जबकि अमेरिका में इसका मक़सद मुनाफ़ा है। लेकिन हमें तो कार्रवाई प्रभावित करती हैं मंशा नहीं। सूचनाओं के आदान-प्रदान को रोकने की कोशिशों की वजह चाहे जो भी हो पर उसके लिए तरीक़े कमोबेश एक जैसे ही रहते हैं और उन्हें लागू भी वैसी ही सख़्ती से किया जाता है।

सूचनाओं के इस्तेमाल की लगाम अपने हाथ में रखने के लिए सॉफ़्टवेयर मालिक कई तरह के तर्क देते हैं:

गालियां

आम जनता भी सॉफ़्टवेयर के मालिकों की तरह सोचने लगे, इसके लिए वे 'पायरेसी' (*पायरेसी शब्द का अर्थ होता था – किसी लेखक की आज्ञा के बिना उसके लेखन को छापकर लाभ उठाना। इसके अलावा समुद्री डकैती के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग होता था* – सं.) और "चोरी" जैसे घटिया शब्दों के साथ-साथ 'बौद्धिक संपदा' और 'क्षति' जैसी विशिष्ट शब्दावली का सहारा लेते हैं। यहां कम्प्यूटर प्रोग्रामों और भौतिक वस्तुओं को बड़ी मासूमियत से एक ही तराज़ू में तौल दिया जाता है।

भौतिक चीज़ों के संदर्भ में संपत्ति-संबंधी हमारे विचार और आम समझ इस बात से तय होते हैं कि हम किसी दूसरे व्यक्ति की चीज़ों को उससे छीन लेना ठीक समझते हैं या नहीं। यह समझ किसी चीज़ को कॉपी करने पर सीधे-सीधे लागू नहीं हो सकती। पर सॉफ़्टवेयर मालिक हमसे उम्मीद करते हैं कि हम फिर भी इसे ऐसे ही लागू करें।

अतिरंजना

सॉफ़्टवेयर मालिक कहते हैं कि जब किसी प्रोग्राम को इस्तेमाल करने वाले ख़ुद उन प्रोग्रामों को कॉपी करते हैं तो इससे मालिकों को 'हानि' या 'आर्थिक नुक़सान' होता है। पर हक़ीक़त में नक़ल से मालिकों पर कोई सीधा असर नहीं पड़ता और उससे किसी का नुक़सान भी नहीं होता। मालिक को नुक़सान तो तभी हो सकता है जब कॉपी करने वाला व्यक्ति कॉपी करने के एवज़ में उसकी क़ीमत अदा नहीं कर रहा है, जो अन्यथा उसे करनी पड़ती।

थोड़ा सा दिमाग़ लगाने से भी बात साफ़ हो जाती है कि अगर ऐसे लोगों को मुफ़्त कॉपी न मिले तो भी वे उसे ख़रीदेंगे नहीं। इसके बाद भी मालिक अपने नुक़सान का हिसाब लगाते हुए यह मानकर ही चलते हैं कि जो लोग उन्हें पैसा दिए बिना सॉफ़्टवेयर इस्तेमाल कर रहे हैं यदि वे मुफ़्त में सॉफ़्टवेयर हासिल न कर पाते तो वे ज़रूर उन्हीं से ख़रीद ही लेते। यह तो तिल का ताड़ बनाने वाली बात हुई।

क़ानून

मालिक अक्सर यह बताते हैं कि मौजूदा क़ानून क्या कहते हैं और उनके तहत हमें क्या-क्या सज़ाएं दी जा सकती हैं। इस पूरे सोच में यह मान कर चला जाता है कि आज के क़ानूनों का नैतिक आधार सवालों से परे है। हमसे यह उम्मीद की जाती है कि हम इन सज़ाओं को सहज और स्वाभाविक मान लें कि यह मानव-निर्मित नहीं है। इन दलीलों में सवाल या आलोचना के लिए जगह नहीं है, इनका मक़सद तो लकीर की फ़क़ीरी और परंपरा-पोषण भर है।

यह सर्वविदित है कि सही और ग़लत का फ़ैसला क़ानून नहीं करता। मसलन, कई अमेरिकी राज्यों में चालीस साल पहले अश्वेतों का बस के अगले हिस्से में बैठना ग़ैरक़ानूनी था। पर अब इस बात को केवल कोई नस्लवादी व्यक्ति ही सही ठहरा सकता है।

क़ुदरती हक़

प्रोग्राम लेखकों का दावा होता है कि उन्होंने जो प्रोग्राम लिखे या तैयार किए हैं उनके साथ उनका ख़ास रिश्ता है। वे कहते हैं कि चूंकि प्रोग्राम उन्होंने लिखा है इसलिए प्रोग्राम को लेकर उनकी इच्छाएं और हित किसी भी दूसरे व्यक्ति – बल्कि सारी दुनिया के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा अहमियत रखते हैं (वैसे सॉफ़्टवेयर का कॉपीराइट लगभग हमेशा ही व्यक्तियों के बजाय कम्पनियों के पास रहता है पर हमसे उम्मीद की जाती है कि इस छोटे-से फ़र्क़ को हम नज़रअंदाज़ कर दें)।

जो इस बात को नैतिक रूप से स्वयंसिद्ध मानते हैं कि प्रोग्राम लेखक आपके मुक़ाबले ज़्यादा अहम शख़्स होता है उन्हें – स्वयं एक जाना-माना सॉफ़्टवेयर लेखक होने के नाते – मैं सिर्फ़ इतना ही कहना चाहता हूं कि मेरी नज़र में ये कोरी बकवास है। पर आम लोग क़ुदरती हक़ के दावे से अक्सर हमदर्दी रखते ही हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सॉफ़्टवेयर को भी अक्सर बेवजह भौतिक वस्तुओं के समान मान लिया जाता है। अगर मैं एक कप चाय बनाता हूं और उस चाय को कोई दूसरा आदमी पी ले तो मैं उसकी हरकत पर एतराज़ ज़रूर करूंगा क्योंकि अब मैं उस चाय को नहीं पी पाऊंगा। उस आदमी की हरकत से मुझे ठीक उतना ही नुक़सान होता है जितना उसे फ़ायदा होता है। क्योंकि चाय को हममें से कोई एक ही पी सकता है, इसलिए सवाल उठता है कि दोनों में से कौन-सा व्यक्ति? हम दोनों में रत्ती भर फ़र्क़ करने से नैतिक संतुलन बिगड़ जाएगा। पर यदि आप मेरे लिखे किसी प्रोग्राम को चलाते या बदलते हैं तो इससे आप पर तो सीधा असर पड़ेगा परंतु मुझ पर केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव ही पड़ेगा। अगर आप अपने किसी दोस्त को मेरे लिखे सॉफ़्टवेयर की कॉपी दे दें तो आप पर और आप के दोस्त पर इसका ज़्यादा असर पड़ेगा बामुक़ाबले मेरे। किसी भी सूरत में मेरा हक़ नहीं बनता है कि मैं आप को ऐसा करने से रोकूं। किसी को रोकना चाहिए भी नहीं। दूसरा कारण यह है कि लोगों को बताया जाता रहा है कि हमारे समाज में लेखकों के प्राकृतिक अधिकार को पूरा सम्मान दिया जाता है और उस पर सवाल नहीं खड़े किए जाते हैं।

लेकिन इतिहास के आइने में तो ठीक उल्टा अक्स दिखाई देता है। अमेरिकी संविधान बनाए जाने के वक़्त लेखकों के प्राकृतिक अधिकारों के प्रस्ताव को निर्णायक रूप से अस्वीकार कर दिया गया था। यही वजह है कि वहां के संविधान में कॉपीराइट को अनुमति तो है पर उसकी ज़रूरत पर कोई ज़ोर नहीं है। नतीजतन, संविधान के मुताबिक़ कॉपीराइट लाज़िमी तौर पर अस्थायी ही हो सकता है। साथ ही यह भी कहा गया है कि कॉपीराइट का मक़सद उन्नति को बढ़ावा देना है न कि लेखकों को फ़ायदा पहुंचाना। कॉपीराइट से लेखकों को कुछ फ़ायदा तो होता है, और प्रकाशकों को उससे भी ज़्यादा, पर इसका लक्ष्य असल में उनके व्यवहार को, तौर-तरीक़ों को बदलना था। हमारे समाज की असल स्थापित परंपरा यह रही है कि कॉपीराइट व्यवस्था जनता के प्राकृतिक अधिकारों पर चोट करती है – और इसे केवल जनता के हित में ही सही ठहराया जा सकता है।

अर्थ तर्क

सॉफ़्टवेयर पर मालिकाने के पक्ष में दिया जाने वाला अंतिम तर्क यह है कि इससे अधिकाधिक सॉफ़्टवेयरों के निर्माण में सहायता मिलती है। दूसरी दलीलों के मुक़ाबले इस दलील में कुछ ज़्यादा दम है। यह एक वाजिब मक़सद पर आधारित है और यह मक़सद है सॉफ़्टवेयर प्रयोग करने वालों को संतुष्ट करना। और यह बात तजुर्बे से साबित हो चुकी है कि यदि किसी चीज़ को बनाने वालों को बढ़िया मेहनताना दिया जाए तो वे उस चीज़ को बढ़िया और ज़्यादा तादाद में पैदा करने लगते हैं। पर इस आर्थिक तर्क में भी एक दोष है: यह तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि सारा फ़र्क़ इस बात से पड़ता है कि हम पैसा कितना देते हैं। यह मानकर चलता है कि हम जो चाहते हैं वह है 'सॉफ़्टवेयर का निर्माण'- फिर भले ही उस सॉफ़्टवेयर का कोई मालिक हो या नहीं। आम लोग इस अवधारणा

को फ़ौरन मान लेते हैं क्योंकि यह भौतिक वस्तुओं के साथ हमारे अनुभवों से मेल खाती है। मिसाल के तौर पर एक सैंडविच को ही लीजिए। ये बाक़ायदा मुमकिन है कि आप एक वैसी ही सैंडविच को या तो मुफ़्त में लेंगे या उसे ख़रीदेंगे। यदि ऐसा है तो साफ़ है कि सारा फ़र्क़ इस बात का है कि आप कितनी क़ीमत चुकाते हैं। बहरहाल, सैंडविच को आप चाहे ख़रीदें या मुफ़्त में लें पर उसका स्वाद, उसकी पोषकता में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा और दोनों सूरतों में आप उसे खाएंगे भी केवल एक ही बार। आपको जो सैंडविच मिलती है, उसको आपने किसी सैंडविच वाले से ख़रीदा है या मुफ़्त में पाया है, इससे किसी चीज़ पर कोई सीधा फ़र्क़ नहीं पड़ता, सिवाय इसके कि बाद में आपके पास कितना पैसा बचता है। यह बात किसी भी भौतिक वस्तु पर लागू होती हैः किसी चीज़ का कोई मालिक है या नहीं इससे उस चीज़ पर कोई सीधा असर नहीं पड़ता। न ही इस बात से कोई फ़र्क़ पड़ता है कि उसे लेकर आप उसका क्या करेंगे।

मगर यदि किसी सॉफ़्टवेयर प्रोग्राम का कोई मालिक है, तो इससे उस सॉफ़्टवेयर पर और यदि आप उसकी एक कॉपी ख़रीद लेते हैं तो उसका क्या करेंगे - इस पर वाक़ई फ़र्क़ पड़ता है। यहां फ़र्क़ सिर्फ़ पैसे का नहीं है। सॉफ़्टवेयर पर मालिकाने की व्यवस्था से सॉफ़्टवेयर मालिकों को उत्पादन की प्रेरणा अवश्य मिलती है, लेकिन उत्पादित चीज़ समाज के लिए वाक़ई ज़रूरी हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। और इससे नैतिक स्तर पर ऐसा अमूर्त प्रदूषण फैलता है जो हम सबको अपनी गिरफ़्त में ले लेता है।

सवाल उठता है कि समाज की ज़रूरत क्या है? समाज को ज़रूरत है सूचनाओं की जो उसके सभी नागरिकों को सहजता से उपलब्ध हों। ऐसे प्रोग्रामों की, जिन्हें लोग न केवल इस्तेमाल कर सकें, बल्कि जिन्हें वे पढ़ सकें, सुधार सकें, अपने हिसाब से ढाल सकें, और बेहतर बना सकें। पर सॉफ़्टवेयर मालिकों से हमें हमेशा एक काला बक्सा जैसा मिलता है जिसे हम न तो पढ़ सकते हैं और न बदल सकते हैं।

समाज को आज़ादी भी चाहिए। जब किसी प्रोग्राम पर किसी दूसरे व्यक्ति की मिल्कियत होती है तो उस प्रोग्राम को इस्तेमाल करने वाला व्यक्ति अपने जीवन के एक हिस्से पर खुद अपना नियंत्रण खो देता है। और सबसे बढ़कर, समाज को अपने नागरिकों के बीच स्वैच्छिक सहयोग की भावना विकसित करने की ज़रूरत होती है। जब सॉफ़्टवेयर मालिक हमें बताते हैं कि अपने पड़ोसियों की स्वाभाविक मदद 'जालसाज़ी' है, तो दरअसल वे हमारे समाज में मौजूद सामाजिकता की भावना को ही तोड़ रहे होते हैं। हम इसीलिए कहते हैं कि मुक्त सॉफ़्टवेयर का मामला हमारी आज़ादी का मामला है, क़ीमत का नहीं।

मालिकों के पक्ष में दिया जाने वाला आर्थिक तर्क भले बेतुका हो, पर आर्थिक मुद्दा अपने आप में पूरी तरह वास्तविक है। कुछ लोग कई उपयोगी सॉफ़्टवेयर सिर्फ़ मज़े के लिए या तारीफ़ और प्यार पाने के लिए ही लिख डालते हैं। पर यह तय है कि ज़्यादा से ज़्यादा सॉफ़्टवेयर बनाने के लिए तो हमें धन उगाहना ही पड़ेगा। मुक्त सॉफ़्टवेयर बनाने वाले लोग पिछले दस साल से पैसा इकट्ठा करने के अलग-अलग तरीक़ों पर काम कर रहे हैं और इस कोशिश में उन्हें कुछ कामयाबी भी मिली है। इस सिलसिले में किसी को धन्नासेठ बनाने की कोई ज़रूरत नहीं है। अमेरिका की औसत पारिवारिक आय, जो तक़रीबन 35,000 डॉलर है, ऐसे बहुत से रोज़गारों के लिए काफ़ी ठोस आकर्षण है, जो प्रोग्रामिंग से कम संतोषजनक हैं।

फ़ेलोशिप मिलने के पहले कई साल तक मैंने अपनी आजीविका अपने बनाए मुक्त सॉफ़्टवेयरों में फ़रमाइशी सुधार करते हुए अर्जित की थी। इस काम में मैं अपने बनाए हुए सॉफ़्टवेयरों को इस्तेमाल करने वाले लोगों की सुविधा के हिसाब से संशोधित करता था। मुक्त सॉफ़्टवेयर में उनके अलग-अलग उपभोक्ताओं के लिए मैं जो सुधार करता था बाद में उसे सॉफ़्टवेयर के पुराने संस्करण में भी डाल देता था, जिससे नया संस्करण भी तमाम जनता को उपलब्ध होने लगता था। इस दौरान ग्राहक मुझे जो देते थे, वह उनके सॉफ़्टवेयर में किए जाने वाले उन संशोधनों के एवज़ में होता था जो वह करवाना चाहते थे, उन संशोधनों के लिए नहीं, जिन्हें मैं सबसे अहम मानता था।

फ़्री सॉफ़्टवेयर फ़ाऊंडेशन (एफएसएफ) मुक्त सॉफ़्टवेयर बनाने वाली एक कर-मुक्त संस्था है। यह संस्था जी.एन.यू-सीडी-रॉम, टी शर्ट, मैन्युअल, और डीलक्स वितरण (उपभोक्ता इन सबको कॉपी करने या उनमें बदलाव करने को स्वतंत्र हैं) करके और चंदों से पैसा इकट्ठा करती है। अब इस संस्था में पांच प्रोग्रामर हैं। इसके अलावा

तीन कर्मचारी डाक से आने वालें आदेशों को संभालते हैं। मुक्त सॉफ़्टवेयर बनाने वाले कुछ लोग सहायक सेवाएं बेचकर पैसा बनाते हैं। लगभग 50 कर्मचारियों (इस आलेख के लिखे जाने के समय) वाली सिग्नस सपोर्ट नामक एक कम्पनी का अनुमान है कि उसकी लगभग 15 प्रतिशत गतिविधियां मुक्त सॉफ़्टवेयर बनाने पर केंद्रित होती हैं। किसी भी सॉफ़्टवेयर कम्पनी के लिए यह प्रतिशत काफ़ी बड़ा है। इंटेल, मोटोरोला, टेक्सास इंस्ट्रूमेंट्स और एनालॉग डिवाइसेज़ सहित कई कम्पनियों ने लैंग्वेज सी के लिए मुक्त जीएनयू कम्पाइलर विकसित करने के लिए एक संयुक्त कोष स्थापित करने का फ़ैसला किया है। दूसरी तरफ एडा (Ada) लैंग्वेज के वास्ते जीएनयू कम्पाइलर के लिए अमेरिकी वायुसेना पैसा मुहैया कराती है क्योंकि उसका मानना है कि बढ़िया कम्पाइलर बनाने का सबसे किफ़ायती तरीक़ा यही है (वायुसेना से आने वाली फ़ंडिंग कुछ समय पहले समाप्त हो चुकी है। जीएनयू एडा कम्पाइलर अब प्रयोग में है और उसका रखरखाव व्यावसायिक ढंग से किया जाता है।)

ये सभी उदाहरण बहुत बड़े नहीं हैं, मुक्त सॉफ़्टवेयर आंदोलन ख़ुद अभी-भी छोटा और अपने शुरुआती दौर में है। मगर अमेरिका में श्रोताओं की सहायता से चलने वाले रेडियो प्रसारण के उदाहरण से साफ़ है कि किसी लंबी-चौड़ी गतिविधि को उपभोक्ताओं से पैसा वसूले बिना भी चलाया जा सकता है।

अगर आप कम्प्यूटर का इस्तेमाल करते हैं तो मुमकिन है कि मालिकाना सॉफ़्टवेयर भी इस्तेमाल करते हों। अब यदि आपका दोस्त आपसे उस सॉफ़्टवेयर की एक कॉपी मांगता है तो उसे मना करना अनुचित होगा। आख़िर सहयोग ज़रूरी है कि कॉपीराइट! मगर चोरी-छिपे, बंद दरवाज़ों में बैठ कर बांट-चूट करना भी किसी समाज के लिए स्वस्थ लक्षण नहीं है। आदमी को सिर ऊंचा करके, खुल कर, और आत्मगौरव के साथ जीना चाहिए और इसका ठेठ मतलब है — मालिकाना सॉफ़्टवेयरों को 'अस्वीकार' कर देना।

आपका हक़ बनता है कि आप सॉफ़्टवेयर इस्तेमाल करने वाले दूसरे लोगों की खुले दिल से मदद करें। ये आपका हक़ बनता है कि आप को पता रहे कि संबंधित सॉफ़्टवेयर कैसे काम करता है, और उसके सहारे अपने विद्यार्थियों को भी शिक्षित करें। और ये भी आपका हक़ बनता है कि जब उसमें कोई ख़राबी आ जाए तो आप उसे ठीक करने के लिए अपने पसंदीदा प्रोग्रामर को ही बुलाएं। मुक्त सॉफ़्टवेयर आपका हक़ है।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

Free Software Foundation

कुछ भ्रामक/द्विअर्थी शब्द और जुमले

... जिनसे बचना चाहिए

हमारी राय में कई अल्फ़ाज़ और जुमले ऐसे हैं जिनका इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। इसकी वजह ये है कि या तो उनका मतलब पूरी तरह साफ़ नहीं है या उनसे ऐसे अर्थ उभर सकते हैं जिनसे हो सकता है आप पूरी तरह सहमत न हों।

'मुफ़्त में' (For free)

अगर आप कहना चाहते हैं कि कोई ख़ास प्रोग्राम मुक्त है तो कृपया कभी ये न कहें कि वह 'मुफ़्त में' उपलब्ध है। दरअसल 'मुफ़्त में' का एकदम सटीक मतलब ये है कि संबंधित प्रोग्राम का 'कोई दाम नहीं है'। मगर मुक्त सॉफ़्टवेयर का ताल्लुक़ दरअसल आज़ादी से है, न कि क़ीमत से।

मुक्त सॉफ़्टवेयर की कॉपी अक्सर मुफ़्त में उपलब्ध होती है — जैसे एफ़टीजी के मार्फ़त डाउनलोड कर लेना। मगर मुक्त सॉफ़्टवेयर की कॉपी सीडी रॉम की क़ीमत के एवज़ में भी उपलब्ध होती है; दूसरी तरफ़ मालिकाना सॉफ़्टवेयर की कॉपी भी प्रचार के लिए अक्सर मुफ़्त में बांटी जाती हैं, और कुछ मालिकाना सॉफ़्टवेयर कुछ ख़ास उपभोक्ताओं को सामान्यतः निःशुल्क उपलब्ध होते हैं।

बहरहाल, उलझन या दुविधा से बचने के लिए आप कह सकते हैं कि फ़लां प्रोग्राम "बतौर मुक्त सॉफ़्टवेयर" उपलब्ध है।

'फ़्रीवेयर' (Freeware)

क्योंकि मुक्त सॉफ़्टवेयर को अंग्रेज़ी में "फ़्री सॉफ़्टवेयर" कहा जाता है इसलिए कई लोग इसे 'फ़्रीवेयर' भी कहने लगे हैं। परंतु यह नामकरण ठीक नहीं है। अस्सी के दशक में 'फ़्रीवेयर' शब्द उन प्रोग्रामों के लिए इस्तेमाल होता था जो केवल बतौर executable जारी किए जाते थे और उनके स्रोत (सोर्स) कोड उपलब्ध नहीं होते थे। आज इसकी ऐसी कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं है जिस पर व्यापक सहमति हो।

इसके अलावा यदि आप अंग्रेज़ी को छोड़कर कोई दूसरी भाषा इस्तेमाल करते हैं तो 'फ़्री सॉफ़्टवेयर' या 'फ़्रीवेयर' जैसे शब्दों की नक़ल करने से बचें। इसके लिए ऐसे शब्दों को प्रचलन में लाने की कोशिश करें जो आपकी भाषा में पहले से ही मौजूद हैं क्योंकि किसी भी ज़बान में आज़ादी के पर्यायवाची शब्दों की कोई कमी नहीं है।

अपनी ज़बान में कोई शब्द गढ़ कर आप यह साफ़ कर देते हैं कि आप वाक़ई आज़ादी की बात कर रहे हैं, न कि किसी रहस्यमयी मार्केटिंग रणनीति के फ़ॉर्मूले उगल रहे हैं। हो सकता है शुरु में आपके यहां के लोगों को इस सिलसिले में आज़ादी की बात बड़ी बेतुकी लगे, मगर जल्दी ही वे भी इसके आदी हो जाएंगे और मुक्त सॉफ़्टवेयर के पीछे निहित असल संदेश को समझने लगेंगे।

दान का सॉफ़्टवेयर (Give Away Software)

यदि आप 'give away' शब्द का प्रयोग **'एक प्रोग्राम को मुक्त सॉफ़्टवेयर के रूप में वितरित करने'** के अर्थ में करना चाहते हैं तो यह ग़लत है। इस शब्द के साथ भी वही समस्या खड़ी हो जाती है जो 'मुफ़्त में' के साथ थीः ऐसा लगता है मानो मुद्दा क़ीमत का है, न कि आज़ादी का। इस भ्रम से निपटने का एक तरीक़ा यह है कि आप कहें कि 'मुक्त सॉफ़्टवेयर के रूप में जारी किया गया'।

'बौद्धिक संपदा' (Intellectual Property)

प्रकाशक और वकील कॉपीराइट को 'बौद्धिक संपदा' कहना पसंद करते हैं। इस बोझिल शब्दावली में यही भाव निहित है कि सॉफ़्टवेयर भी भौतिक वस्तुएं हैं; उन्हें भी उसी तरह अर्जित, संचित और संरक्षित किया जा सकता है।

परंतु यह तुलना ठोस वस्तुओं और सूचना के बीच सबसे अहम फ़र्क़ की अनदेखी कर देती है। ये फ़र्क़ यह है कि जहां एक तरफ़ सूचनाओं के आदान-प्रदान और उनकी कॉपी करने में तक़रीबन कोई प्रयास नहीं करना पड़ता वहीं ठोस चीज़ों के साथ ऐसा नहीं है। अपने सोच को इस सादृश्य के आधार पर विकसित करने का मतलब ही है इस फ़र्क़ की अनदेखी कर देना।

यहां तक कि अमेरिकी क़ानून भी इस तुलना को पूरी तरह स्वीकार नहीं करता क्योंकि वहां के क़ानून में कॉपीराइट को ठोस वस्तुओं के संपत्ति अधिकारों की तरह नहीं देखा जाता है।

अगर आप इस तरह की बौद्धिक क़ैद में नहीं रहना चाहते हैं तो बेहतर होगा कि आप शब्द और विचार — दोनों स्तर पर 'बौद्धिक संपदा' की चर्चा भी करना छोड़ दें।

'बौद्धिक संपदा' के साथ एक और समस्या है। 'बौद्धिक संपदा' की अवधारणा में कॉपीराइट, पेटेंट, और ट्रेडमार्क जैसी कई न्यायिक व्यवस्थाओं का सामान्यीकरण करने की कोशिश की गई है जबकि हक़ीक़त में इन सबके बीच समानताएं कम और फ़र्क़ ज़्यादा हैं। क़ानून की इन बारीकियों की अच्छी जानकारी और उनके बीच फ़र्क़ को समझे बग़ैर ग़लत-सलत नतीजों पर पहुंचने का ख़तरा बरक़रार रहेगा।

विभ्रम से बचने का सबसे बढ़िया तरीक़ा यही है कि आप 'बौद्धिक संपदा' कहने के वैकल्पिक तरीक़ों की तलाश करना छोड़ दें। इसकी जगह कॉपीराइट, पेटेंट या किसी दीगर क़ानूनी व्यवस्था की बात करना बेहतर रहेगा।

'जालसाज़ी' (Piracy)

प्रकाशक पाबंदीशुदा नक़ल को अंग्रेज़ी में अक्सर 'पायरेसी' या 'जालसाज़ी' ही कहते हैं। अगर व्युत्पत्ति पर ध्यान दें तो मतलब ये निकलता है कि नैतिक स्तर पर ग़ैरक़ानूनी नक़ल करना समुद्र में यात्रा करने वाले जहाज़ों पर हमला करने, और उन पर सवार लोगों को अगवा और क़त्ल कर देने के बराबर है।

अगर आप ग़ैरक़ानूनी नक़ल को अगवा करने या क़त्ल करने जैसा जघन्य अपराध नहीं मानते हैं तो बेहतर होगा कि आप उसे 'पायरेसी' न कहें। इसकी बजाय वहां आप 'पाबंदीशुदा कॉपीईंग' या 'प्रतिबंधित कॉपीईंग' या 'अनधिकृत कॉपीईंग' जैसे निरपेक्ष शब्दों का इस्तेमाल करें। हमारे जैसे कुछ लोग 'सूचनाओं को अपने पड़ोसी के साथ बांटने' जैसे सकारात्मक जुमले का भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

'हिफ़ाज़त' (Protection)

प्रकाशकों के वकील कॉपीराइट के संदर्भ में 'हिफ़ाज़त' शब्द का प्रयोग बड़े प्यार से करते हैं। इस शब्द में विध्वंस या पीड़ा से बचाने का आशय निहित है। यह शब्द आपको कॉपीराइट के लाभान्वित पक्ष — मालिक और प्रकाशक के साथ खड़ा कर देता है न कि उपभोक्ताओं के साथ, जिनकी आज़ादी पर कॉपीराइट से अंकुश लग जाता है।

'हिफ़ाज़त' से परहेज़ करते हुए तटस्थ क़िस्म के शब्दों का इस्तेमाल करना कठिन नहीं है। मिसाल के तौर पर अगर आप 'कॉपीराइट की हिफ़ाज़त लंबे समय तक क़ायम रहती है' के स्थान पर कहें कि 'कॉपीराइट लंबे समय तक क़ायम रहता है' — तो क्या परेशानी है? दूसरी तरफ़ यदि आप कॉपीराइट का समर्थन करने की बजाय उसकी आलोचना करना चाहते हैं तो "क़ॉपीराइट की पाबंदियों" जैसे मुहावरों का प्रयोग कर सकते हैं।

बिकाऊ सॉफ़्टवेयर (Sell Software)

'बिक्री का सॉफ़्टवेयर' अस्पष्ट उक्ति है। क़ायदे से देखा जाए तो पैसे लेकर प्रोग्राम की नक़ल की लेन-देन करना 'बेचना' ही है; लेकिन 'बेचना' शब्द जनमानस में सॉफ़्टवेयर के बाद के इस्तेमाल पर लगे मालिकाना प्रतिबन्धों से जुड़ा है। भ्रम से बचने के लिए, मंतव्य के मुताबिक़ आपका यह कहना कि यह 'शुल्क लेकर उपलब्ध कराई गई प्रति' है या फिर 'प्रोग्राम के इस्तेमाल पर प्रतिबंध लगा' है, ज़्यादा सटीक होगा।

'चोरी' (Theft)

कॉपीराइट के हिमायती स्वत्वाधिकार/कॉपीराइट के उल्लंघन की बात करते हुए 'चुरा लिया' और 'उड़ा लिया' जैसे जुमलों का खुलकर इस्तेमाल करते हैं। साथ ही वे चाहते हैं कि हम क़ानून को नैतिकता का नियामक भी मानें। यानी हम मान लें कि यदि कॉपी करने पर पाबंदी है तो कॉपी करना ग़लत ही होगा। इसलिए इस बात का उल्लेख करना प्रासंगिक है कि कम से कम अमेरिकी क़ानून कॉपीराइट के उल्लंघन को 'चोरी' नहीं मानता।

'चोरी' जैसे शब्दों का इस्तेमाल करने वाले कॉपीराइट के पैरोकार असल में उस सत्ता की ग़लत नुमाइंदगी करते हैं जिसके दरवाज़े पर वे गुहार लगाते हैं। ये ग़लतफ़हमी बहुत बड़े पैमाने पर है कि क़ानून ही सही या ग़लत तय करता है। वस्तुतः क़ानून अपने आप में अधिक से अधिक न्याय उपलब्ध कराने का प्रयास भर है। यह कहना कि क़ानून न्याय या नैतिक आचार की परिभाषा है — चीज़ों को सिर के बल खड़ा कर देना है।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

पायरेसी आपकी दोस्त है

जैरोन लैनियर

पायरेसी एक हौआ है जिसे रेकॉर्ड बनाने वाली कम्पनियां सिर्फ़ कलाकारों का ख़ून चूसने के लिए खड़ा करती हैं। जालसाज़ी हमेशा से होती रही है। किसी भी बड़े इलेक्ट्रॉनिक स्टोर में जो ढेर के ढेर कोरे कैसेट पड़े रहते हैं वे यूं ही नहीं हैं।

जब लोग आपके संगीत को कॉपी करने की बजाय ख़रीदते है तो ऐसा करने के पीछे उनके पास कई कारण होते हैं। शायद उनके लिए नैतिकता का सवाल हो। हो सकता है वह किसी चीज़ को कॉपी करने में पेश आने वाले झंझटों से बचना चाहते हों — मसलन संगीत ठीक से कॉपी हो पाएगा या नहीं? पूरा का पूरा कैसेट हुआ या नहीं? ये भी संभव है कि वे ख़रीद कर आपके प्रति अपनी सद्भावना व्यक्त कर रहे हों।

मगर इस बात को अच्छी तरह समझ लीजिए कि यदि आपका संगीत किसी भी तरह मुफ़्त उपलब्ध नहीं हुआ होता तो कोई भी व्यक्ति उसे नहीं सुन पाता और नतीजतन उसे ख़रीदने का फ़ैसला भी नहीं कर पाता। **'मुफ़्त'** संगीत का पुराना रूप रेडियो (जिसे जालसाज़ अकसर टेप कर लेते हैं) और एमटीवी था। पर अब आख़िरकार इंटरनेट इन सब पर छा जाएगा। टीवी और रेडियो तो रहेंगे पर उन्हें चलाया जाएगा डिजिटल तकनीक के ज़रिए ही। बस 10 साल और इंतज़ार कीजिए। जिस दिन ऐसा हो जाएगा उसके बाद अपने संगीत को मुफ़्त में न देने का मतलब होगा कि आप अपने संगीत का प्रचार बिल्कुल नहीं चाहते हैं।

यहां असल सवाल यह नहीं होना चाहिए कि ''मैं अपने चाहने वालों को अपने संगीत को मुफ़्त में न सुनने से रोकूं?'' बल्कि आपका सवाल यह होना चाहिए कि ''मैं अपने चाहने वालों के ज़रिए ज़्यादा से ज़्यादा पैसा कैसे बना सकता हूं?'' — ये दोनों बिल्कुल जुदा सवाल हैं। बिला शक, जालसाज़ों की वजह से आपको आर्थिक नुक़सान होता है। पर आपको नुक़सान उस रेकॉर्ड कम्पनी से भी तो होता ही है जो आपको कोई फ़ायदा नहीं पहुंचाती।

एक ज़माना था जब अपने संगीत के लिए पैसे का इंतज़ाम करने, उसे तैयार करने, रख-रखाव करने, लदवाने और बेचने के लिए आपको रेकॉर्ड कम्पनी की ज़रूरत पड़ती थी। वे इसी तरह पैसा बनाती थीं। इस बंदोबस्त का अपना एक मतलब था। यदि संगीत का बाज़ार हमारी आंखों के ऐन सामने सिकुड़ नहीं रहा होता तो बेशक इसे आज भी कारगर माना जाता।

पर आज के डिजिटल युग में, अपने संगीत को अपने किसी श्रोता तक पहुंचाने के लिए उसे परिवहन की कोई ज़रूरत नहीं है। न पैसे का ख़र्च, न वक़्त की बर्बादी। रेकॉर्ड कम्पनियों की मौजूदगी की सबसे बड़ी वजह ही नहीं रही।

जहां तक फ़ाइनांस का सवाल है, तो अगर फ़ाइनांस समझौते के एवज़ में दूसरे उद्योगों में पेशगी धन इकट्ठा कर लिया गया है तो यह फ़ाइनांसिंग सूदख़ोरी जैसी ही है – सिवाय इसके कि आप उसे क़र्ज़ नहीं कह सकते क्योंकि फ़ाइनांगिस की राशि वसूल हो जाने के बाद भी आपके संगीत की मूल या मास्टर कॉपी आपकी रेकॉर्ड कम्पनी के पास ही रहती है। फाइनांसिंग में इससे भ्रष्ट चलन की कल्पना करना भी कठिन है। इसकी बजाय यदि हम अपने करियर की ज़िम्मेदारी ख़ुद संभाल लें तो हमारी स्थिति कहीं बेहतर हो सकती है।

अगला सवाल – मार्केटिंग का क्या होगा? क्या लेबल अभी-भी मार्केटिंग करने में सक्षम हैं? जी हां, चंद बड़े कामों के लिए वे अभी भी उपयोगी हैं। पर एक बार आप के पैर जम जाएं तो उसके बाद रेकॉर्ड कम्पनी के मुक़ाबले आपकी अपनी वेबसाइट आपको आपके प्रशंसकों के साथ कहीं बेहतर तरीक़े से जोड़ सकती है।

यदि आप बहुत नामी गिरामी कलाकार हैं तो भी कुछ सालों के लिहाज़ से नहीं बल्कि अपने पूरे करियर के नज़रिए से सोच कर देखिए कि आपका ज़्यादा पैसा जालसाज़ों की जेब में जाता है या उन रेकॉर्ड कम्पनियों की, जो बिला वजह आपका बेहिसाब पैसा हज़म कर जाते हैं?

जब कोई आदमी अपने बंद कमरे में बैठकर हज़ारों डॉलर के उपकरण ख़रीदकर पूरी रात आपका संगीत 'मुफ़्त' हासिल करने के लिए एमपी3 की हैकिंग करने में काट देता है तो यह आपके लिए एक और सुनहरा मौका है न कि समस्या। यह इस बात का संकेत है कि आपको उन्मत्त प्रशंसकों की एक और पीढ़ी मिल गई है। एकमात्र समस्या यही है कि फ़िलवक़्त संगीतकारों की जगह कम्प्यूटर कम्पनियां पैसा बना रही हैं।

रेकॉर्ड कम्पनियां जालसाज़ी को नहीं रोक सकतीं। कोई नहीं रोक सकता। कम्प्यूटर के बारे में मैं भी उतना ही जानता हूं जितना पृथ्वी पर कोई और जानता होगा और मेरा दावा है कि रेकॉर्ड कम्पनी वाले अपने संगीत की नक़ल को रोकने के कैसे भी नुस्ख़े लेकर क्यों न आ जाएं, उन्हें बच्चे भी तोड़ देंगे। पूरा कम्प्यूटर और संगीत उद्योग इस बात से अच्छी तरह वाक़िफ़ है।

दरअसल संगीत को कॉपी करना जितना ज़्यादा आसान होगा जालसाज़ी का ख़तरा उतना ही कम होगा। जब जालसाज़ी आसान हो जाएगी तो पेशेवर जालसाज़ों की महारत बेमानी हो जाएगी। तब एकमात्र जालसाज़ संगीतकार के प्रशंसक ही होंगे। फिर अपने चाहने वालों से पैसा बनाने के तो ढेरों तरीक़े हैं।

रेकॉर्डिंग इंडस्ट्री एसोसिएशन ऑफ़ अमेरिका और विभिन्न रेकॉर्ड कम्पनियां जालसाज़ी-विरोधी क़ानूनों और तकनीकों को बढ़ावा देने के लिए जो ज़ोर लगा रही हैं उसका जालसाज़ी रोकने से कोई लेना-देना नहीं हैं। वे ऐसा इसलिए कर रही हैं ताकि नए डिजिटल संगीत चैनलों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकें। ताकि किसी भी दूसरे व्यक्ति को, जैसे आपको, सत्ता में भागीदारी करने से वंचित रख सकें।

वे आपको लूटने का सामान जुटा रहे हैं। बस।

'मुक्त' डिजिटल संगीत के दौर में आप कहीं ज़्यादा पैसा बना सकते हैं। पर ऐसा तभी संभव होगा जब आप ब्रैंड, लेबल और कम्पनी की नियंत्रणवादी मानसिकता से आज़ाद होंगे।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

हैकर नैतिकता

'हैकरों की नैतिकता' को संभवतः सबसे बढ़िया तरीक़े से स्टीवन लेवी की 1984 में प्रकाशित पुस्तक *हैकर्सः हीरोज़ ऑफ़ द कम्प्यूटर रेवलूशन* में पेश किया गया है। लेवी ने उनके छः सिद्धांत गिनाए हैं:

1

कम्प्यूटर — और दुनिया कैसे काम करती है इस बारे में बताने वाली किसी भी चीज़ — तक अबाध और मुकम्मल पहुंच होनी चाहिए। 'अपना हाथ जगन्नाथ' को चरितार्थ कीजिए।

2

हर तरह की सूचना मुक्त होनी चाहिए।

3

सत्ता पर यक़ीन मत करो — विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दो।

4

किसी हैकर की क़ाबिलियत का फ़ैसला उसकी हैकिंग क्षमता के आधार पर किया जाना चाहिए न कि उसकी डिग्री, उम्र, नस्ल या हैसियत के बेमानी मानदंडों की बुनियाद पर।

5

आप कम्प्यूटर पर कला और सौंदर्य रच सकते हैं।

6

कम्प्यूटर आपके जीवन को बेहतर बना सकता है।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

कॉपीराइट का पुनर्मूल्यांकनः केंद्र में जनता ही रहे

रिचर्ड स्टॉलमैन

क़ानून जगत के लोग इस बात से बख़ूबी वाक़िफ़ हैं कि डिजिटल सूचना प्रौद्योगिकी 'कॉपीराइट के लिए समस्याएं' खड़ी करती जा रही है। मगर अभी इन समस्याओं को उसके मूल कारण के साथ जोड़ कर देखना शुरु नहीं किया गया है। इन समस्याओं का मूल कारण है कॉपीराइटयुक्त रचनाओं के प्रकाशकों और इन रचनाओं के प्रयोक्ताओं/पाठकों के बीच टकराव। पिछले दिनों प्रकाशकों ने अपने हितों को ध्यान में रखते हुए क्लिंटन प्रशासन के समक्ष एक प्रस्ताव रखा जिसके ज़रिए वे इन 'समस्याओं' का अपने हित में समाधान कराना चाहते हैं। ऑरेगॉन विश्वविद्यालय में संपन्न हुए 'रचनात्मकता और सूचना वातावरण सम्मेलन' (नवंबर 1995) में चर्चा का मुख्य केंद्र लेहमन श्वेतपत्र[1] नामक यह प्रस्ताव ही था।

सम्मेलन के मुख्य वक्ता जॉन पेरी बार्लो[2] ने सम्मेलन की शुरुआत करते हुए बताया कि ग्रेटफुल डेड (Grateful Dead) इस टकराव को किस प्रकार चिन्हित और हल करती है। उन्होंने फ़ैसला किया कि उनके प्रदर्शनों को टेप पर कॉपी करने या इंटरनेट के ज़रिए बांटने की प्रक्रिया के साथ दखलंदाज़ी करना या उस पर रोक लगाना तो ठीक नहीं है, मगर संगीत की सीडी (कॉम्पैक्ट डिस्क) रिकॉर्डिंग पर कॉपीराइट थोपने में उन्हें कुछ भी ग़लत नहीं लगा।

बार्लो ने इस बात पर कोई रोशनी नहीं डाली कि इन माध्यमों को अलग-अलग नज़रिए से देखने का क्या औचित्य है। बाद में गैरी ग्लिसन[3] ने ये कहते हुए बार्लो की राय को ख़ारिज कर दिया कि इंटरनेट अपने आप में एक बिल्कुल अनूठा माध्यम है और दुनिया की किसी भी दूसरी चीज़ से उसकी तुलना करना ठीक नहीं है। उनकी दलील थी कि हमें यह समझना चाहिए कि इंटरनेट के चलते कॉपीराइट की नीति पर क्या प्रभाव पड़ सकते हैं। इसके लिए हमें उसी प्रकार विश्लेषण करना चाहिए जिस तरह हम दूसरी प्रौद्योगिकियों के विषय में करते हैं। यह पर्चा इसी दिशा में एक प्रयास है।

बार्लो का मानना था कि भौतिक पदार्थों को संपत्ति के रूप में देखने वाली हमारा सोच सूचना के संदर्भ में वैध नहीं रह जाता है। सूचना को संपत्ति नहीं माना जा सकता है क्योंकि सूचना 'अमूर्त' है। परंतु जैसा कि स्टीवन विंटर[4] कहते हैं, अमूर्त संपत्ति सदियों से हमारे परिवेश में विद्यमान रही है। किसी कम्पनी के शेयर, Commodity Futures और यहां तक कि काग़ज़ के नोट भी कमोबेश अमूर्त संपत्तियां ही हैं। सूचना मुक्त होनी चाहिए — ऐसा कहने वाले बार्लो और दूसरे लोग भी इन दूसरे क़िस्म की अमूर्त संपत्तियों को ख़ारिज नहीं करते।

इसका मतलब साफ़ है कि सूचना और संपत्ति की स्वीकार्य क़िस्मों के बीच असल फ़र्क़ उनकी अमूर्तता नहीं है। तो फिर ये फ़र्क़ क्या है? अभी मैं इसकी एक सरल और व्यावहारिक व्याख्या पेश कर रहा हूं।

अमेरिका का कॉपीराइट क़ानून कॉपीराइट को जनता और 'लेखकों' के बीच मोलभाव के रूप में देखता है (यद्यपि व्यवहार में, सौदेबाज़ी में लेखकों की भूमिका को अक्सर प्रकाशक ही हथिया लेते हैं)। इसमें जनता अपने लाभ के लिए अधिक संख्या में प्रकाशित रचनाओं के लिए अपनी कुछ स्वतंत्रताओं का परित्याग कर देती है। नए श्वेतपत्र के आने से पहले तक, अमेरिकी सरकार ने कभी इस आशय का सुझाव या संकेत नहीं दिया था कि प्रकाशित कृतियों का उपयोग करने के बदले जनता को अपनी सारी स्वतंत्रताएं गिरवी रख देनी चाहिए। कॉपीराइट के तहत कुछ स्वतंत्रताएं बरक़रार रहती हैं और कुछ ख़ास स्वतंत्रताएं समाप्त हो जाती हैं। इसका मतलब ये हुआ कि जनता प्रकाशकों के साथ कई तरह से सौदेबाज़ी कर सकती है। ऐसे में ये सवाल उठना लाज़िमी है कि जनता के लिए कौन से क़िस्म की सौदेबाज़ी सबसे फ़ायदेमंद रहेगी? वे कौन सी स्वतंत्रताएं हैं जिन्हें जनता गिरवी रख सकती है और वह कितने वक़्त के लिए ऐसा कर सकती है? इन सवालों के जवाब दो चीज़ों पर निर्भर करते हैंः एक, किसी ख़ास स्वतंत्रता का परित्याग करने के एवज़ में जनता को कितनी अतिरिक्त प्रकाशित कृतियां मिलेंगी, और दूसरा, अगर जनता उस स्वतंत्रता को बरक़रार रखना चाहती है तो उसे कितना लाभ होगा।

इससे साफ़ हो जाता है कि भौतिक पदार्थ, संपत्ति या यहां तक कि पुरानी बौद्धिक संपत्ति नीतियों के सदृश बौद्धिक संपत्ति के बारे में निर्णय लेना क्यों ग़लत है। विंटर का आग्रहपूर्ण तर्क था कि ऐसी सादृश्यताओं/तुलनाओं को विस्तार देना, अपनी पुरानी अवधारणाओं को फैला कर नए निर्णयों पर लागू करना पूरी तरह संभव है।[5] बेशक इससे हमें कुछ जवाब तो मिल जाता है — पर ये उत्तर भी बहुत बढ़िया नहीं है। हमें क्या ख़रीदना चाहिए या किस क़ीमत पर ख़रीदना चाहिए — यह तय करने के लिए सादृश्यता का सहारा लेना बहुत फ़ायदेमंद नहीं है।

मिसाल के तौर पर, अगर हमें न्यूयॉर्क में एक चौड़ी सड़क का निर्माण करना है तो इसके बारे में फ़ैसला लेने के लिए हम उसकी तुलना आयोवा शहर में सड़क बनाने के किसी पिछले निर्णय से नहीं करेंगे। हालांकि सड़क निर्माण के हर मामले में जो कारण प्रभावी होते हैं वे प्रायः समान रहते हैं (लागत, ट्रैफ़िक की तादाद, ज़मीन या मकानों को क़ब्ज़े में लेना वगैरह)। ऐसे में अगर सड़क निर्माण के बारे में निर्णय लेने के लिए हम सड़क निर्माण संबंधी पिछले निर्णयों का अनुसरण करने लगें, तो होगा ये कि या तो हम सारी प्रस्तावित सड़कें बना लेंगे या फिर एक को भी नहीं बना पाएंगे। इसकी बजाय हम प्रत्येक प्रस्तावित सड़क के बारे में फ़ैसला लेते हुए उस ख़ास प्रस्तावित सड़क के फ़ायदे-नुक़सानों का जायज़ा लेते हैं और इनका स्तर प्रत्येक मामले में अलग-अलग होता है। इसी प्रकार कॉपीराइट से जुड़े मुद्दों पर भी हमें आज की परिस्थिति और आज के माध्यमों की लाभ-हानियों को ही तौलना चाहिए न कि ये देखना चाहिए कि अतीत में दूसरे माध्यमों में हमें क्या लाभ या हानियां होती थीं।

इससे ये भी स्पष्ट हो जाता है कि लॉरेंस ट्राइब का यह सिद्धांत कॉपीराइट संबंधी निर्णयों पर लागू नहीं होता कि बोलने की स्वतंत्रता से संबंधित अधिकार माध्यम के चयन पर निर्भर नहीं होने चाहिएं।[6] कॉपीराइट जनता के साथ एक सौदेबाज़ी है न कि किसी क़िस्म का प्राकृतिक अधिकार। कॉपीराइट नीति से संबंधित मुद्दे इस बात से ताल्लुक़ रखते हैं कि जनता को किस तरह की सौदेबाज़ी से फ़ायदा होता है, न कि इस बात से कि प्रकाशकों या पाठकों के क्या अधिकार हैं।

कॉपीराइट का चलन छपाई की तकनीक के साथ वजूद में आया है। प्रिंटिंग प्रेस के ज़माने में किसी आम पाठक के लिए ये आसान नहीं था कि वह किसी किताब की कॉपी कर सके। तब एक किताब को कॉपी करने का एकमात्र ज़रिया प्रिंटिंग प्रेस था और आम पाठकों के पास प्रिंटिंग प्रेस जैसी चीज़ होने का सवाल ही नहीं था। इतना ही नहीं, अगर इस तरह कॉपी की भी जाए तो भी वो केवल तभी सस्ती या फ़ायदेमंद रहती जबकि आप उसकी काफ़ी प्रतियां बनाएं — जिसका मतलब ये था कि क़ायदे से केवल प्रकाशक ही सस्ते में किसी किताब की कॉपी या प्रतियां तैयार कर सकते थे।

इस तरह ग़ौर करने वाली बात ये है कि जब जनता ने किताबों को कॉपी करने की अपनी स्वतंत्रता प्रकाशकों को बेच दी तो असल में उन्होंने एक ऐसी चीज़ ही बेची थी जिसका वे कोई इस्तेमाल नहीं कर सकते थे। जिस चीज़ का आप इस्तेमाल नहीं कर सकते उसे देकर कोई ऐसी चीज़ ले लेना हमेशा बढ़िया ही सौदा कहलाएगा जो आपके लिए उपयोगी या फ़ायदेमंद हो। इसलिए, प्रिंटिंग प्रेस के दौर में कॉपीराइट पर किसी तरह का कोई झगड़ा नहीं था। इसकी वजह यही थी कि इससे ...आम जनता की मर्ज़ी की किसी भी गतिविधि पर कोई रूकावट नहीं पैदा होती थी।

मगर प्रिंटिंग प्रेस का ज़माना अब लदने लगा है। इस बदलाव की शुरुआत ज़ेरॉक्स/फ़ोटोस्टेट मशीनों और ऑडियो-विडियो टेपों ने की थी। डिजिटल सूचना प्रौद्योगिकी ने इसे और पुख़्तगी दे दी है। इन तरक़्क़ियों से न केवल बेहतरीन औज़ारों और मशीनों से लैस प्रकाशक, बल्कि आम आदमी के लिए भी ये बड़ा आसान हो गया है कि वह किताबों को कॉपी कर ले। और वे सब ऐसा करने लगे हैं!

एक बार ये समझ लेने के बाद कि कॉपी करना उपयोगी और व्यावहारिक गतिविधि है, आम आदमी अपनी इस आज़ादी को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। वह इस आज़ादी को बेचने की बजाय उसे बरक़रार रखना चाहता है। कॉपीराइट को लेकर अभी जिस तरह की सौदेबाज़ी मौजूद है अब वो जनता के लिए बढ़िया सौदा नहीं रह गई है और अब वक़्त आ चुका है कि उसमें रद्दोबदल किए जाएं — ये वक़्त है क़ानून में इस बात को रेखांकित करने का कि किताबों की प्रतियां बनाने और उनको आपस में साझा करने से पूरे समाज को लाभ होता है।

इस विश्लेषण से हम भली भांति समझ सकते हैं कि कॉपीराइट की पुरानी सौदेबाज़ी इंटरनेट को अवर्णनीय रूप से अनूठा मानने पर आधारित नहीं है। इंटरनेट इसलिए प्रासंगिक है क्योंकि इससे आम पाठक को भी लेखन को कॉपी करने और आपस में बांटने की सुविधा मिल जाती है। विभिन्न रचनाओं को कॉपी करना और उसे आपस में बांटना जितना आसान होता जाएगा, यह अधिकार उतना ही फ़ायदेमंद होता जाएगा और कॉपीराइट के ज़रिए मौजूदा क़िस्म का मोलभाव उतना ही घाटे का सौदा बनता चला जाएगा।

इस विश्लेषण से ये भी साफ़ हो जाता है कि ऐसा क्यों है कि Grateful Dead में सीडी मैन्युफ़ैक्चरिंग को तो कॉपीराइट के दायरे में रखा गया है जबकि व्यक्तिगत कॉपीईंग पर कोई रोक नहीं लगाई जा रही है। सीडी उत्पादन की प्रक्रिया काफ़ी कुछ प्रिंटिंग प्रेस जैसी ही है। किसी आम आदमी, भले ही उसके पास ख़ुद अपना कम्प्यूटर ही क्यों न हो, के लिए भी एक सीडी से दूसरी सीडी तैयार करना बहुत सस्ता मामला नहीं है। इसलिए संगीत की सीडी के प्रकाशन के कॉपीराइट पर संगीत सुनने वालों को अभी भी कोई एतराज़ नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे प्रिंटिंग प्रेस के ज़माने में उन्हें किसी भी क़िस्म के कॉपीराइट पर कोई एतराज़ नहीं था। मगर उसी संगीत को डिजिटल ऑडियो टेप पर उतारने को लेकर जो पाबंदियां लगाई जाती हैं उनसे संगीत सुनने वालों को वाक़ई परेशानी होती है और उन्हें पूरा हक़ है कि वे इन पाबंदियों को ख़ारिज कर दें। (1999 की टिप्पणीः अब सीडी के मामले में व्यावहारिक स्थिति बदल चुकी है। आज कम्प्यूटर इस्तेमाल करने वाले बहुत से आम लोग भी सीडी को आसानी से कॉपी कर सकते हैं। इसका मतलब ये हुआ कि अब हमें सीडी को भी टेप की तरह ही देखना चाहिए)।

यहां हम ये भी देख सकते हैं कि बौद्धिक संपदा की अमूर्तता बहुत महत्वपूर्ण तत्व क्यों नहीं है। अमूर्त संपत्ति की दूसरी क़िस्मों में किसी चीज़ के हिस्से होते हैं। इसमें किसी भी क़िस्म के हिस्से की कॉपी करने पर भी इस लेन-देन का कुल जमा सिफ़र ही निकलता है, यानी जो आदमी फ़ायदा लेता है उसे दूसरे के नुक़सान की क़ीमत पर ही फ़ायदा होता है। मिसाल के तौर पर एक डॉलर नोट को रंगीन कॉपियर मशीन के ज़रिए कॉपी करने का मतलब होगा शेष सभी डॉलर में से उनके मूल्य का एक छोटा अंश काट देना और इन अंशों को जोड़कर उस नए डॉलर में मूल्य पैदा करना। लाज़िम है कि हम इसे ग़लत मानते हैं।

इसके ठीक उलट, अपने दोस्त के लिए किसी उपयोगी, ज्ञानवर्धक या मनोरंजक सूचना को कॉपी करने से दुनिया की ख़ुशियों और संपन्नता में इज़ाफ़ा ही होता है। इससे आपके दोस्त को तो फ़ायदा होता ही है, साथ ही किसी को कोई नुक़सान भी नहीं होता। ये एक रचनात्मक क्रिया है जिससे सामाजिक संबंधों में घनिष्ठता आती है।

मुमकिन है कि कुछ लोगों को इस बयान पर थोड़ी परेशानी हो क्योंकि वे प्रकाशकों के इस दावे से वाक़िफ़ हैं कि ग़ैरक़ानूनी कॉपीईंग से उन्हें 'नुक़सान' होता है। ये दावा मोटे तौर पर ग़लत और एक हद तक गुमराह करने वाला है। इससे भी ज़्यादा अहम बात ये है कि इस दावे से कई सवाल खड़े हो जाते हैं।

- ये दावा मोटे तौर पर इसलिए ग़लत है, या सटीक नहीं है क्योंकि इसमें ये मान कर चला जाता है कि अगर आपके दोस्त को आपसे कॉपी नहीं मिलती तो वो उसे प्रकाशक से ही ख़रीदता। ये बात कभी-कभी सही होती है। मगर जब ये तर्क ग़लत पड़ता है तब कोई कथित नुक़सान नहीं होता।
- ये दावा इसलिए एक हद तक गुमराह करने वाला है क्योंकि 'नुक़सान' शब्द से जिस क़िस्म की घटनाओं का संकेत मिलता है वे बिल्कुल अलग क़िस्म की होती हैं — ऐसी घटनाएं जिनमें व्यक्ति की कोई चीज़ उससे बाक़ायदा छीन ली जाती है। मिसाल के तौर पर, अगर किसी किताब की दुकान में रखी किताबों में आग लग जाए या बही में दर्ज पैसे न मिल पाएं तो ये वाक़ई 'नुक़सान' है। हम आमतौर पर इस बात से सहमत हैं कि दूसरे लोगों के साथ ऐसा करना ग़लत है। मगर जब आपका दोस्त किसी किताब की कॉपी न ख़रीदने का फ़ैसला करता है तो बुकस्टोर या प्रकाशक को ऐसी किसी चीज़ का नुक़सान नहीं होता जो अभी तक उसके पास थी। इसी बात की ज़्यादा सटीक व्याख्या के तौर पर ये ज़रूर कहा जा सकता है कि अब उस बुकस्टोर या प्रकाशक को संभवतः उतनी आय नहीं होगी जितनी होने की संभावना थी। पर ऐसा तब भी हो सकता है जब आपका दोस्त किताब पढ़ने की बजाय ताश खेलने का फ़ैसला कर ले। मुक्त बाज़ार व्यवस्था में किसी व्यवसाय में सिर्फ़ इस आधार पर 'बेईमानी' का शोर मचाने का कोई मतलब नहीं है कि आपके किसी संभावित ख़रीदार ने आपके साथ सौदा करने से इनकार कर दिया है।
- इस दावे से सवाल इसलिए खड़ा होता है क्योंकि 'नुक़सान' का विचार इस मान्यता पर आधारित है कि प्रकाशक को "भुगतान किया जाना चाहिए" था। और ये सोच इस मान्यता पर आधारित है कि कॉपीराइट की व्यवस्था वजूद में है और उसके तहत व्यक्तिगत पैमाने पर कॉपीईंग प्रतिबंधित है। पर हमारे सामने यही तो सवाल हैः कॉपीराइट का दायरा कहां तक होना चाहिए? अगर जनता तय करती है कि वह किताब की प्रतियों का आदान-प्रदान कर सकती है तो प्रकाशक को ये अधिकार नहीं है कि वह ये आशा करे कि उसे प्रत्येक कॉपी के लिए भुगतान किया जाएगा। और इसीलिए वह ये दावा भी नहीं कर सकता कि उसे 'नुक़सान' हुआ है क्योंकि हक़ीक़त में उसे कोई नुक़सान नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में, 'नुक़सान' कॉपीराइट व्यवस्था की वजह से होता है; ये नक़ल की प्रक्रिया में निहित नहीं है। अपने आप में कॉपीईंग से किसी को कोई चोट नहीं पहुंचती।

श्वेतपत्र के जिस प्रावधान का सबसे ज़्यादा विरोध किया जा रहा है वह सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था है। इसके अंतर्गत कम्प्यूटर के मालिक को उसके कम्प्यूटर का इस्तेमाल करने वाले सभी लोगों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखना होगा। यदि वह ऐसा करने में चूक जाता है तो उसको इस बात के लिए दंडित किया जाएगा कि भले ही उसने ख़ुद कोई ग़लती न भी की हो, मगर वह अपने संसाधनों का दुरुपयोग रोक पाने में तो नाकाम रहा ही है। टिम स्लोआन[7] ने इस बात को रेखांकित किया है कि इससे कॉपीराइट मालिकों को ऐसी हैसियत मिल जाएगी जो और किसी भी व्यवसायी को प्राप्त नहीं है। इससे वे किसी कम्प्यूटर प्रयोक्ता के हाथों क्षति का दावा कर सकते हैं। मिसाल के तौर पर, ऐसा प्रस्ताव अभी किसी ने नहीं रखा है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कम्प्यूटर के ज़रिए किसी व्यक्ति को बदनाम करता है तो कम्प्यूटर मालिक को उसे ऐसा करने से न रोक पाने में विफलता के लिए दंडित किया जाए। जिस क़ानून में ज़्यादातर नागरिकों को विश्वास न हो उसे लागू करने के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व का सहारा लेना सरकार के लिए तो लाज़िमी ही है। डिजिटल टेक्नॉलजी सूचना का आदान-प्रदान करने में लोगों को जितनी ज़्यादा आसानी मुहैया कराती जाएगी, आम नागरिकों पर कॉपीराइट थोपने के लिए सरकार की तरफ़ से एक से बढ़कर एक डरावने क़ानूनों की ज़रूरत भी उतनी ही बढ़ती जाएगी।

जब संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान लिखा जा रहा था उस समय ये सुझाव रखा गया था कि लेखकों को एकाधिकारी कॉपीराइट मिलना चाहिए। पर इसे ख़ारिज कर दिया गया था[8]। इसकी बजाय हमारे

देश (अमेरिका) के संस्थापकों ने कॉपीराइट के एक अलग विचार को मंज़ूरी दी। इस विचार में जनता को आगे रखा गया था[9]। अमेरिका में कॉपीराइट का प्रावधान दरअसल प्रयोक्ताओं के हित में किया गया था। प्रकाशकों और यहां तक कि लेखकों को भी जो फ़ायदे दिए गए हैं वे इन पक्षों को फ़ायदा पहुंचाने भर के लिए ही नहीं दिए गए हैं बल्कि इनका प्रावधान उन्हें अपना व्यवहार बदलने के लिए प्रेरित करने के लिए किया गया था। जैसा कि फ़ॉक्स फ़िल्म कॉर्पोरेशन बनाम डॉयल मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा थाः "(कॉपीराइट) एकाधिकार प्रदान करने के पीछे संयुक्त राज्य का एकमात्र हित और मूल उद्देश्य लेखकों के परिश्रम से जनता को लाभ पहुंचाना ही है।"[10]

कॉपीराइट को लेकर संविधान की राय यह है कि यदि जनता कुछ मामलों में लिखित रचनाओं की प्रतियां बनाना चाहती है, यहां तक कि भले ही इसकी वजह से प्रकाशित होने वाली रचनाओं की संख्या में कमी ही क्यों न आ जाए, तो जनता की इच्छा ही निर्णायक मानी जाएगी। इसका कोई संभव औचित्य नहीं है कि जनता को उन चीज़ों की कॉपी करने से रोका जाए जिनकी वह कॉपी करना चाहती है।

संवैधानिक निर्णय आ जाने के बाद से तमाम प्रकाशक जनता को ग़लत सूचनाएं देकर उसे पलटवाने की कोशिश किए जा रहे हैं। इसके लिए वे उन्हीं तर्कों को दोहराते रहते हैं जिनमें इस बात को ही प्रस्थानबिंदु के रूप में लेकर चला गया है कि कॉपीराइट लेखकों का प्राकृतिक अधिकार है (हालांकि वे इसकी चर्चा भी नहीं करते कि लेखक प्रायः हमेशा अपने इस अधिकार को प्रकाशकों के हवाले कर देते हैं)। जो लोग इन तर्कों को सुनते हैं, अगर वे इस बात से नावाक़िफ़ हैं कि यह मान्यता हमारे क़ानून के ख़िलाफ़ है, तो वे सहज ही मान लेते हैं कि हमारे क़ानून के हिसाब से यही बात सही है।

ये सोच हमारे समाज में इतनी गहराई तक पैर जमाए हुए है कि जो लोग नई कॉपीराइट शक्तियों का विरोध करते हैं उन्हें ये तर्क तक देना पड़ रहा है कि इससे स्वयं लेखकों और प्रकाशकों को भी परेशानी उठानी पड़ सकती है। इसलिए जेम्स बॉयल[11] स्पष्ट करते हैं कि एक कड़ी बौद्धिक संपदा व्यवस्था नई कृतियों के लेखन को बाधित कर सकती है। जेसिका लिटमैन[12] कॉपीराइट से बचाव के ऐसे ठिकानों की चर्चा करती हैं जिन्होंने अनेक नए माध्यमों के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। पामेला सैमुअल्सन[13] आगाह करती हैं कि इस श्वेतपत्र से सूचना उद्योग की 'तीसरी लहर' पैदा होने से रह जाएगी। उनके अनुसार जब तक इम प्रिंटिंग प्रेस के युग वाले 'दूसरी लहर' के आर्थिक मॉडल में बंधे रहेंगे तब तक 'तीसरी लहर' के उठने की गुंजाइश ही नहीं पैदा होगी।

ये तर्क उन मुद्दों पर बेहद प्रभावी हो सकते हैं जहां वे उपलब्ध हैं, विशेषकर, 'जो सामान्य मीडिया के लिए अच्छा है वही अमेरिका के लिए भी अच्छा है'— इस सोच से लैस अमेरिकी काँग्रेस और प्रशासन में। पर ये तर्क उस मूल दोष को बेनक़ाब करने से चूक जाते हैं जिस पर यह सोच आधारित है। नतीजतन लंबे समय में ये बहुत कामयाब नहीं हैं। जब ये तर्क किसी एक जगह कामयाब हो जाते हैं तो भी वे ऐसी आम समझ विकसित नहीं कर पाते जिसके सहारे अगली लड़ाई जीती जा सके। अगर हम इन तर्कों का बहुत अधिक और बार-बार सहारा लेने लगें तो ख़तरा इस बात का भी है कि हम प्रकाशकों को संविधान को निष्प्रभावी बनाने का मौक़ा दे देंगे।

मसलन, डिजिटल फ़्यूचर कोअलिशन (यह एक छाता संगठन है जिसमें कई अलग संगठन शामिल हैं) के पिछले दिनों प्रकाशित वक्तव्य में श्वेतपत्र का विरोध करने के कई कारणों की फ़ेहरिस्त दी गई है। इसमें लेखकों, पुस्तकालयों, शिक्षा जगत, ग़रीब अमेरिकियों, प्रौद्योगिकीय प्रगति, आर्थिक लचीलेपन, और निजता आदि सभी चिंताओं को समाहित किया गया है — और ये सभी बातें अपनी जगह बिल्कुल सही भी हैं, पर मोटे तौर पर मुख्य मुद्दे पर रौशनी नहीं डाल पातीं।[14] ये बड़ी संदेहजनक बात है कि इसमें सबसे अहम कारण ही ग़ायब हैः कि बहुत सारे (बल्कि ज़्यादातर) अमेरिकी कॉपी बनाना जारी रखना चाहते हैं। डीएफ़सी श्वेतपत्र के केंद्रीय उद्देश्य की आलोचना में चूक जाता है। श्वेतपत्र में प्रकाशकों की शक्तियों में वृद्धि करने की वकालत की गई है और उसकी पुरज़ोर कोशिश यही है कि संविधान को ख़ारिज करके किसी भी तरह प्रकाशकों को प्रयोक्ताओं के ऊपर तरजीह दिला दी जाए। इस बिंदु पर ख़ामोशी को रज़ामंदी की निशानी भी समझा जा सकता है।

प्रकाशकों के अधिकारों में इज़ाफ़े की कोशिशों का विरोध इसी बात पर निर्भर करता है कि समाज में इस बात को व्यापक स्वीकार्यता मिले कि पढ़ने-सुनने वाले लोगों के हित ही सबसे अहम हैं; और, कि कॉपीराइट का प्रावधान प्रयोक्ताओं के हित में किया गया था न कि प्रकाशकों के हित में। यदि जनता कुछ कॉपीराइट शक्तियों को स्वीकार करने की इच्छुक नहीं है तो इसका मतलब ही है कि वह अपने अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं है। जनता और विधायिका को कॉपीराइट के मक़सद और सूचनाओं के मुक्त प्रवाह की संभावनाओं के बारे में याद दिलाकर ही यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि जनता के हितों को सर्वोपरि स्थान मिले।

कॉपीराइट 1996, रिचर्ड स्टॉलमैन: इस आलेख की शब्दशः कॉपीईंग और वितरण पर कोई रोक नही है, बशर्ते इस सूचना को यथावत बनाए रखा जाए।

संदर्भ

1. इनफ़ॉर्मेशनल इन्फ्रास्ट्रक्चर टास्क फ़ोर्स, इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी एंड द नैशनल इन्फ़ॉर्मेशन इन्फ्रास्ट्रक्चरः द रिपोर्ट ऑफ़ द वर्किंग ग्रुप ऑन इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स (1995).
2. जॉन पेरी बार्लो, रचनात्मकता एवं सूचना वातावरण सम्मेलन (नवंबर 1995) के अवसर पर की गई टिप्पणियां. श्री बार्लो इलेक्ट्रॉनिक फ्रंटियर फ़ाऊंडेशन के संस्थापकों में से एक हैं. यह संगठन डिजिटल मीडिया में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बढ़ावा देता है. श्री बार्लो ग्रेटफुल डेड के गीतकार भी रह चुके हैं.
3. गैरी ग्लिसन, रचनात्मकता एवं सूचना वातावरण सम्मेलन (नवंबर 1995) के अवसर पर की गई टिप्पणियां। इसे भी देखें, गैरी ग्लिसन, 'ए प्रैक्टीशनर्स डिफेंस ऑफ़ दि एनआईआई व्हाईट पेपर', *75 ओआरएल रिव्यू* (1996) (श्वेतपत्र के समर्थन में). श्री ग्लिसन, पोर्टलैंड, ओरेगॉन स्थित लेन पॉवेल स्पियर्स ल्यूबर्स्की में इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी ग्रुप के साझीदार और निदेशक हैं.
4. स्टीवन विंटर, रचनात्मकता एवं सूचना वातावरण सम्मेलन (नवंबर 1995) के अवसर पर की गई टिप्पणियाँ.श्री विंटर मियामी स्कूल ऑफ़ लॉ में प्रोफ़ेसर हैं.
5. विंटर, उपरोक्त टिप्पणी 4.
6. देखें लॉरेंस एच. ट्राईब, 'द कांस्टीट्यूशन इन साइबरस्पेसः लॉ एंड लिबर्टी बियॉंड दि इलेक्ट्रॉनिक फ्रंटियर', *ह्यूमैनिस्ट*, सितंबर-अक्तूबर 1991, पृ. 15.
7. टिम स्लोआन, रचनात्मकता एवं सूचना वातावरण सम्मेलन (नवंबर 1995) के अवसर पर की गई टिप्पणियां. श्री स्लोआन राष्ट्रीय दूरसंचार एवं सूचना प्रशासन के सदस्य हैं.
8. देखें जेन सी. गिंसबर्ग, *ऑफ़ ऑथर्स एंड ओरिजिंसः एस्सेज़ ऑन कॉपीराइट लॉ* 131, 137-38 (ब्रैड शर्मान एवं एलन स्ट्रोवेल, सं, 1994) में 'ए टेल ऑफ़ टू कॉपीराइट्सः लाईब्रेरी प्रॉपर्टी इन रिवॉल्यूशनरी फ्रांस एंड अमेरिका' (यह कहते हुए कि संविधान निर्माताओं का आशय या तो यह था कि **लेखकों के हितों को सार्वजनिक हित के मातहत रखा जाए** या कि **निजी और सार्वजनिक हितों को ... बराबर माना जाए**).
9. अमेरिकी संविधान, धारा I, 8, अनुच्छेद 8 ("कॉंग्रेस को अधिकार होगा..... विज्ञान एवं उपयोगी कलाओं को प्रोत्साहित और विकसित करने का. इसके लिए उसे लेखकों और आविष्कारकों के लेखन और आविष्कारों पर निरापद अधिकार के लिए एक समयसीमा निश्चित करने का अधिकार होगा").
10. 286, संयुक्त राज्य अमेरिका, 123, 127 (1932).
11. जेम्स बॉयल, रचनात्मकता एवं सूचना वातावरण सम्मेलन (नवंबर 1995) के अवसर पर की गई टिप्पणियाँ. श्री बॉयल वॉशिंगटन, डी सी स्थित अमेरिकन यूनिवर्सिटी में क़ानून के प्रोफ़ेसर हैं.
12. जेसिका लिटमैन, रचनात्मकता एवं सूचना वातावरण सम्मेलन (नवंबर 1995) के अवसर पर की गई टिप्पणियाँ. सुश्री लिटमैन डेट्रॉयट, मिशीगन स्थित वायने यूनिवर्सिटी लॉ स्कूल में प्रोफ़ेसर हैं.

13. पामेला सैमुअल्सन, 'दि कॉपीराईट ग्रैब', *वायर्ड*, जनवरी 1996. सुश्री सैमुअल्सन कॉर्नेल लॉ स्कूल में प्रोफ़ेसर हैं.
14. डिजिटल फ़्यूचर कोअलिशन, यह व्यापक गठबंधन बौद्धिक संपदा संबंधी प्रस्तावों पर चिंता व्यक्त करता है, नवंबर (15, 1995).

यह लेख 1996 में ऑरेगॉन लॉ रिव्यू में प्रकाशित हुआ था।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

टैक्टिकल मीडिया

एक अंतरंग निर्देशिका

गीयर्ट लोविंक

“वह ज़िन्दगी क्या जो न उकसे न उकसाये।”

- गॉटफ़्रीड बेन

रैडिकल व्यावहारिकता और मीडिया ऐक्टिविज़्म को निहिलिज़्म के आनंददायक स्वरूपों के साथ जोड़ने में एक प्रतिबद्धता तो है।[1] यह सहस्राब्दी के महाप्रभुओं और उत्तर-आधुनिकता की प्रलयंकारी भविष्यवाणी व शिकायत की संस्कृति नहीं है, बल्कि दैत्य की अंतड़ियों में घुसकर रिपोर्ट करने की ऐसी शौर्यगाथाएं हैं जो नेटवर्क पर हर रोज़ घटती हैं। टैक्टिकल नेटवर्क कुल मिलाकर एक-दूसरे से होड़ लेती और परस्पर नत्थम-गुत्था अवधारणाओं के काल्पनिक आदान-प्रदान का दूसरा नाम है। एक अनिवार्य भ्रम। इसमें जो चीज़ लगातार यहां-वहां तैरती है वह है मॉडल, अफ़वाहें, इस तरह की दलीलें और तजुर्बे कि सांस्कृतिक एवं राजनैतिक गतिविधियों को किस तरह आयोजित किया जाना चाहिए, प्रॉजेक्ट्स के लिए फ़ायनांस जुटाने का तरीक़ा क्या हो, अनौपचारिक मगर भरोसेमंद नेटवर्क के लिए इन्फ़्रास्ट्रक्चर कैसे खड़ा करके उसे चलाया जाए। और इन्हीं की वजह से मौजूदा पूंजीवादी क़यामत क़ाबिले-बर्दाश्त बन पाती है।

पॉल शेफ़ियार्ड: “रणनीति एक प्रेरणा है, एक विहंगम दृष्टि। उस रणनीति के क्रियान्वयन के लिए तैयार हिस्सों को सही जगह बिठाना रणकौशल या टैक्टिक्स है। संचालन (operation) इस पूरी प्रक्रिया को सम्पन्न करना है। जी हां, इस सिद्धांत का जन्म एक सैनिक गर्भ से हुआ है...। परंतु आज यह हमारे प्रयासों का विश्लेषण है और ऐसी किसी भी स्थिति में उपयोगी है जहां इरादों और साधनों को एक दूसरे के साथ जोड़ने की ज़रूरत है।”[2] परिभाषा पहले, बातें बाद में। टैक्टिकल मीडिया 1989 के बाद की संरचनाएं हैं।[3] ये कुछ गंदे और क्षुद्र तौर-तरीक़ों का समुच्चय है। अगर आप चाहें तो इसे डिजिटल युग की माइक्रो-राजनीति कह सकते हैं। टैक्टिकल मीडिया को ‘वैकल्पिक’ (alternative) मीडिया की विरासत मिली है परंतु फिर भी न तो उस पर प्रतिसंस्कृति की मुहर लगी है और न ही वह पिछले दशकों की निश्चिंतताओं का शिकार है।[4] तटस्थ और अपेक्षाकृत ज़्यादा टैक्टिकल शब्द ‘स्वतंत्र मीडिया’ (independent media) के साथ उसका एक दोस्ताना संबंध है। उदाहरण के लिए, यह संबोधन “स्वतंत्र मीडिया केंद्र” के फ़ॉर्म्यूले में इस्तेमाल होता है। स्वतंत्र मीडिया केंद्र उन कामचलाऊ प्रेस केंद्रों को कहा जाता है जिन्हें राजनेताओं और व्यावसायिक नेताओं की शिखर बैठकों के विरोध की प्रक्रिया में स्थापित किया जाता है।[5]

‘टैक्टिकल टेलीविज़न’ शब्द की शुरुआत पहले Next Five Minutes (N5M / अगले पांच मिनट) की बैठक की तैयारी के दौरान हुई थी। यह सम्मेलन ऐम्स्टर्डम के पॉप मंदिर पैराडिसो में 1993 के शुरुआती महीनों में आयोजित किया गया था।[6] हालांकि यह एक वैश्विक जमावड़ा था परंतु N5M में दो बिल्कुल अलग-अलग सांस्कृतिक समुदायों के बीच एक बड़े पैमाने की मुठभेड़ ही हावी रही। एक तरफ़ तो पश्चिमी युरोपीय और उत्तर अमेरिकी अभियान मीडिया कलाकार और कार्यकर्त्ता थे और दूसरी तरफ़ मध्य एवं पूर्वी युरोप के भूतपूर्व साम्यवादी देशों के अभियान मीडिया कलाकार और कार्यकर्त्ता, असंतुष्ट कलाकार और सामिज़्दात कार्यकर्त्ता थे जो साम्यवादी

nettime mailing list - Mozilla {Build ID: 2002041711}
File Edit View Go Bookmarks Tools Window Help Debug QA
Back Forward Reload Stop
http://www.nettime.org/
Search
Print
Home Bookmarks The Mozilla Organiza... Latest Builds
nettime-bold Oct 00 by Thread
Messages are listed by thread. The last update was on 22:07 GMT Fri Apr 20. There are 663 messages.
[Date Index] [Other Lists] [Home]
[Nettime-bold] an alternate universe, far far away... Jonathan Prince
[Nettime-bold] STEPHEN RAPPAPORT 10 OKT Replica fall 2000
[Nettime-bold] Re: RHIZOME_RAW: Multimedia: From Wagner to Virtual Reality Nmherman
[Nettime-bold] http://www.eusocial.com/konkurs/00.html Nmherman
Re: [Nettime-bold] http://www.eusocial.com/konkurs/00.html aufhebung
[Nettime-bold] In Memoriam/Artery: The AIDS-Arts Forum Robert Atkins
[Nettime-bold] Fwd: http://time.arts.ucla.edu/ Nmherman
[Nettime-bold] Fwd: RHIZOME_RAW: Fwd: http://time.arts.ucla.edu/ Nmherman
[Nettime-bold] Re: <nettime> retro-push: Content as Currency Lan
[Nettime-bold] Reach Millions of people with 1 CD Charles.Hughes
[Nettime-bold] [ot] [!nt] \n2+0\ doubl eko. ! repeat. dzere r 2 ov m! integer
[Nettime-bold] Prague "Marcos' Victory." ricardo dominguez
[Nettime-bold] Borblog! 0.3 teleferique
[Nettime-bold] See where we can take you ora11
[Nettime-bold] Deadline Reminder: Promoting Participation in CD Workshop Deadline 10/30/00 Tony Hebert
[Nettime-bold] Re: <nettime> books and cdroms Roberto Verzola
<Possible follow-up(s)>
[Nettime-bold] Re: <nettime> books and cdroms Roberto Verzola
[Nettime-bold] ICA e-vents [october 00] Tom Holley (by way of richard barbrook)
[Nettime-bold] ICG Zimbabwe briefing ICG Email (by way of richard barbrook)
[Nettime-bold] secret documents on US nuclear force in the Netherlands published Eveline Lubbers
[Nettime-bold] NEWS: What Open Source promises the Third World.... Frederick Noronha
[Nettime-bold] Book/Ends Conference Danny Goodwin
Document: Done (0.08 secs)
Start
01Hindi_reader
QuarkXPress (tm)
nettime mailing list - ...
5:19 PM

अधिनायकतंत्रों को गिराने की उपलब्धि पर अभी भी मुदित थे। एक-दूसरे को जानने की उत्तेजना में ये दोनों समुदाय अपने पारस्परिक सैद्धांतिक मतभेदों को भूलने की तरफ़ प्रवृत्त दिखाई देते थे। इस तरह सम्भवतः वह संगठनीकरण और सामाजिक गोलबंदी के साधन के तौर पर उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिक्स (1993 में अधिकांशतः वीडियो कैमकॉर्डर) की 'टैक्टिकल' संभावनाओं की पड़ताल की साझा रुचि पर बल दे रहे थे। हालांकि इन दोनों समूहों के बीच जो मतभेद थे, उन्हें तात्कालिक रूप से भले ही दरकिनार कर दिया गया था परंतु वास्तव में ये बहुत गहन और तीखे दृष्टिभेद थे।

संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी युरोप में उस समय भी और आज भी टैक्टिकल मीडिया अधिकांशतः अभियानों का ही मीडिया है। वहां उसे व्यापक आधार वाले सामाजिक आंदोलनों के रूप में नहीं देखा जाता है। और यह मीडिया अपने अलग-अलग एजेंडा और शब्दावली के साथ स्थानीय पैमाने की पहलक़दमियों में जमा हुआ है। ये दबे-कुचलों की पीड़ा या सामान्य प्रतिरोध को अभिव्यक्ति देने वाले मेगाफ़ोन नहीं हैं। एक ज़माना था जब पश्चिम में ऐसे आंदोलन हुआ करते थे जिनमें कोई एक मात्र नारा नहीं होता था। टैक्टिकल मीडिया 'अत्यंत रैडिकल भंगिमाओं' के साथ जीवन के हरेक आयाम पर प्रश्न खड़ा कर रहे हैं। परंतु अब वहां व्यापक जनाधार वाले मुक्तिकामी आंदालनों से कटे हुए अभियानों की पूरी भीड़ है। इसके विपरीत मध्य एवं पूर्वी युरोपीय मीडिया रणनीतिकार, या जिसे सामिज़्दात मीडिया कहा जाता है, वे विराट ऐतिहासिक उथल-पुथल का अभिन्न अंग रहे हैं। वह सोवियत साम्राज्य के विखंडन को जन्म देने वाले अचानक पैदा हुए आंदोलनों का हिस्सा थे। इनके बारे में सियापा करने की कोई आवश्यकता नहीं है; ये मुक्ति के क्षण थे।

प्रतिरोध अब जीवनशैली से कट चुका है। वैसे तो प्रतिरोध में नाना प्रकार की शैलियाँ होती हैं, परंतु ख़ुशक़िस्मती से, और फ़ैशन के चिड़ीमारों की बदक़िस्मती से, अपने आप में अब यह कोई शैली ही नहीं रहा। किसी को विशुद्धतः उसके बाहरी दिखावे के आधार पर आंकना अब नामुमकिन हो चुका है। बेशक रेगे और टेक्नो स्टाइल — दोनों में सार्थक और समग्र विचार, मूल्य और संकेत निहित हैं; परंतु उनसे किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण या तौर-तरीक़ों के बारे में कुछ पता नहीं चलता। दृश्य संस्कृति अपने आप में एक विस्फोटक दुनिया बन चुकी है। शब्दशः प्रत्येक विद्रोही अभिव्यक्ति को फोड़ा और मिलाया जा सकता है — और ऐसा कर लिया जाएगा। यह इतनी हताशाजनक स्थिति है कि बेहतर होगा कि इस फोड़-मिलाऊ विमर्श को पूरी तरह ही दरकिनार कर दिया जाए। हालांकि टैक्टिकल मीडिया की अवधारणा में वैकल्पिक मीडिया भी शामिल है परंतु यह वहीं तक सीमित नहीं है। टैक्टिकल शब्द को उन कड़ी सीमाओं को तोड़ने और उनके पार जाने के लिए प्रयोग में लिया गया था जो इस क्षेत्र के सोच को इतने लम्बे समय तक एक दायरे में बांधे रहा था। मिश्रित रूप हमेशा ही फ़ौरी होते हैं। जो चीज़ अहमियत रखती है वह है पुराने और नए, व्यवहार और सिद्धांत तथा वैकल्पिक और मुख्यधारा के बीच फ़ौरी संबंध; और उसके बाद उन्हें दोबारा एक-दूसरे से अलग करने की प्रक्रिया। यह केवल व्यक्तिगत रुझान ही नहीं बल्कि स्थानीय परिस्थितियों से भी परिभाषित होता है। ऐम्स्टर्डम में नए और पुराने मीडिया के लिए स्थानीय टीवी, पायरेट रेडियो, डिजिटल शहरों और क़िलों तक सहज पहुंच उपलब्ध है। दीगर जगहों पर यही भूमिका रंगमंच, पत्रिकाएं, सड़कों पर होने वाले प्रदर्शन, किताबें, गप्पबाज़ी के अड्डे और क्लब, प्रायोगिक फ़िल्में, ग्राफ़ीती, बहसें, साहित्य और फ़ोटॉग्रफ़ी निभाते हैं।

प्रथम N5M के छः वर्ष बाद मार्च 1999 में 'टैक्टिकल नेटवर्क्स' पर आयोजित तृतीय N5M सम्मेलन के दौरान कोसोवो युद्ध की आसन्न आशंका में ग़ैरजवाबदेह वैश्विक पूंजीवाद के परिणामों ने गहरी चोट पहुंचाई। वैश्विकता को केवल निवेशक घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथों छोड़ देने की बजाय यह समूह वैश्विक पूंजी से वैश्विक अभियानों के सहारे ही दो-दो हाथ कर रहे थे। और इन रणनीतियों में इस बात की एक क्षीण सी आशा भी थी कि यदि किसी अभियान में पर्याप्त गति और पर्याप्त लोगों की हिस्सेदारी आ जाए तो हो सकता है कि उसमें आंदोलन जैसी कुछ ख़ासियतें पैदा हो उठें। यानी अनुकृति बनाम 'असली' हस्तक्षेप। टैक्टिकल मीडिया समूहों के सामने आज जिस तरह के सवाल आ रहे हैं, उनमें तात्कालिकता का जैसा आग्रह दिखाई देता है, उससे ऐसे किसी भी व्यवहार के इर्द-गिर्द कला और मीडिया से जुड़े सवाल पैदा करने वाला बड़ा क्रुद्ध संदेह पैदा होता है। पुराने क़िस्म के कार्यकर्त्ताओं के लिए समीकरण बहुत आसान है, विमर्श+कला = धमाकेदार

तमाशा। वे वास्तविक हस्तक्षेप और महज़ प्रतीकात्मक कार्यवाही के बीच फ़र्क़ पर काफ़ी ज़ोर देते हैं। जैसा कि 1847 में अपनी डायरी में सॉरेन किर्केगार्ड ने लिखा थाः "क्रांतिकारी काल हस्तक्षेप का काल होता है; हमारा काल विज्ञापन और प्रचार का काल है। हालांकि कहीं कुछ होता नहीं है मगर उसका प्रचार हर तरफ़ फ़ौरन हो जाता है। आज के समय में बग़ावत के बारे में सोचना किसी भी चीज़ के मुक़ाबले ज़्यादा असम्भव बात लगती है। हमारे समय की बनिया बुद्धि के लिए ऐसी शक्ति का इज़हार कर पाना एकदम बेमानी लगता है।"[7] हालांकि जीवन तो अभी भी आवेगशून्य हो सकता है, परंतु 'वास्तविक' हस्तक्षेप और महज़ विचार के बीच के द्वैध को अब बनाए रखना संभव नहीं। अब तो हस्तक्षेप का आह्वान अपने आप में एक अप्रत्यक्ष, गढ़ा हुआ वक्तव्य है। हमारे संकर जीवन में क्या सच है और क्या आभासी, इसको जान पाना नामुमकिन हो चुका है। किसी 'अमध्यस्थित घटना' की श्रेणी की कल्पना करना सचमुच असम्भव हो चुका है; यह रणनीति और रणकौशल की परिधि के परे जा चुका है। क्रिटिकल आर्ट एन्साम्बल में टैक्टिकल मीडिया का यह ब्यौरा दिया गया थाः "इस बात का अहसास लगातार बढ़ता जा रहा है कि कई दशकों से एक ऐसा सांस्कृतिक व्यवहार चलन में है जिसको न तो कोई नाम दिया गया है और न जिसे पूरी तरह कोटिबद्ध किया गया है। इसकी जड़ें आधुनिक अवाँ-गार्द में इस हद तक बैठी हुई हैं कि उसके सहभागी प्रयोगधर्मिता और प्रतिनिधित्व तथा राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तन के बीच अविभाज्य संबंध बनाने को अत्यधिक महत्व देते हैं। आमतौर पर ये परंपरागत क़िस्म के कलाकार नहीं हैं जिन्हें इस नामकरण के साथ जुड़ी पराभौतिक, ऐतिहासिक एवं रूमानी प्रतीकात्मकता के जाल में बंधना मंज़ूर नहीं है। न ही वह महज़ राजनीतिकर्मी हैं क्योंकि वे विशुद्धतः प्रतिक्रियात्मक पोज़ीशन लेने से बचना चाहते हैं और अक्सर कार्यक्षमता और अनिवार्यता को नकारने की दिशा में काम करते हैं।" टैक्टिकल होने की ख़ासियत बीच की पोज़ीशन लेने में है, जोकि हमेशा बहुत आसान नहीं होता। इसलिए समानधर्मा लोगों के साथ जुड़ना प्रेरणास्पद हो सकता है। सीएई से एक और उद्धरणः "हममें से जो लोग टैक्टिकल मीडिया से जुड़े हुए हैं, वे एक क़िस्म की राहत महसूस करते हैं कि अब हम किसी भी क़िस्म का संकर कलाकार, वैज्ञानिक, तकनीशियन, शिल्पकार, सिद्धांतकार, कार्यकर्त्ता बनने को पूरी तरह आज़ाद हैं। अब हम ऐसे नाना समीकरणों में एकबद्ध हो सकते हैं जिनके अपने अलग-अलग वज़न और भिन्न गहनताएं होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति और समूह में निहित इन भूमिकाओं (कलाकार बनना, कार्यकर्त्ता बनना, वैज्ञानिक बनना आदि) को मान्यता और सम्मान दिया जा सकता है। बहुत सारे लोगों ने इस बात को लेकर राहत महसूस की कि अब उन्हें अपने आप को सार्वजनिक रूप से एक विशेषज्ञ, और परिणामस्वरूप एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में पेश करने की आवश्यकता नहीं रही।"[8]

प्रतिबद्धता की बजाय हताशा से जन्मे टैक्टिकल मीडिया का एजेंडा कितना भी रैडिकल क्यों न हो, परंतु उसे वैश्विक पूंजीवाद की सीमाओं में काम करने की विवशता रहती ही है। टैक्टिकल मीडिया हाशिए से पैदा होते हैं परंतु पूरी तरह मुख्यधारा में कभी नहीं पहुंच पाते। अख़बारों और टेलीविज़न चैनलों की दुनिया में करियर का कोई रैखिक पथ नहीं होता। यह एक अलग नियति है, जिसका जन्म आलोचनात्मक प्रतिबद्धता और पेशेवरवाद के बीच निरंतर घर्षण से होता है। उत्तर-सहस्राब्दी मीडिया उद्योग अपने आप में प्रतिस्पर्धी है और उससे भी बढ़कर यह संदेहवादी है। उसमें खोजी पत्रकारिता के लिए अब कोई जगह नहीं है जो कि कुल 'टैक्टिकल' परिणाम का आधार है। ऐक्टिविस्ट शोधकर्ता मुख्यधारा मीडिया में काम करने वाले अपने सहयोगी संपादकों और पत्रकारों के साथ एक दोहरा संबंध रखते हैं। एक तरफ़ तो टैक्टिकल शोधकर्ता पब्लिसिटी के लिए इस बात पर आश्रित रहते हैं कि अख़बार और करेंट-अफ़ेयर्स कार्यक्रमों में उनके (अक्सर अचम्भित करने वाले) खोजी कारनामों के निष्कर्षों को जगह मिले। जबकि दूसरी तरफ़ संपादकीय डेस्क पर बैठे लोगों की दूसरों के अनुसंधान का श्रेय लेने को तत्पर मतिशून्यता और दब्बू मानसिकता तथा आंतरिक सेंसरशिप होती है। यह महज़ परेशान करने वाली बाधाएं नहीं बल्कि समस्या के केंद्र को सम्बोधित करने वाले मुद्दे हैं।

टैक्टिकल तौर पर काम करना एक मायने में स्तर का प्रश्न है। दीवार पर लिखा एक जुमला किस तरह वैश्विक बग़ावत का रूप ले लेता है? आज एक अच्छे ढंग से तैयार किया गया कॉन्टेन्ट वायरस रातों-रात करोड़ों लोगों तक पहुंच जाता है। टैक्टिकल ऐक्टिविस्ट इस बात पर ख़ूब मग़ज़मारी करते हैं कि कैसे एक ऐसा मज़बूत 'meme' बनाया जाए जो समय और काल की सीमाओं के पार नाना प्रकार के सांस्कृतिक संदर्भों में काम कर सके। "छोटा

ही सुंदर है" और "विद्रोही मितव्ययिता" (subversive economies of scale) के बीच का द्वंद्व लगातार बदलता रहता है। अल्प-तकनीकी धन-मुक्त परियोजनाएं अच्छी तो लगती हैं मगर ज़्यादातर मामलों में उनमें इतनी सटीकता और रचनात्मक शक्ति नहीं होती कि वे समाज के सबसे कमज़ोर कड़ी पर चोट कर सकें। टैक्टिकल मीडिया पैसे के लिए काम करने को तैयार है। उन्हें वक़्ती इंतज़ामात के लिए इसकी ज़रूरत है। परंतु टैक्टिकल नेटवर्क, नेटवर्किंग और सूचना प्रसार की सीमाओं को भी जानते हैं। इस बाग़ी पीढ़ी में सीएनएन का विकल्प या *याहू* बनने, या *बॉर्डर्स बुक स्टोर* श्रृंखला का ज़मीनी संस्करण खड़ा करने का इरादा किसी का नहीं है। ब्रैन्ड बनने से लगातार बचने की कोशिश की जाती है और ऐसा सिद्धांत के तौर पर नहीं किया जाता है बल्कि इसलिए किया जाता है क्योंकि उसके परिणामों के बारे में पहले से अनुमान लगाया जाने लगता है। वैश्विक प्रतीकों या संकेतकों की ज़रूरत ही क्या है? इसकी बजाय टैक्टिकल मीडिया मतभिन्नता की आधारभूत परंतु कठिन स्वीकृति के साथ काम करता है। अनिवार्य सूचना और विचार किसी भी सूरत में फैलेंगे ही। चाहे मुश्किलात जो हों, 'cool interceptors' के रेडार से विचार तो बचते रहेंगे। और यदि पकड़ में आ भी गए तो अधिकाधिक प्रचार पाने और जल्दी से जल्दी अगले चरण में दाख़िल हो जाना अनिवार्य है। उत्तेजना से हताशा और थकान तक के सनातन चक्र को तोड़ना ज़रूरी है। ऐसा करना सचमुच एक यूटोपियन उपलब्धि होगी।

यहां अगर बाहरी व्यक्ति की पोज़ीशन की कारुणिकता को नज़रअंदाज़ कर दिया गया है तो इसलिए नहीं कि प्रतिपक्षी के साथ कोई सैद्धांतिक मतभेद है। प्रतिरोध के लक्ष्य भली-भांति परिभाषित हैं। दैनिक प्रतिरोध के दिग्भ्रमित हालात को नकारना बड़ा आसान है। रैडिकल भंगिमाओं में नई प्रौद्योगिकियों के जटिल गतिविज्ञान को संबोधित करने से बचने और असंतोष के प्रसार मार्गों तथा ठोस, मुद्दा-आधारित अभियान रणनीतियों के अभाव से उपजे फ़ौरी प्रश्नों से बचने की प्रवृत्ति रहती है। हालांकि टैक्टिकल का लेबल किसी भी क़िस्म की अभिव्यक्ति या गतिविधि को दिया जा सकता है। परंतु यहां हम अभी मीडिया की ही बात कर रहे हैं। टैक्टिकल का मतलब न्यूनाधिक कटे हुए समूहों और व्यक्तियों की अस्पष्टता से है, जो एक उदार लोकतांत्रिक सर्वानुमति में फंसा, पार्टी और आंदोलन की सुरक्षा के बाहर कार्यरत और मिश्रित पृष्ठभूमियों तथा आकांक्षाओं से भरे बहु-विषयक वातावरण में क़ैद हैं। एक वृहत्तर परिदृश्य से हीन और वामपंथी जड़ता तथा दड़बे की मनःस्थिति से मुक्त, उनके नए स्वरूप और प्रतिकार संक्रामक रूप ले लेते हैं और प्रकाश-गति से फैलते हैं।

टैक्टिकल मीडिया में पुरानी और नई मशीनरी का मिश्रण होता है और उन्हें प्लैटफ़ॉर्म या मानकों, प्रस्तावों या थोड़े बहुत शोर-शराबे से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। यहां मक़सद शुद्धता हासिल करना नहीं है। न ही मक़सद यह है कि छवि, ध्वनि या पाठ को 'दूषित' किया जाए, जो कि अपने आप में एक रोचक विखंडन प्रक्रिया है।[9] इसका नमूना एक खंडित विश्व की अभिव्यक्ति नहीं है, यह तमाम सूचना के तकनीकी पूर्वशब्द हैं। इसमें न तो चिंता करने की कोई ज़रूरत है और न ही महिमामण्डन की। टैक्टिकल विषयवस्तु अधिकांशतः काल्पनिक की बजाय दस्तावेज़ी होती है। दुनिया पहले ही काफ़ी पागल हो चुकी है। इसलिए भ्रम पालने के अतिरिक्त कारणों की ज़रूरत नहीं। इतिहास की इंतिहा में सड़क के हर कोने पर बेशुमार कहानियां हैं। उत्तरआधुनिकता अब न तो कोई रणनीति है और न कोई शैली। यह आज के नेटवर्क समाज की स्वाभाविक शर्त है।

मीडिया ऐक्टिविज़्म किस प्रकार की संरचनाएं ग्रहण करता है? एक ऐसे समय में जब विलय, सेंसरशिप आदि के बारे में (मीडिया) आर्थिक मोर्चे पर वस्तुतः हताशाजनक कहानियां सुनने में आ रही हैं तब एक पुराने सवाल "क्या (नहीं) करें?" को दोबारा पूछना वाजिब ही है। मीडिया ऐक्टिविज़्म के लिए रणनीतियों के विकास में नकारात्मक सोच की वापसी एक अहम भूमिका अदा कर सकती है। प्रतिष्ठा और निर्मम निराशावाद की यहां कोई कमी नहीं है। ज़्यादातर लोगों में जो कमी है वह है खिलंदड़ई नकारात्मकता की, एक कभी न मिटने वाली निहिलिज़्म की भूख की। एक अच्छे और बुरे के बाद ऐसे खुशनुमा तकनीकी-विज्ञान की आवश्यकता, जो मासूमियत और क्रोध के पार जाने के लिए राजनैतिक औचित्य के शब्दाडंबर पर प्रश्न खड़ा करता है। एक सदी देर से अभिजात्यवादी नीत्शियन लेबेन्सफ़िलोसॉफ़ी (Lebensphilosophie) के पुनर्निर्माण की ज़रूरत नहीं बल्कि इन्फ्रास्ट्रक्चर निर्माण की एक निरंतर परिवर्तनशील रणनीति की है जिसे आत्मनिर्मित दुर्गों को त्यागने और आगे बढ़ने का समय आने पर छोड़ दिया जाए ।

नकारात्मक के क्षेत्र में पड़ताल का आशय केवल वैश्विक कॉर्पोरेट पूंजीवाद की शक्तियों को अवरुद्ध करना ही नहीं बल्कि सबसे बढ़कर 'नागरिक प्रतिरोध', ग़ैर-सरकारी संगठन की प्रभावी संरचना की कार्यपद्धति की पड़ताल से है। एनजीओ सरकारी नीतियों की विफलता को सुधारने के लिए अस्तित्व में आए सहायता संगठनों का मॉडल भर नहीं हैं। समाज परिवर्तन के लिए यह आज का एकमात्र विकल्प हैः एक ऑफ़िस खोलिए, पैसा जुटाइए, एक ज़ेरॉक्स मशीन किराए पर लीजिए, यहां वहां फ़ैक्स और ई-मेल भेजिए और अपनी मनचाही बग़ावत का बिगुल बजा डालिए। "अपनी बग़ावत को सबसे ज़्यादा कामयाब कैसे बनाया जाए।" कहा जाता है कि यदि हमें एक (सकारात्मक) प्रभाव डालना है, या 'बदलाव लाना है' (जैसा कि विज्ञापन कहते हैं) तो इन नेटवर्क संगठनों की कार्यालयी संस्कृति का पेशेवरवाद ही मीडिया संबंधी राजनीति का एकमात्र मॉडल है। यह समय है एनजीओ के नौकरशाही और रस्मी मॉडलों और उनमें निहित तरतमता, प्रबंधन मॉडलों और उनकी तथाकथित कार्यक्षमता पर सवाल खड़े करने का।

"आयोजित नहीं होगा"। ये किसी अराजक-बाग़ी या आर्थिक-ध्वंस चाहने वाले सिरफिरे के शब्द नहीं हैं जो अभी, आज ही की रात स्वतःस्फूर्त विद्रोह का आह्वान करता है। संरचना का संकट ख़त्म होते हुए मीडिया युग की 'मानवीय शर्त' है। और यह एक नए खुले षडयंत्र का प्रस्थानबिंदु भी हो सकता है जो बेहद निकट स्थित नेटवर्क भविष्य की पूर्व कल्पना करने को तैयार है। संरचना के नए रूप अब कोई पार्टी, आंदोलन या व्यवसाय नहीं हैं और न ही शाखाओं (मुख्यालय से युक्त या हीन) का नेटवर्क हैं बल्कि यह अत्यंत अदृश्य हो सकता है और बहुत संभव है कि यह संगठनीकरण पर केंद्रित ही न हो। ये छोटे और अनौपचारिक समुदाय आसानी से एक दूसरे से दूर चले जाते हैं और किसी ख़ास पहचान के साथ चिपकने से बचने के लिए दोबारा एक दूसरे के साथ जुड़ भी जाते हैं।

"राहें जो कभी-कभार आबाद होती हैं।" 1989 के बाद अब मीडिया ऐक्टिविज़्म का ताल्लुक़ सच्चाई से नहीं है। इसने रणनीति की बहस को बेहद कठिन और अल्पकालिक टैक्टिक्स को अत्यंत विविध और आकर्षक रूप दे दिए हैं। यह (इमारतों, नेटवर्कों, संसाधनों) तक पहुंच बनाने, सत्ता को अपंग बना देने और ऐन वक़्त पर आंखों से ओझल हो जाने की कला का नाम है। मौजूदा राजनैतिक एवं सामाजिक टकराव इतने ज़्यादा परिवर्तनशील और इतने जटिल हैं कि उन्हें प्रोपैगैंडा, 'प्रचार', या 'शिक्षारंजन' जैसे एक-आयामी मॉडलों के ज़रिए संबोधित नहीं किया जा सकता है। अब यह पर्याप्त नहीं है कि आप अपनी सूचना को होम पेज पर डाल दें या उसका वीडियो या पैम्फ़लेट आदि बना लें और चुपचाप बैठकर कुछ होने का इंतज़ार करें। जनसंचार की संभावित शक्ति को सफलतापूर्वक अपंग बना दिया गया है। आज महज़ पुनरुत्पादन निरर्थक है। इस बात की बहुत संभावना है कि टैक्टिकल डेटा अनपेक्षित (नकारात्मक) विकास प्रक्रिया के माध्यम से वायरसों की तरह बढ़ते चले जाएं। नए विचारों को अत्यंत प्रतिरोधी, दीर्घकालिक प्रतियों (meme) के रूप में इस प्रकार निर्मित किया जा रहा है कि वह एक अज्ञात समयसीमा — जो आज से लेकर अगली सदी तक कुछ भी हो सकती है — के भीतर वैश्विक पूंजीवाद को कमज़ोर कर दे।

यहां वैश्विक वित्तीय बाज़ारों में संभावित बिग क्रैश की अफ़वाहों के बावजूद प्रलयंकारी या क्रांतिकारी आकांक्षाएं कहीं नहीं हैं। 'कसीनो पूंजीवाद' (रॉबर्ट कुर्ज) संभवतः रूसी साम्यवादी विश्व साम्राज्य की तरह रातों-रात ग़ायब नहीं हो पाएगा। अभी आगे भी बहुत सारी मुफ़लिसी और अलगाव बाक़ी हैं। परंतु यह कोई पर्याप्त कारण नहीं है कि आप कमर सीधी करके आत्मतुष्ट समाजवादी बनकर बैठ जाएं। GELLASSENHEIT (भंगिमा) — मीडिया के भीतर होने का सही रवैया — को क्रोधावेग की ही मानिन्द टैक्टिकल और सुसंस्कृत होना चाहिए। पीटर स्लोतरदिज़्क (1998) के विपरीत, मुझे नहीं लगता कि हमें पूर्वी अधिनायकवादी धर्मों या उसकी विधर्मी अन्तः धाराओं की तरफ़ वापस जाने की आवश्यकता है। मगर इसमें हर एक के अपने प्रेरणा स्रोत भी होते हैं। अनजाने जर्मन विचारकों के प्रति मेरी भक्ति भी क़तई अनुकरणीय नहीं है। बेहतर होगा कि हम भविष्य के स्रोतों से प्यास बुझाएँ। वैसे भी टैक्टिकल मीडिया को ऊँचे सिद्धांतों या भव्य विचारों की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसे तो वैश्विक पूंजीवाद के भीतर ही बस जीवित रहने के तरीक़ों की खोज करनी है।

आज लामबंदी के समकालीन रूपों, जैसे वैश्विक (ऑनलाइन) लेबर यूनियनों, प्रवासियों के नेटवर्क, शरणार्थी जत्थों, डिजिटल कारीगरों के मुक्त संगठनों आदि की आवश्यकता है।[10] यहां सवाल यह है कि सूचना के विनिमय

के परे कैसे जाया जाए। विनिमय प्रणालियों को इस प्रकार विकसित किया जा सकता है ('मुक्त धन') कि हमराहियों के बीच 'मुक्त कॉन्टेन्ट' की उपहार अर्थव्यवस्था फल-फूल सके। शुरुआती तौर पर यह सभी अवधारणात्मक कलाकृतियाँ हैं जिन्हें ऐन मौक़े पर ही साकार किया गया है और जिनके पीछे कोई ख़ास कारण और व्यावसायिक महत्वाकांक्षाएं नहीं हैं। इन मॉडलों की परिकल्पना इस या उस स्वप्नदर्शी की दृष्टि से पैदा नहीं हुई है। ये मिथक बनने से पहले जिये गये यथार्थ हैं, जो वक़्त के साथ बदले और विकसित किए जाने के लिए प्रस्तुत हैं। मीडिया ऐक्टिविज़्म वास्तविक और आभासी के बीच झूलता रहता है, आगे-पीछे आता-जाता रहता है, और स्थानीय या वैश्विक के पक्ष में पोज़ीशन लेने से बचता है।

टैक्टिकल मीडिया पुराने क़िस्म के राजनैतिक डेटा और नए मीडिया के सौंदर्यशास्त्र के तात्कालिक मिश्रण पैदा कर रहे हैं। यह मिश्रण अंतर्क्रियात्मकता और इंटरफ़ेस डिज़ाइन से निपटते रहते हैं। अगले क़दम के तौर पर इसे जहां हाड़-मांस के मज़दूर एक दूसरे से मिलते हैं, उस सामाजिक, व्यक्तिगत स्तर और 'अनस्थित' तकनीकी नेटवर्क ढांचे दोनों के स्तर पर क्रियान्वित किया जा रहा है। इसके ऐक्टिविस्ट औद्योगिक सॉफ़्टवेयर और कॉन्टेन्ट पर जीने वाले इलेक्ट्रॉनिक परजीवियों माइक्रोसॉफ़्ट और नेटस्केप दोनों के ख़िलाफ़ 'नकारात्मक सॉफ़्टवेयर', नस्लवाद-विरोधी सर्च इंजन, (तात्कालिक) सार्वजनिक टर्मिनल, मुक्त ग्रुप वेयर, सौंदर्यशास्त्र विरोधी ब्राउज़र विकसित करते हैं। दर्ज करना पर्याप्त नहीं है। असंख्य वेब कैमरों से लैस Reality.net और साक्ष्य जुटाने वाला ख़ुशक़िस्मत साइट हो सकता है, परंतु इसके साथ-साथ यह निगम राज्य के निगरानी के बारे में फैलते भयोन्माद में इज़ाफ़ा भी कर सकती है। कभी-कभी सीसीटीवी कैमरों को चिन्हित और 'डिलीट' करना सही भी हो सकता है। मीडिया ऐक्टिविस्ट न तो आर्थिक रूढ़िवादी हैं और न ही तकनीकी कल्पनावादी। वे जोख़िम ले रहे हैं और मनमुताबिक़ काम कर रहे हैं। उनकी गतिविधियां यदि ज़रूरत पड़े तो कभी-कभार एक प्रकार से आपराधिक भी हो सकती हैं (जैसे कम्प्यूटर हैकर्स)। इस तरह वे पुराने वैधानिक मानकों (सेंसरशिप, कॉपीराइट) की अनदेखी करते हैं।

एक 'हल्का' और स्वतंत्र मीडिया इन्फ़्रास्ट्रक्चर महज़ विविधता को ही अभिव्यक्त नहीं कर रहा है। यही काफ़ी नहीं है कि मुख्यधारा मीडिया के 'झूठ' को ठीक कर दिया जाए और समुदायों को उनके अपने माध्यम मुहैया करा दिए जाएं। प्रतिनिधित्व के स्तर पर एक 'वैकल्पिक इंजन' होने से काफ़ी सारा उपयोगी सार्वजनिक कॉन्टेन्ट सामने आ सकता है। परंतु यह 'मीडिया प्रश्न' को संबोधित नहीं करता। यहां दिलचस्पी की बात विचारधारात्मक संरचनाएं हैं जिन्हें सॉफ़्टवेयर और नेटवर्क ढांचे में लिखा गया है। इस शक्तिशाली संरचना को उलट-पलट देना या उसका दुरुपयोग कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। उतनी ही बड़ी चुनौती यह है कि मुक्त सॉफ़्टवेयर और इंटरफ़ेस लिखते हुए नए मानक विकसित किए जाएं। यही बात मुक्त कॉन्टेन्ट के डेटाबेस विकसित करने के प्रयासों के बारे में भी कही जा सकती है। हालांकि आज यह एक छोटी सी गतिविधि है परंतु जब हरेक व्यक्ति से डाउनलोड के बदले कॉन्टेन्ट की क़ीमत मांगी जाने लगेगी उस समय इस गतिविधि का महत्व भी काफ़ी बढ़ जाएगा। आभासी जनपद न तो एक विशुद्धतः वैश्विक व्यावसायिक वातावरण में साकार हो सकता है और न ही यह वहां साकार हो सकता है जहां राष्ट्र के इन्ट्रानेट और फ़ायरवॉल्स (डिजिटल दुर्गों) पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण है। एक 'तीसरा स्थान' जहां मीडिया ऐक्टिविज़्म फलता-फूलता है। सायबर स्पेस का यह सार्वजनिक हिस्सा, राज्य और बाज़ार के बीच का स्थान है।

इलेक्ट्रॉनिक उपभोक्ता सामानों की क़ीमतों में गिरावट के बावजूद टैक्टिकल मीडिया पर अभी भी ख़र्चा आता है। विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो ख़ुद को इलेक्ट्रॉनिक सीमांत पर खड़ा कर देते हैं। अभी के लिए सारा संघर्ष (यदि कोई है तो) शब्दों की उस परिभाषा को लेकर है जिसके अंतर्गत 'सूचना समाज' क्रियात्मक रूप ले पाए। तकनीकी ख़ाके की बुनियादी शर्तों को कौन परिभाषित कर रहा है? 1990 के दशक के मध्य और अंत में नेट को लेकर जितना भी उन्माद था वह सांस्कृतिक और राजनैतिक अवधारणाओं के उत्पादन के बारे में था, जिसे बाद में, किसी असंभावित भविष्य में ज़्यादा बड़े पैमाने पर क्रियान्वित किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता है — या जो शायद दोबारा हाशिए पर चला जाएगा। विचारों की आकाशगंगा कुछ ख़ास उत्पादों, मानकों और पोर्टल्स में ही प्रस्फुटित हुई। अब शेष क्या बचेगा? और क्या तमाम अप्रयुक्त अवधारणाएं इतिहास के कूड़ेदान में समा जाएंगी?

नेटवर्क का कौन सा ढांचा इस्तेमाल किया जाएगा? क्या उपभोक्ता प्रभुत्वशाली सॉफ़्टवेयर और स्क्रीन डिज़ाइनों को स्वीकार करेंगे या क्या वे संभवतः एक्सप्लोरर और नेटस्केप ब्राऊज़र के ओपेरा जैसे विकल्पों की तलाश करते रहेंगे? क्या वे लिनक्स को भी इन्स्टॉल करेंगे? फ़्रैडरिक किटलर स्कूल के तकनीकी निर्धारणवादी अंतःविस्फोटी सत्ता संरचनाओं के लिए इंटेल के पीछे या नीचे नज़र डालते हैं। इसके विपरीत ऐम्स्टर्डम स्कूल के मीडिया व्यवहारवादी यूज़र इंटरफ़ेस डिज़ाइन की राजनीति पर सवाल उठाते हैं। "डिज़ाइन चेतना को निर्धारित करता है"। 1999-2000 के दौरान डॉट कॉम को लेकर जो पागलपन पैदा हुआ था उसको लेकर तैयार किए गए 'डिज़ाइन इकॉनमी के घोषणापत्र' में टैक्टिकल ज्ञान दिखाई देता है: "नगद प्रवाह के साथ चलो," "सायबर स्पेस में कोई नहीं जानता कि आप कलाकार हैं," "सूचना अंधेरा है, रौशनी नहीं," "यदि ये दुनिया आपके मानकों के अनुरूप नहीं है तो नई दुनिया रच लीजिए," "भविष्य को आकार देने का अमेरिकी तरीक़ा बाज़ार, स्टालिनवाद है," "सार्वजनिक क्षेत्र को पुनः अपने क़ब्ज़े में लो," "DTP=Decentralize The Power (सत्ता का विकेंद्रीकरण करो)," "देखना चोरी है," "अपना भविष्य चुनो, उसे ख़ुद आकार दो" (*एन.एल-डिज़ाइन* 2000)।[11]

क्या सिद्धांत, मूल्याँकन और निरर्थक कलाबाज़ी के लिए अभी भी कोई जगह है? क्या उत्पादन का दबाव रचना पर हावी है? टर्मिनल कामगार नए मीडिया के ऐसे भावी फ़ॉरमैट निर्धारित कर रहे हैं जो जल्दी ही माल के रूप में ख़रीदे-बेचे जाने के लिए मानक का रूप ले लेंगे। नए मीडिया उत्पादों की और वृद्धि के लिए बाज़ार योग्य उत्पादों के स्तर पर सुदृढ़ीकरण के एक चरण की आवश्यकता हो सकती है। इसलिए हो सकता है कि "डिजिटल क्रांति" जल्दी ही चरम बिंदु, अपने डिजिटल थर्मिडोर तक पहुंच जाए। नेट की विराट शक्ति से अनभिज्ञ पुराने और 'थके मांदे' बहुराष्ट्रीय निगमों के "डायनोसॉर जैसे व्यवहार" का मज़ाक उड़ाने का कोई कारण नहीं है। उनके पुनर्निर्माण कार्यक्रम शुरु हो गए हैं। यदि पुरानी और नई अर्थव्यवस्था के बीच कभी कोई फ़र्क़ था तो अब उसे भी बहुत तेज़ी से नष्ट किया जा चुका है। कंपनियों ने सायबर मुक्तिकामियों को बड़े ध्यानपूर्वक सुना है और अपने ख़ुद के निष्कर्ष निकाले हैं।

टैक्टिकल मीडिया उप-सांस्कृतिक दड़बे से बाहर निकलने के लिए रास्ता तलाश रहे विपक्ष का मीडिया है। यह उनकी शक्ति ("आक्रोश एक ऊर्जा है", जॉन लाइडन) का स्रोत भी है और उनकी सीमा भी। इसके नायक घुमंतू मीडिया लड़ाके, चुहलबाज़, हैकर, rapper, jammer और कैमकॉर्डर कामीकेज़ हैं। वे हमेशा दुश्मन के पैर उखाड़ने के मंसूबे बांधते रहने वाले ख़ुशबास निषेधवादी हैं। जब शत्रु को पहचान कर उसे नेस्तनाबूद कर दिया जाता है तो संकट और अवसाद की मनोदशा से जूझने की बारी टैक्टिकल प्रैक्टिशनर की होती है। सफलता और विफलता के ये चक्र दिन-ब-दिन छोटे होते जा रहे हैं। फिर (उनकी उपलब्धियों के बावजूद) दक्षिणपंथी चलताऊ जुमलों — 'सियासी तौर पर सही,' 'उत्पीड़ित संस्कृति,' आदि — के ज़रिए उनका मज़ाक उड़ाना आसान हो जाता है। सोचने के ऐसे तरीक़ों को एक पुरातन मानवतावाद के छिद्रान्वेषी और अवपीड़क अवशेषों की तरह देखा जाता है।

टैक्टिकल मीडिया कभी भी पूर्ण परिष्कृत नहीं होते, वे हमेशा निर्माण की प्रक्रिया में, तमाशाई और व्यावहारिक ही होते हैं। वे उन चैनलों की प्रस्थापनाओं पर निरंतर सवाल खड़ा करते हैं, जिनके साथ वे काम करते हैं। उसके लिए इस आत्मविश्वास की ज़रूरत होती है कि बार-बार इंटरफ़ेस से इंटरफ़ेस तक जाते हुए भी कॉन्टेन्ट यथावत् ही रहेगा। मगर हमें यह क़तई नहीं भूलना चाहिए कि मिश्रित मीडिया का अपना त्रासद अंत होता है। निस्संदेह भूमिगत और वैकल्पिक परिवेश की क्लासिक रस्मों से चिपके रहना ज़्यादा आसान है। टैक्टिकल मीडिया लचीली प्रतिक्रिया के सिद्धांत पर, अलग-अलग गठजोड़ों के साथ काम करने और अपने मूल उद्देश्य को भुलाए बिना विराट मीडिया लैंडस्केप के भीतर विभिन्न इकाइयों के भीतर-बाहर आते-जाते रहने की क्षमता पर आधारित है। टैक्टिकल मीडिया आत्ममुग्ध (हेडोनिस्टिक) या ईर्ष्या की हद तक उत्सवधर्मी भी हो सकता है। यहां तक कि फ़ैशन की तरंगों का भी यहां अपना ही महत्व होता है। मगर टैक्टिकल प्रैक्टिशनर की सबसे बड़ी ख़ूबी उसकी गतिशीलता होती है। औचक बदलावों और रूपों की श्रृंखला पैदा करते हुए अलग-अलग मीडिया को एक साथ जोड़ पाने या एक से दूसरे में चले जाने की इच्छा और क़ाबिलियत ही उसकी सबसे अहम विशिष्टता होती है। उसकी विशेषता सीमाओं को पार करते रहने और नाना प्रकार के विषयों को

पुनः परस्पर जोड़ने में तथा मीडिया के भीतर पैदा होने वाले उन मुक्त क्षेत्रों का पूरा लाभ उठाने में निहित होती है जो प्रौद्योगिकीय बदलावों और नियमन की अनिश्चितताओं के फलस्वरूप लगातार पैदा होते रहते हैं।

वास्तविक बनाम आभासी के दोहरेपन के दृष्टिकोण से मीडिया टैक्टिशियनों (रणकौशलकारों) पर लगातार ये आरोप लगता रहता है कि वे महज़ बोलते रहते हैं, मगर करते कुछ नहीं हैं। कहा जाता है कि मीडिया प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित करते हुए वे और भी खोखले प्रतीक बनाते रहते हैं। समकालीन युरोपीय राजनैतिक यथार्थ में इस समालोचना को पुष्ट करने के लिए काफ़ी साक्ष्य मौजूद हैं। आख़िरकार, यह सही ही तो है कि मीडिया के दायरे में जो विस्तार हुआ है उससे मुक्तिकामी आंदोलनों और आलोचनात्मक व्यवहार में वैसी वृद्धि नहीं हुई है। इससे सिर्फ़ इतना हुआ है कि आपस में बतियाते शीर्षकों के संग्रह में और वृद्धि हो गई है। इन दिनों मीडिया पर एकीकरण और गोलबंदी की बजाय विखंडन का आरोप ज़्यादा लगता है। विरोधाभास यह है कि आंशिक रूप से इसकी वजह मतभेदों की व्याख्या करने और प्रश्न खड़ा करने की उसकी तर्कमूलक शक्ति में है न कि सिर्फ़ प्रोप्रैगैंडा करने में। 1980 के दशक में जब मीडिया परिवृत्त में विस्फोट हो रहा था तब अनुरूपण पर ज़्याँ बॉद्रीला की व्याख्या उपयोगी थी। सहस्राब्दी की समाप्ति तक आते-आते सब कुछ अनुरूपित ही लगने लगा और बॉद्रीला की व्याख्याएं रूढ़िवादी तथा इंटरनेट की हक़ीक़त से कटी हुई प्रतीत होने लगीं।

बहरहाल, हम अभी भी एक ऐसी ही दुनिया में पड़े हैं जहां बहुत सारे संघर्ष सड़क और फ़ैक्टरी की चौहद्दी से उठकर मीडिया के द्वारा और मीडिया के ज़रिए निर्मित हो रही छवियों के विचारधारात्मक क्षेत्र में आ गए हैं। इसे अक्सर सार्वजनिक परिक्षेत्र से आभासिकता की दिशा में, या सामाजिक हस्तक्षेप से मध्यस्थिता की दिशा में विचलन की संज्ञा दी जाती है। जबकि मीडिया चैनलों में इतनी तीव्र वृद्धि दिखाई दे रही है, और विभिन्न सायबर स्पेसों का अप्रतिम विस्तार हो रहा है तब 'वास्तविक की ओर वापसी' की बात करना बकवास है। बल्कि ये सवाल भी अपनी जगह मौजूद है कि क्या मीडिया के दायरे के बाहर कोई सार्थक राजनीति जीवित रह भी सकती है। नेट ऐक्टिविस्ट रणनीतियों के बारे में चलने वाली बहस 'महज़' प्रतीकात्मक बनाम "वास्तविक हस्तक्षेप" की बहस का केंद्रबिंदु है। इसमें आलोचक इस बात को लेकर संदेह व्यक्त करते रहते हैं कि क्या आप इंटरनेट के ज़रिए सिर्फ़ शत्रुतापूर्ण कमांड भेजकर किसी अभियान को जन्म दे सकते हैं या क्या केवल मध्यस्थता के ज़रिए तकनीकी साधनों के सहारे कोई आंदोलन खड़ा किया जा सकता है।

एक और स्तर की समालोचना में आत्मकेंद्रित अभियानों के समस्याप्रद (problematic) स्वरूप को संबोधित किया जाता है। यह ऐसे अभियान हैं जो ख़ुद मीडिया सुर्ख़ियों के पार ही नहीं जाते। ख़ुद को भूलकर मीडिया के आकर्षक और घातक जाल में फंस कर रह जाना बड़ा आसान है। मीडिया सापेक्षतः स्वायत्त इकाइयां हैं। इसकी विशालता ही इसका आकर्षण है, यहां हमेशा नई सूचनाओं, नए चैनलों, नए सॉफ़्टवेयर और वेबसाइट्स की भरमार रहती है। उसके भीतर वर्चस्व के लिए नए-नए राजनैतिक मुद्दे होते हैं। और स्वयं मीडिया उद्योग के भीतर सत्ता के लिए प्रचंड संघर्ष चलते रहते हैं। यह अपने आप में एक पूर्ण दुनिया है। टैक्टिकल मीडिया इस आक्षेप की आशंका के दायरे में है कि वह उसी पुरानी सुरक्षित मान्यता में फंसा हुआ है कि तमाम सत्ता संघर्ष मीडिया के ही परिवृत्त में लड़े जा रहे हैं। मगर इस बात पर यक़ीन कर लेने का मतलब है यह मान लेना कि 'शेल', 'नाइकी' या 'मैक्डॉनल्ड्स' को कमज़ोर करने के लिए जो संघर्ष चलाए जा रहे हैं वे विशुद्धतः भाषाई स्तर पर ही लड़े जा रहे हैं। मीडिया प्रश्न को यह कहते हुए पूरी तरह नकार देना बड़ी आसान और आरामपसंद बात है कि यह 'वास्तविक' नहीं है।

इसके छोटे से इतिहास में नेट ऐक्टिविज़्म की तीन शुरुआती परतें दिखाई देती हैः

आंदोलन के भीतर नेटवर्किंग: नेट ऐक्टिविज़्म के पहले स्तर पर आंदोलन के भीतर आंतरिक संचार को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसका मतलब है मेलिंग लिस्ट पर, और उसके पीछे संचार करना और ऐसी वेबसाइटें बनाना जो ख़ुद ऐक्टिविस्टों के लिए टूल बॉक्स के रूप में काम आएं। इससे एक आभासी समुदाय पैदा हो जाता है जिसका आंतरिक गतिविज्ञान ऑफ़लाइन समुदायों, यानी बाहरी समुदायों से बहुत भिन्न नहीं

होता। फ़र्क़ होता है तो सिर्फ़ इस बात का कि इस समुदाय के लोगों को प्रायः एक-दूसरे से मिलने की ज़रूरत नहीं होती; हालांकि अमूमन वे एक-दूसरे से मिल भी लेते हैं।

आंदोलन और सामाजिक समूहों के बीच नेटवर्किंग: नेट ऐक्टिविज़्म का दूसरा स्तर भिन्न-भिन्न संदर्भों से जुड़े लोगों के बीच अभियान चलाने और उन्हें परस्पर जोड़ने की क्रिया से परिभाषित होता है। इसका अर्थ है सहायक और सहयोगी प्रयासों की शक्तियों को एकजुट करना, एक प्रेरणास्पद और उत्साहजनक परिवेश निर्मित करना जिसमें नए प्रकार के कार्यों और गतिविधियों पर काम किया जा सके।

आभासी आंदोलन: नेट ऐक्टिविज़्म का तीसरा स्तर वह है जिसमें इंटरनेट का विशुद्धतः आभासी प्रतिरोध के लिए प्रयोग किया जाता है। इस प्रतिरोध का किसी प्रकार की ऑफ़लाइन वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता और वह विशाल एवं अनियंत्रित सिविल नाफ़रमानी के रूप में सामने आता है, जैसे ई-प्रतिरोध, या किसी सामाजिक संघर्ष के स्वीकार्य परिणाम के तौर पर डिजिटल सबोटाज जैसी कोई भी दूसरी चीज़ः मसलन, प्रतिक्रिया स्वरूप किसी को बदनाम करना, आभासी क्षति पहुंचाना, किसी कम्पनी की छवि बिगाड़ना।

हालांकि एक साझा एजेंडा उभरता हुआ दिखाई दे रहा है परंतु हमें ऐक्टिविस्टों के एजेंडा के बीच पैदा होने वाले मतभेदों और टकरावों के प्रति भी यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। ये तीनों स्तर हमेशा पूरी तरह तालमेल में नहीं रहते। इन तीनों ही स्तरों पर प्रयोग किया जाने वाला टैक्टिकल मीडिया किसी के लिए भी इतना बढ़िया मॉडल नहीं है कि वह ख़ुद को उसके साथ जोड़ कर देख सके, अनुगमन की तो बात ही छोड़िए। यहाँ बनने वाले तालमेल अभी भी ढीले-ढाले हैं और असंख्य समानांतर और विच्छिन्न टुकड़ों और उपसंस्कृतियों में उनके टूटने की प्रवृत्ति काफ़ी दिखाई देती है। आज 'वर्ल्ड फ़ेडरेशन ऑफ़ टैक्टिकल मीडिया' जैसी कोई चीज़ नहीं है और शायद वह कभी होगी भी नहीं। शायद हम सब असामान्य क़िस्म के लोगों का एक विशाल समूह हैं जो स्वभावतः बग़ैर उन्वान के हैं। बेशक यह जानकर ख़ुशी होती है कि अपने नेट.रेडियो चैनल पर आप अपने बीस सबसे प्यारे दोस्तों के साथ हैं। परंतु इस अहसास के फ़ौरन बाद ही हमें यह भी महसूस होता है कि यह चैनल केवल इन्हीं बीस दोस्तों तक सीमित रहेगा और इस तरह जिसे हम एक मौक़ा समझ रहे हैं वो अचानक हमारे लिए एक दड़बा बन कर रह जाएगा। संस्थागत राजनीति के जाल और सीमाओं में फंसने से बचने की कोशिश करते हुए आइये एक बार फिर नए गठजोड़ों की तलाश करें। दुर्भाग्यवश, इंटरनेट ने कलाकारों और ऐक्टिविस्टों को संस्थागत राजनीति से जूझने की मजबूरी से अभी आज़ाद नहीं किया है। सत्ता, केबल नीति, पैसे और पहुंच के अधिकारों से मुक्त इंटरनेट कहीं नहीं है। एक अमूर्त, विशुद्ध और मासूम आभासी संगठन के शोर-शराबे पर भरोसा मत कीजिए। अपने बेडरूम से संचार कर लेने में ताक़त का अहसास करने का सिर्फ़ यही मतलब हो सकता है कि आप निरंतर उस बुनियादी ढांचे से अनभिज्ञ होते जा रहे हैं जिसके ज़रिए आपकी आभासी क्रियाएं संभव हो पाती हैं। एक सचमुच का वैश्विक माध्यम होते हुए भी नेट का राजनैतिक अर्थशास्त्र राष्ट्र-राज्यों की वैधानिक सीमाओं और टेलीकॉम दानवों के वाणिज्यिक ढांचे में बंधा हुआ है।

एक ज़माने में रणनीति के सवाल पर सारी बहस सहयोजित (co-opt) कर लिए जाने और ख़ुद को बेचने या व्यवस्था में समाहित हो जाने के डर और विभ्रम पर केंद्रित होती थी। 1970 और 1980 के दशकों के दौरान ऐक्टिविस्ट निरंतर ऐसी सूक्ष्म सीमा रेखाओं के बारे में बात करते रहे जहां अधिकारियों के साथ वार्ता और उनके साथ काम करना विश्वासघात में बदल जाता था। किस पत्रकार से बात की जा सकती थी? क्या किसी राष्ट्रीय दैनिक के लिए लिखना या टेलीविज़न के लिए काम करना सही है? राजनैतिक रूप से सही व्यवहार (भाषा, फ़ैशन) की नैतिक थानेदारी की जाती थी। पुलिस हिंसा के ख़िलाफ़ सक्रिय बचाव किस हद तक सही है? सहस्राब्दी के समापन बिंदु पर मीडिया ऐक्टिविज़्म की बहस में नैतिकतावाद की बजाय अन्वेषणवाद का पुट ज़्यादा है। अब चुनौती सत्ता को चिन्हित करने की है। क्या यह सड़कों पर स्थित है, जहां विश्व नेता मिलते हैं उन जगहों पर स्थित है, या यह मास मीडिया, नेट, और डब्ल्यूटीओ, जी-8, विश्व बैंक या वर्ल्ड इकनॉमिक फ़ोरम जैसे संस्थानों में निहित है? इस तलाश में जो रणनीति और रणकौशल अपनाया जा रहा है वह स्वयं भी प्रौद्योगिकीय रूप लेता जा रहा है। टैक्टिकल

मीडिया का ताल्लुक़ सत्ता के विरुद्ध उसके रवैये से नहीं है, बल्कि वह नेटवर्कयुक्त सत्ता के स्वभाव की दीर्घकालिक आलोचनात्मक पड़ताल पर आधारित है।

टैक्टिकल मीडिया की समझ समावेशी है। यह कोई बना-बनाया नुस्ख़ा नहीं बल्कि एक बड़ा संवेदनशील गठबंधन, एक जीता-जागता गठबंधन है। टैक्टिकल मीडिया कर्मियों के बीच जिन बातों पर मतभेद हैं उनमें से एक 'हैक्टिविज़्म' को लेकर है। यहां मौजूद प्रश्न स्वयं इंटरनेट के स्वभाव से ही जुड़ा हुआ है। क्या नेट शब्दशः एक व्यावसायिक वातावरण है जिस पर कुछ ख़ास परिस्थितियों में हमला किया जाना चाहिए? या कि नेट एक निष्पक्ष, खुला और सिद्धांततः एक आज़ादी पसंद ढांचा है? 1998 की शुरुआत में फ़्लडनेट सॉफ़्टवेयर विकसित किया गया था। इस सॉफ़्टवेयर को इस मक़सद से बनाया गया था कि ऐक्टिविस्ट "आभासी धरने" आयोजित कर सकें। परंतु इस सॉफ़्टवेयर के आने के फ़ौरन बाद बहुत सारे हैकरों के बीच इलेक्ट्रॉनिक डिस्टरबेन्स थियेटर द्वारा विकसित किए गए इस फ़्लडनेट सॉफ़्टवेयर की प्रभावोत्पादकता को लेकर मतभेद खड़े हो गए। मुक्तिकामी क़िस्म के हैकरों ने कहा कि कॉर्पोरेट और सरकारी सर्वर्स को "आप्लावित करने" की कोई सीमा नहीं है। शत्रु की वेबसाइट को लक्ष्य कर भेजी गई सामग्री नेट में इधर-उधर ग़ायब हो रही थी जिससे अधिकांशतः दूसरों को, विशेष रूप से आपके स्थानीय इंटरनेट सर्विस प्रदाताओं को ही नुक़सान होता था। राजनैतिक "हैक्टिविस्ट" ने पहले तो हैकरों द्वारा उठाई गई तकनीकी समस्या को नकार दिया और "ऑनलाइन प्रदर्शन" के आयोजन में विशाल संभावनाएं देखने लगे।

इलेक्ट्रॉनिक सिविल नाफ़रमानी/हैक्टिविज़्म के बारे में पहली बहस जुलाई-अगस्त 1998 में आर्स इलेक्ट्रॉनिका इन्फ़ोवॉर की मेलिंग लिस्ट पर दिखाई दी। बाद में यह नेटटाइम और दूसरी लिस्टों पर भी चलती रही।[12] मार्च 1999 में नेक्स्ट फ़ाइव मिनट्स 3 में इस मुद्दे पर बात करने के लिए एक परिचर्चा आयोजित की गई। फ़्लडनेट के 'आभासी धरनों' की तुलना में कहीं ज़्यादा प्रभावी सेवा अवज्ञा (Denial of Service-DOS) सॉफ़्टवेयर तथा सरकारी दायरे में 'सायबर आतंकवाद' पर चलने वाली बहस ने नेट ऐक्टिविज़्म की बहस को और संजीदा बना दिया। सन् 2000 की शुरुआत में अमेरिकी समाचार मीडिया के मुख्य ठिकानों पर माफ़िया ब्वॉय नामक लड़के ने जो डीओएस हमला किया था उसने इंटरनेट प्रतिरोध के सामूहिक रूपों से हटकर लोगों का ध्यान दोबारा इक्का-दुक्का किशोर हैकरों की उसी पुरानी छवि पर केंद्रित कर दिया। परंतु नेट ऐक्टिविज़्म के लिए 1998 के बाद स्थिति काफ़ी समय तक यथावत् बनी रही।[13] 'हैक्टिविज़्म' के मुद्दे को नेट ऐक्टिविस्टों के पास उपलब्ध रणनीतियों के शस्त्रागार के वृहत्तर संदर्भ में रखकर देखा जाना चाहिए। सबसे पुराना और सबसे अहम ऑनलाइन काम खोजी पत्रकारिता रहा है जिसने एक शीर्षक से संबंधित विभिन्न सामग्री को एक जगह इकट्ठा किया है, हैक्टिविस्टों को सूचित और संगठित किया है और अभियान चलाए हैं। मैक्डॉनल्ड विरोधी साइट www.mcspotlight.org इस क्षेत्र में अग्रणी था। इसके बाद 'वैश्वीकरण विरोधी' प्रतिरोधसाइट www.indymedia.org जैसे समाचार पोर्टल के मॉडल आते हैं। यह मुक्त सॉफ़्टवेयर पर निर्मित एक संपादकीय प्रणाली है जिसमें दुनिया भर के दर्जनों देशों के स्थानीय संस्करण उपलब्ध हैं।

इसमें वेब कॉन्फ्रेंसिंग प्रणाली भी मौजूद है जहां ऐक्टिविस्ट अपनी रणनीतियों पर बात कर सकते हैं। एक अपेक्षाकृत पुराना मॉडल www.tao.ca जैसे ऐक्टिविस्ट सर्वर का है। यह नेट ऐक्टिविस्ट सर्वर टोरंटो से संचालित होता है और मुख्य रूप से मेलिंग लिस्ट और स्थानीय व वैश्विक स्तर पर स्वायत्त वेब स्थान मुहैया कराने के ज़रिए ऐक्टिविस्टों को संगठित करता है। निस्संदेह ऐक्टिविस्ट इन मॉडलों का एक अच्छा-ख़ासा मिश्रण इस्तेमाल कर रहे हैं। मिसाल के तौर पर, लुफ़्थान्सा के ख़िलाफ़ ऑनलाइन प्रदर्शन किया गया। यह प्रदर्शन जर्मन एयरलाइन कम्पनी की उस नीति के विरोध में था जिसमें कम्पनी ने उन शरणार्थियों को वापस ले जाने से मना कर दिया था जिन्हें संबंधित देश ने स्वीकार नहीं किया (www.deportation-alliance.com)। इस अभियान ने तमाम उल्लिखित तत्वों को एक साथ ला दिया। इस सिलसिले में शेयरधारकों की सालाना बैठक पर उपस्थिति दी गई और एक 'आभासी धरना' भी दिया गया।

ऊपर उल्लिखित रणनीतियां अपने स्वरूप में बुनियादी और तकनीकी क़िस्म की हैं, हालांकि ये हमेशा उतनी मासूम नहीं हैं जितनी दिखाई देती हैं क्योंकि सरकारें या साइन्टॉलजी जैसे समूह विवादास्पद सामग्री वाली साइटों को बन्द करने के प्रयास करते रहते हैं। असल में बहस 'हैक्टिविज़्म' के मुद्दे पर शुरु होती है। आभासी धरनों और डीओएस हमलों से कई अनपेक्षित प्रभाव भी पड़ते हैं। मसलन, उन सर्वर्स पर पड़ने वाला असर जो प्रतिरोध के समीकरण के किसी भी पक्ष में नहीं हैं। इसलिए बहुत सारे हैकर और सिस्टम ऑपरेटर इनकी आलोचना करते हैं। जहां एक तरफ़ हैकर बैन्डविड्थ को नष्ट करना पसंद नहीं करते और नेट को एक मुक्त एवं खुले, निष्पक्ष स्थान के रूप में देखना चाहते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ हैक्टिविस्ट सायबर स्पेस और यथार्थ स्पेस के बीच समतुल्यता पर ज़ोर देते हैं। हैक्टिविस्टों के लिए नेट एक सूचना महामार्ग जैसा है और उन्हें इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि अगर मक़सद साफ़ है तो पुरानी सड़कों की तरह नई सड़कों को जाम करके विरोध क्यों दर्ज नहीं कराया जा सकता है।

हैकर और डच आईएसपी Xs4all के संस्थापकों में से एक, रॉप गौंग्रिप ने 'स्क्रिप्ट खिलंदड़ों' को आगाह किया था कि वे हैकरों की HAL 2001 बैठक के लिए लगाए गए 1 GB क्षमता वाले इन्ट्रानेट से डीओएस हमले न करें। "हो सकता है कि ये जानकर आपको अच्छा लगे कि कई ताक़तवर लोग भी आपको ख़तरनाक मानने लगे हैं। मगर यदि आप यहां से किसी वेबसाइट को ख़राब करते हैं या बहुत भयानक डीओएस हमला बोलते हैं तो इस तरह दरअसल आप केवल उनके मक़सद में सहायक ही सिद्ध होंगे। इस तरह से आप उन उग्रपंथियों को मदद पहुंचाएंगे जो हमेशा यही कहते रहते हैं कि हम लोग किसी काम के नहीं हैं। उन्हें उन वेबसाइटों से कोई लेना-देना नहीं है जिनको आप बिगाड़ रहे हैं। उन्हें डीओएस हमलों से भी कोई मतलब नहीं है। बल्कि उनके नेताओं को तो यहां तक भी पता नहीं है कि माउस कैसे पकड़ा जाता है। उनका मतलब तो सिर्फ़ इस बात से है कि लोग हमें एक भयानक ख़तरा समझने लगें और इस तरह हमें सीखचों के पीछे भेजने में उन्हें और आसानी हो जाए।"[14] रॉप का मानना है कि ऐसे व्यक्तिगत हमलों के चलते सब लोगों पर दमनकारी क़ानून लागू कर दिए जाते हैं। हैक्टिविस्टों ने हैकरों की इस या दूसरी चिंताओं पर अभी तक अपनी राय नहीं दी है। परम्परागत ऐक्टिविस्ट भी अभी इतने निपुण नहीं हुए हैं कि ऐसे तकनीकी मुद्दों पर कोई गंभीर बहस शुरु कर सकें। रॉप आगाह करते हैं कि प्रशासक और अधिकारी डीओएस हमलों को बड़े गंभीर अपराध के रूप में देखते हैं। वह इन हमलों को भी किशोराना व्यवहार मानते हैं: "स्क्रिप्ट खिलंदड़ई के बाद की उम्र में बड़े फ़ायदे होने लगते हैं: हो सकता है आपको अक्सर यह महसूस हो कि आपने कुछ उपयोगी काम किया है, हो सकता है कि लोग आपका मज़ाक न उड़ाएं और यहां तक कि आपको लड़कियों से मिलने का मौक़ा भी मिल सकता है। परंतु ज़्यादा अहम बात यह है: एक समुदाय के रूप में हमारी ज़रूरत यह है कि आप थोड़ा वयस्क हो जाएं। अभी भी हमें ऐसी बहुत सारी प्रौद्योगिकी विकसित करनी है जिनके ज़रिए प्राइवेसी को बचाया जा सके। अभी एक पूरी पीढ़ी को इस बात से वाक़िफ़ कराया जाना है कि उनकी स्वतंत्रता पर हमला किया जा रहा है।"

प्रत्यक्ष कार्रवाई के बारे में "सीएटल" के बाद की मौजूदा राजनैतिक बहस की तुलना उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों के हालात से की जा सकती है। सैबोटाज़ का विचार प्रतिनिधित्व के विमर्श, यानी श्रमिक वर्ग या सामाजिक आंदोलनों के संस्थागत संदर्भ से पूरी तरह विरोध में है। इन प्रातिनिधिक स्वरूपों में एक राष्ट्र राज्य हमेशा मौजूद

रहा है, जबकि प्रतिरोध के स्वतःस्फूर्त, असंगठित, या बेहतर संगठित स्वरूपों में एक वैश्विक वर्ग चेतना अभिव्यक्त होती है। आज जिसे प्रत्यक्ष कार्रवाई कहा जाता है वह सैबोटाज़ की ही अभिव्यक्ति है। No-Logo से Ruckus Society तक, हार्डवेयर, हाई टेक और सेवा उद्योग में बेतहाशा हड़तालों से लेकर इंडीमीडिया, RT Mark, या ऐडबस्टर्स के सिमिऑटिक गुरिल्लों तक ऐक्टिविज़्म के वर्तमान स्वरूप सैबोटाज़ को एक सामाजिक व्यवहार के रूप में पुनर्परिभाषित करना चाहते हैं। परंतु वह इसे सामान्य ध्वंसात्मक अर्थ में नहीं बल्कि एक रचनात्मक, नवीन और सकारात्मक रूप में परिभाषित करना चाहते हैं। ऐसे रचनात्मक सोच से बिना मुखपत्र या संगठन वाले और नाना दृष्टिकोणों से युक्त आंदोलन जन्म लेते हैं।

निष्कर्ष के तौर पर: टैक्टिकल मीडिया जानबूझकर चुना गया एक फिसलन भरा शब्द है। यह अनपेक्षित गठबंधनों पर आधारित "तात्कालिक सर्वसहमति क्षेत्र" रचने का उपकरण है। हैकरों, कलाकारों, आलोचकों, पत्रकारों और ऐक्टिविस्टों का एक वक़्ती गठजोड़। टैक्टिकल होने की इच्छा आत्मसन्तुष्ट समूहों और समुदायों की थकान से राहत पाने और इसके बावजूद अपने हक़ को बनाए रखने की चाह पर आधारित है। टैक्टिकल मीडिया गतिशीलता और तीव्रता बनाए रखता है और हर चीज़ पर एसेंशियलिस्ट सवाल खड़ा करने से बचता है, जिसमें हर व्यक्ति संदेह के दायरे में है तथा कोई चीज़ संभव नहीं है। टैक्टिकल बनने का सबसे जाना-पहचाना रास्ता अभी भी संकर ही है, यानी पुराने का नए के साथ, ज़मीनी का आभासी के साथ मिश्रण।

विश्लेषण और निर्णय से परे, टैक्टिकल का आशय कल्पना और फंतासी को वापस हासिल करने से भी है। प्रतिरोध की क्लासिक रस्में अब आबादी के बहुत बड़े हिस्सों तक नहीं पहुंच पा रही हैं। 1990 के दशक के शुरुआती वर्षों में प्रत्यक्ष कार्रवाई का यही संकट था। आंशिक रूप से यह कल्पनाशीलता की विफलता भी है। इसका एक समाधान केक फेंकने की सामूहिक क्रिया में खोजा गया। यह सत्ता के मुंह पर कालिख पोतने जैसा था![15] क्योंकि केक का अपनी छवि के बिना अस्तित्व ही क्या है? इसका एकमात्र अर्थ एक मीडिया घटना के रूप में ही है। हम इसे सत्ता पर हमला करने का एक आदिम तरीक़ा मान सकते हैं। केक एक अत्यन्त अपमानजनक प्रतिचिन्ह है। उग्र अलगाव की टैक्टिक्स का विवेक यह है कि जितना आप मीडिएटेड दायरे के भीतर पहुंचेंगे उतना ही आप वापस वास्तविकता से टकरायेंगे। रैडिकल मांगें अपने आप में किसी जड़ विश्वास प्रणाली का चिन्ह नहीं हैं (हालांकि वह हो सकती हैं)। यदि उन्हें सही तरीक़े से सूत्रबद्ध किया जाए तो वे बड़े शक्तिशाली चिन्ह हैं, और आकर्षक जुमलों, प्रतीक चिन्हों, और ब्रान्डों के मोह में फंसने को लालायित, भ्रमित उत्तर-आधुनिक मानसिकता को बेधने के लिए तैयार हैं। और सबसे बढ़करः तगड़ी छवियां। केक से लिथड़े नेता की फ़ोटो खींचने का मौक़ा भला कौन गंवाना चाहेगा!

संकर होना किसी भी नई पीढ़ी का चुना हुआ विकल्प नहीं होता। यह एक तकनीकी-सांस्कृतिक अनिवार्यता है। संकरता न तो कोई विचारधारा है और न कोई लक्ष्य। यह एक गंदा डिजिटल यथार्थ है। संकरता को अक्सर अपने आपमें अच्छा ही माना जाता है (वैसे शुद्धतावादी इसे बुरा ही मानते हैं), जिसमें अलग-अलग चैनलों के बीच आने-जाने की विराट सम्भावनाएं होती हैं जो विभिन्न संकेतों, इरादों और विषयों का घालमेल कर सकता है। यह ऊर्जाओं के समन्वय की दिशा में आर्थिक एवं प्रौद्योगिकीय विचलन के अनुरूप स्वाभाविक ढंग से काम करता है। संकरता दरअसल जीवित रहने की शर्त है, दरअसल इसमें पसंद-नापसंद वाली कोई बात है नहीं। जो लोग इसे विचारधारा समझ लेने की ग़लती कर बैठते हैं, उनके लिए वापसी का कोई रास्ता नहीं है। इस दुनिया में संकरता का मतलब कनेक्टिविटी है। यानी हर एक चीज़ को शुद्धता की परवाह किए बग़ैर दीगर चीज़ों से जोड़ना। इसका आशय "अगर चीज़ जुड़ने वाली है, तो चलेगी" के नवउदार विचार से है। परंतु एक बिंदु पर आकर टैक्टिक्स और संकरता के यह युग्म टूट जाते हैं तथा जटिलता समाप्त हो जाती है। और आपको चुनाव करना ही पड़ता है। यही वह बिंदु है जहां आकर 1989 के बाद की संक्रमणकालीन टैक्टिकल मीडिया की कथा समाप्त हो जाती है और नए आयाम खुलने लगते हैं।

संदर्भ

1 इस अध्याय को लिखते हुए मैंने आंशिक रूप से निम्नलिखित आलेखों के विभिन्न अंशों का प्रयोग किया: 'स्ट्रैटजीज़ फ़ॉर मीडिया ऐक्टिविज़्म', "कोड रेड" की फ़ोरम इवेन्ट पर दिया गया वक्तव्य, द परफ़ॉरमेन्स स्पेस, सिडनी, 23 नवम्बर, 1997, जिसे 2 दिसम्बर, 1997 को *नेटटाइम* पर पोस्ट किया गया; 'द एबीसी ऑफ़ टैक्टिकल मीडिया' (डेविड गार्सिया के साथ), *नेटटाइम*, 16 मई, 1997, 'द डीईएफ़ ऑफ़ टैक्टिकल मीडिया' (डेविड गार्सिया के साथ), *नेटटाइम*, 22 फ़रवरी, 1999; 'न्यू रूल्स फ़ॉर द न्यू एक्टोनॉमी' (फ़्लोरियन श्नाइडर के साथ), *रफ़ स्टेट्स*, मीडिया सर्कस रीडर, मेलबॉर्न, जुलाई 2001 में इसका एक विस्तृत संस्करण 26 जून, 2001, को *नेटटाइम* पर पोस्ट किया गया.

2 पॉल शेफ़ियार्ड, 'व्हाट इज़ आर्किटेक्चर? एन एस्से ऑन लैंडस्केप बिल्डिंग्स', जिसे ब्रायन कैरोल, *नेटटाइम*, 24 जुलाई, 2001 में उद्धृत किया गया है.

3 सम्बन्धित सामग्री: 'एन्ड्रियास ब्रॉकमान, नेक्स्ट फ़ाइव मिनट्स: टैक्टिकल मीडिया, सम प्वाइन्ट्स ऑफ़ डिपार्चर', http://www.dds.nl/~n5m/texts/abroeck.html; पीटर लेम्बॉर्न विलसन, 'रेसपॉन्स टू द टैक्टिकल मीडिया मैनिफ़ैस्टो', *नेटटाइम*, पिट शुल्ज़ द्वारा पोस्ट किया गया, 19 मई, 1997; हाकिम बे, 'द ओबेलिस्क', *नेटटाइम,* डायना मैकार्टी द्वारा पोस्ट किया गया, नवम्बर 23, 1997; डेविड गार्सिया, 'ओल्ड एण्ड न्यू ड्रीम्स फ़ॉर टैक्टिकल मीडिया', *नेटटाइम,* 23 फ़रवरी, 1998; N5M3, 'कॉन्सेप्ट ऑफ़ नेक्स्ट फ़ाइव मिनट्स 3', *नेटटाइम*, 24 दिसम्बर, 1998; 'हैकिंग ऐक्टिविज़्म, ऐन ईमेल डायलॉग बिटवीन एलैक्स गैलोवे एण्ड गीयर्ट लोविंक', *नेटटाइम,* 19 फ़रवरी, 1999; राल्फ़ होमेन, 'आर्ट ऑफ़ कैम्पेनिंग', *नेटटाइम*, 29 जुलाई, 1999; जोसेफ़ाइन बेरी, 'टैक्टिकल आर्ट इन विज़ुअल स्पेस', *नेटटाइम,* 13 सितम्बर, 2000, क्रिटिकल आर्ट इनसेम्बल, डिजिटल रेज़िस्टेन्स, ऑटोनोमीडिया, 2001. इसे भी देखें, रायन ग्रिफ़िस, 'इन्टरव्यू विद क्रिटिकल आर्ट इनसेम्बल', *नेटटाइम*, 18 दिसम्बर, 2000.

4 'टैक्टिकल मीडिया' शब्द को 1996 में रोम, इटली के कुछ मीडिया ऐक्टिविस्टों के एक समूह ने उठाया था और उसे लेकर टैक्टिकल मीडिया क्रू, www.tmcrew.org. का गठन किया था. यह पांच युरोपीय भाषाओं में उपलब्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय एक्टिविस्ट वेबसाइट/पोर्टल है जिसमें अन्य शीर्षकों के अलावा चियापास और ज़पातिस्ता, नोम चॉम्स्की, नारीवाद, फ़्री रेडियो, इटेलियन सामाजिक केंद्रों जैसे शीर्षक उठाए गए. इस समूह का उद्देश्य मार्शल मैकलुहान की यह उक्ति है: "तृतीय विश्वयुद्ध एक गुरिल्ला सूचना युद्ध होगा, जिसमें सैनिक और नागरिक शिरकत के बीच कोई फ़र्क़ नहीं रहेगा."

5 देखें www.indymedia.org.

6 1993 के नेक्स्ट फ़ाइव मिनट्स सम्मेलन पर रिपोर्ट के लिए देखें, डगलस रशकॉफ़, *मीडिया वायरस: हिडन एजेन्डास इन पापुलर कलचर,* बैलेन्टाइन, 1994. इसे भी देखें, डेविड गार्सिया, 'अ पाइरेट यूटोपिया फ़ॉर टैक्टिकल टेलीविज़न', *नेटटाइम,* 5 मई, 1996; फ़्रेंज़ फ़ीग्ल, 'टॉकिंग अबाउट शॉर्टकमिंग्स ऑफ़ ऐस्थेटिक एण्ड पोलिटिकल टेलीविज़न', नेक्स्ट फ़ाइव मिनट्स के अवसर पर दिया गया भाषण, जनवरी 1993 (http://feigl.com/OOIT/N5Mspeach1/) N5M 1-3 वीडियोटेप्स का संग्रह (http://www.iisg.nl/visual_archives/n5m/index.html). "कलेक्टिंग न्यू मीडिया" और टैक्टिकल टेलीविज़न पहलक़दमियों के संदर्भ पर और सामग्री के लिए देखें जेबे वॉन तिजेन द्वारा लिखित N5M वीडियो कैटालॉग की भूमिका (http://www.iisg.nl./visual_archives/n5m/histintro.html).

7 सोरेन कीर्केगार्ड, *डायरीज़*, जूलियन इवान्स, 'ऐन एज ऑफ़ पैशनलेस पावर्स', *ऑस्ट्रेलियन फ़ाइनेन्शियल रिव्यू,* 22 जून, 2001 में उद्धृत.

8 क्रिटिकल आर्ट एनसेम्बल, 2001 की पाण्डुलिपि से उद्धृत.

9 जैसा कि एडिल्क्नो, 1998 के पृष्ठ 12-15 में कहा गया है, इस अर्थ में टैक्टिकल मीडिया की अवधारणा सम्प्रभु मीडिया की अवधारणा से भिन्न है. इसे भी देखें, एरिक क्लूटेनबर्ग, 'मीडिया विदाउट एन ऑडियन्स', *नेटटाइम,* 19 अक्तूबर, 2000.

10 हाकिम बे संगठन के प्रश्न पर एक प्रमुख विचारक हैं. उन्होंने चीनी शब्द 'टौन्ग' का जैसा प्रयोग किया है उसके लिए देखें, बे, 1994, पृ. 13-18.

11 इसे भी देखें *एन.एल-डिज़ाइन*, 2001.

12 http://www.aec.at/infowar/NETSYMPOSIUM/ARCH-EN/. इलेक्ट्रॉनिक डिसओबिडिएन्स थियेटर का यूआरएल: http://www.thing.net/~rdom/ecd/ecd.html. फ़्लडनेट होमपेज: http://www.thing.net/~rdom/ecd/ZapTact.html. ईसीडी पर इसके एक सदस्य स्टीफ़ान रे ने कुछ और सामग्री लिखी है:

http://www.nyu.edu/projects/wray/wwwhack.html;

http://www.nyu.edu/projects/wray/RhizNom.html;

http://cadre.sjsu.edu/web/v4n2/stefan/. इलेक्ट्रॉनिक सिविल डिसओबिडिएन्स (1994 से) पर क्रिटिकल आर्ट एनसेम्बल के मूल निबंध के लिए देखें http://www.critical-art.net/ECD/Ch_1.html.

13 N5M3 नेट एक्टिविस्ट मंच (www.n5.org/n5m3) वेब जरनल रिपोर्ट से: 'पीटर्सबर्ग के कलाकार स्टीव कुर्ट्ज़ का मानना है कि इलेक्ट्रॉनिक डिस्टरबेन्स थियेटर के लोग जिस तरह से फ़्लडनेट के ज़रिए काम कर रहे हैं उससे बहुत असर नहीं पड़ने वाला है. उनके मुताबिक़ जब तक पेंटागन या मेक्सिको सरकार को कुछ परेशानी होनी शुरु होगी तब तक उन देशों के तमाम सर्वर ठप्प हो चुके होंगे जिनके पास इंटरनेट की बहुत सीमित ही पहुंच है. यदि ब्रैस यह मान लें कि इन क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं है तो यह सारी कोशिश उल्टे नुक़सान भी पहुंचा सकती है'. Xs4all के रोप गौंग्रिप कहते हैं: "निशाने पर फ़्लडिंग या भरमार कर देने से आप अपने ही स्थानीय प्रॉक्सी सर्वर को ठप्प कर देते हैं, जो कि अन्जानी वेबसाइटों की विषयवस्तु को पकड़ने लगते हैं". इसे भी देखें, लुथर ब्लिसेट, 'द एक्स वाई ज़ेड ऑफ़ नेट ऐक्टिविज़्म,' *नेटटाइम,* 3 मार्च, 1999.

14 रॉप गौंग्रिप, "COPS, CRIMES and HAL2001 or ScRiPt KiDdy MaNuAl To HaL2001" (hippiesfromhell सूची से मूल), पैट्रिस रीमेन्स द्वारा भेजा गया, *नेटटाइम,* 18 जुलाई, 2001.

15 देखें बायोटिक बेकिंग ब्रिगेड, http://www.asis.com/~bbb.

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

डिजिटल युग में पुस्तक का भविष्य

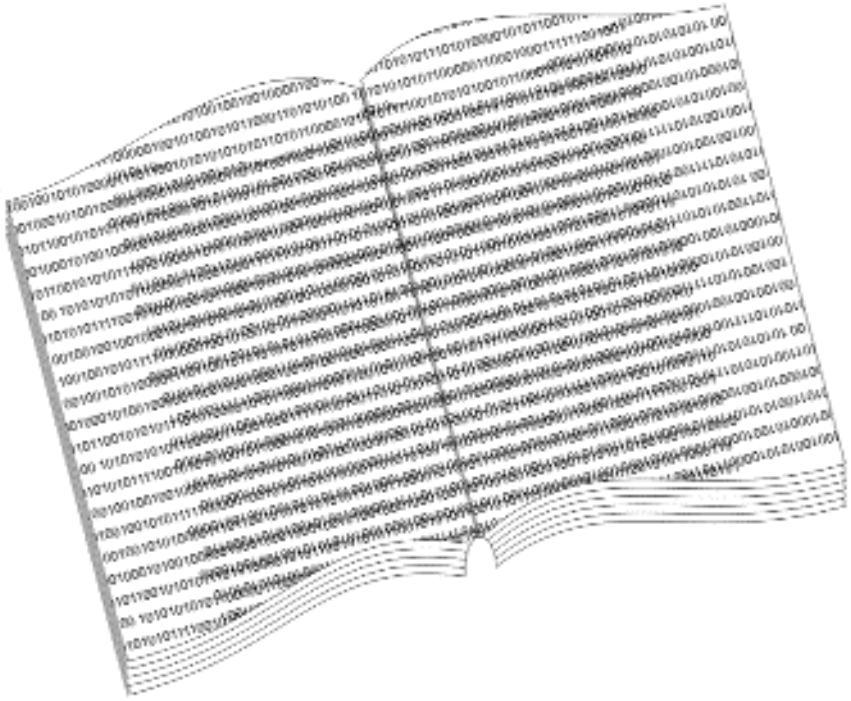

लिखित संस्कृति में परिवर्तन – रॉजर शार्तिए (फ़्रांस)

वर्तमान समय की मौलिकता और संभवतः अनिश्चितता हमारी लिखित संस्कृति में होने वाली अनेक क्रांतियों की देन है। बीते दिनों में ऐसी क्रांतियाँ अलग-अलग घटित होती थीं, लेकिन आज ये एक साथ होती हैं। इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट क्रांति ने इबारत के उत्पादन और पुनरूत्पादन की तकनीक में आमूल परिवर्तन तो किया ही है। साथ ही इसने टेक्स्ट की प्रमाणिकता व बतौर माध्यम इसके रूप तथा पढ़ने की आदत में भी क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है। इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट क्रांति के इन तीन आधारभूत लक्षणों ने लिखित संस्कृति के साथ हमारे संबंधों में एक बुनियादी परिवर्तन ला दिया है।

सबसे पहली बात, लेखन की इलेक्ट्रॉनिक अभिव्यक्ति से संदर्भ के साथ-साथ अर्थ निर्माण की प्रक्रिया भी बुनियादी तौर पर बदल जाती है। किसी किताब के विभिन्न हिस्सों की भौतिक नज़दीकी की जगह डिजिटल संग्रहों को नियंत्रित करने वाली तार्किक वास्तुकला (Logical Architecture) की विविधताएँ ले लेती हैं।

चूंकि कृति और उसकी अंतर्वस्तु का संबंध जोड़ने वाली प्रकटतः दृश्य कड़ी ढीली पड़ जाती है, इसलिए इलेक्ट्रॉनिक अभिव्यक्ति के रूप में इबारत तत्व पुनर्परिभाषित हो जाता है। कभी रचना, काटना-जोड़ना और पुस्तकीय (Textual) इकाई की साज-सज्जा आदि पर लेखकों और संपादकों का एकाधिकार होता था। किन्तु इलेक्ट्रॉनिक अभिव्यक्ति ने उनके इस एकाधिकार को अब समाप्त कर दिया है। पाठकगण भी अब इस इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट में फेर-बदल कर सकते हैं। इस तरह इलेक्ट्रॉनिकी ने टेक्स्ट के प्रत्यक्ष-बोध और फेर-बदल की पुरानी व्यवस्था को पूर्णतः धराशायी कर दिया है। आज के पाठक कम्प्यूटर स्क्रीन पर टेक्स्ट को पढ़ते हुए, कुछ मायने में प्राचीन समय के पाठकों जैसा रवैया अपनाते हैं। लेकिन कुछ महत्वपूर्ण अंतर भी हैः वे ऐसी कुंडली (Scroll), पढ़ते हैं, जो ऊपर से नीचे खुलती है। इनमें वे सारे गुण हैं जो ईस्वी सन् की प्रारंभिक सदियों की पुस्तक-संरचना में थेः इनमें

पृष्ठों की संख्या है, अनुक्रम है, विषय-वस्तु, आदि सब है। पहले के मुख्य इबारती माध्यमों - कुंडली (Volumen) और कोडेक्स (Codex) — के संगम ने पाठ के साथ हमारा मूल रिश्ता ही बदल दिया है।

बीते दिनों के संपूर्ण ज्ञान-अर्जन के हमारे सपने को, जो अभी तक अधूरा ही है, इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट इन परिवर्तनों की वजह से साकार कर सकता है। अलेक्ज़ेन्ड्रिया के पुस्तकालय की तरह, इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट भी किसी भी टेक्स्ट और कभी भी छपी पुस्तक को सर्वव्यापी एवं सुलभ बना सकते हैं। पुनर्जागरण काल के संकलन और संग्रह की भांति इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट भी अपने पाठक से सहयोग की अपेक्षा करता है। पाठक इस 'बे-दीवार पुस्तकालय' अर्थात् इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट में प्रवेश कर इसमें लिख भी सकते हैं।

इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट हमें ज्ञानोदय की याद भी दिलाता है। यह हमें एक ऐसा आदर्श सार्वजनिक मंच प्रदान करता है जहाँ व्यक्ति अपने विवेक का उपयोग मुक्त रूप से कर सकता है। जैसा कि कान्ट का कहना था कि विवेक का इस्तेमाल, जिसे बुद्धिजीवी संपूर्ण पाठक वर्ग के फ़ायदे के लिए करते हैं, वही विवेक नागरिकों को भी यह अधिकार देता है कि वे बिना किसी बाधा, प्रतिबंध अथवा निषेध के बुद्धिजीवी के रूप में पुरातन व्यवस्था के दोषों के बारे में अपने विचार को लिखित रूप में व्यक्त करें। विचारों की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति एक अनिवार्यता भी है।

यद्यपि मुक्त और फ़ौरी संचार व्यवस्था में स्वाभाविक सामान्य संदर्भों के खोने, पहचानों के खंडित होने तथा असामान्य आदतों के बढ़ने का ख़तरा होता है, किन्तु दूसरी तरफ़ यह ज्ञान के निर्माण और संप्रेषण का एक नया मॉडल भी पेश करता है। यह नया मॉडल सिर्फ़ स्थापित विषयों को ही दर्ज नहीं करेगा, बल्कि 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के रिपब्लिक दि लेटर्स (Republic des letters) — एक पश्चिम युरोपीय बुद्धिजीवियों के समूह द्वारा संपादित पत्रिका जो सेन्सरशिप से बचने के लिए नीदरलैण्ड से प्रकाशित होती थी — की तरह सूचना, दक्षता व बुद्धिमत्ता के आदान-प्रदान पर आधारित ज्ञान की एक सामूहिक रचना होगा।

अपने पूरे इतिहास में इंसान ने नाना तरह के लफ़्ज़ और जुमले इस्तेमाल कर विमर्श गढ़े हैं। इस चेहरे में सार्विकता की आकांक्षा भी दिखती है। अगर सब इस जहाज़ पर सवार हो जाएं तो इसकी महाज्ञान-यात्रा से उनकी पुरानी हसरत पूरी हो सकती है।

इलेक्ट्रॉनिक इबारत के युग में पुस्तकों के भविष्य के बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले इन कथनों पर विचार करना ज़रूरी होगा। साथ-साथ सार्वभौतिकता चाहे छपे पन्ने की बात हो या कम्प्यूटर के पर्दे की, किताब के फरमे में बदलाव के साथ-साथ "वही" इबारत "वही" नहीं रह जाती। साथ ही, ग्रंथों के संप्रेषण में अपनाये जाने वाले विभिन्न तरीक़ों के भी एक समान होने की गुंजाइश नहीं होती है। अतएव, छपी हुयी पुस्तक और इलेक्ट्रॉनिक ग्रंथ के स्थायी सह-अस्तित्व के संबंध में एक अस्थायी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट नये ढंग से संपूर्णता और सार्विकता की वही अभिलाषा पूरी करने का वादा है, जिसकी कोशिशें इंसान युगों से शब्द के माध्यम से करता रहा है। जबकि छपी हुई पुस्तक के साथ वह अपने घनिष्ठ और विश्वस्त संबंध को भी बनाये रखेगा।

टेक्स्ट के प्रकार और उनके प्रचलन पर आधारित इस प्रकार का बँटवारा, इन दो लिखित मीडिया के बीच श्रम के पुनर्विभाजन की संभावना का भी संकेत देता है। यदि छपे हुए काग़ज़ात का वज़न बोइंग विमान के वज़न के बराबर हो जाय तो निश्चित तौर पर यह कहा जा सकता है कि इलेक्ट्रॉनिक डेटाबेस का उपयोग अधिक बढ़ जाएगा। दूसरी तरफ़, सदियों से जो मुद्रित शब्द और काल्पनिक साहित्य (चाहे वह काव्यात्मक हो या रोमांटिक) के बीच घनिष्ठ संबंध बना है, वह भी तुरंत समाप्त नहीं हो जाएगा। लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि भविष्य में ऐसे विलक्षण और सरल कंप्यूटर आ सकते हैं जो हमें मुद्रित शब्दों के समान ही आनंदित और भावविभोर कर सकेंगे।

मुद्रित पुस्तक हमारी परिचित दोस्त रही है। यह हल्के वज़न की तथा ढोने में आसान होती है। किन्तु यह पाठकों को एक ऐसी इबारत भी प्रदान करती है जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट लचीला, सक्रिय तथा हमेशा गतिशील होता है। लेकिन इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट के ये गुण, पुस्तक के वज़न और आकार के घटाये जाने पर भी, उसकी स्थूल उपस्थिति के अहसास को भूलने नहीं देता है। इसीलिए, आज इलेक्ट्रॉनिक और

मुद्रित टेक्स्ट की भूमिका को लेकर हम जिस स्वैच्छिक विभाजन को देख रहे है, वह भविष्य में कुछ समय तक और जारी रह सकता है।

नया ऑनलाइन पुस्तक समुदाय – हॉवर्ड राइनगोल्ड (यूएसए)

मानव द्वारा अभी तक किए गए सभी आविष्कारों में पुस्तक एक सशक्त, उपयोगी तथा सार्वभौमिक तकनीक रही है। पुस्तक के निर्माण में अनेक तकनीकों का उपयोग होता है, जैसे वर्णमाला, टंकण, लेखन, सूची, काग़ज़, मुद्रण तथा वितरण के साधन। इनमें से आख़िरी तीन धरती के सीमित संसाधनों में सेंध लगा रहे हैं; अगर काग़ज़ का कोई जैविक विकल्प ढूंढ भी लिया जाए तो भी खेती की ज़मीन तो सस्ती होनी नहीं है। इसके अलावा, काग़ज़ पर छपाई के लिए प्रयुक्त होने वाली स्याही का मूल्य (स्क्रीन पर दिखाये जाने वाले इलेक्ट्रॉन के मूल्य की तुलना में) तथा काग़ज़ के बंडल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में ख़र्च होने वाले पेट्रोल तथा दूसरे ऊर्जा स्रोतों का बढ़ता मूल्य भी पुस्तक के मुद्रण तथा वितरण के पारंपरिक तरीक़ों की उपयोगिता को सीमित करता है। जबकि ऐसी उम्मीद की जाती है कि इलेक्ट्रॉनिक पुस्तक दशकों तक ही नहीं बल्कि संभवतः शताब्दियों तक उठाने लायक ख़र्च पर उपलब्ध रहेगी।

आप एक पुस्तक को आसानी से ढो सकते हैं। हाथ से गिर जाए तो भी ज़्यादा नुक़सान नहीं होगा। यदि आप इसे कुछ समय के लिए पानी में भी गिरा दें तो नष्ट नहीं होगी। आप किसी भी पन्ने तक आसानी से पहुँच सकते हैं और इसके हाशिए पर लिख भी सकते हैं।

फिर भी, कम्प्यूटर व नेटवर्क भंडारण (Storage) के ज़रिए सूचनाओं के प्रेषण के अनेक लाभ हैं। सबसे प्रमुख लाभ यह है कि किसी भी टेक्स्ट को विश्वव्यापी संचरण में लम्बे समय तक रखा जा सकता है। ऐसी व्यवस्था करना पुस्तक उद्योग के लिए आर्थिक रूप से संभव नहीं होगा। डिजिटल रूप में संचित सूचनाओं की विश्वव्यापी पहुँच, उनको शीघ्र खोजने की क्षमता, कॉपी करना और उन्हें पुनः भेजने की सुविधा हमें बढ़िया अवसर तो प्रदान करती है परन्तु साथ में कुछ उद्विग्न करनेवाली समस्याओं को भी सामने लाती है (इसका एक अच्छा उदाहरण है बौद्धिक संपदा अधिकार। अब समस्या यह है कि इस अधिकार के संबंध में हमारे विचारों का समायोजन नयी व्यवस्था के साथ कैसे होगा)। किन्तु वर्तमान में, अनेक महत्वपूर्ण मामलों में कम्प्यूटर और नेटवर्क की तुलना पुस्तक के साथ नहीं की जा सकती है।

पुस्तक उत्पादन की तुलना में इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट उत्पादन, मात्रा के लिहाज़ से, अभी भी सालों पीछे है। उसी तरह पुरानी लिपियों को कम्प्यूटर पर सही-सही दिखा पाने में हम कई दशक पीछे हैं। पुस्तक पर व्यय करने की क्षमता से यह कई गुणा महँगा है। आज के मुद्रण में नई तकनीकों के आगमन से अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। इन नयी तकनीकों ने मानव को एक ऐसा साधन उपलब्ध कराया है जिसके द्वारा वह देखने योग्य सूचनाओं को काफ़ी विश्वसनीयता और पर्याप्त तेज़ी से समझ सकता है। टंकण की विशेष पद्धति जैसे सेरिफ़ (Serif) आदि ने किसी पंक्ति को पढ़ने के कार्य को और नेत्रप्रिय बना दिया है। शताब्दियों के रियाज़ के बाद हमने अक्षरों के तुलनात्मक आकार, पुस्तक में दो पन्नों के बीच ख़ाली जगह (Gutter) और हाशियों का विकास किया है।

टंकण को इलेक्ट्रॉनिक रूप से सूचना संप्रेषण का एक प्रभावी माध्यम बनाने के लिए कम्प्यूटर स्क्रीन के रेज़ोलूशन (Resolution) को कम से कम तीन गुणा ज्यादा सशक्त करना होगा और यदि संभव हो तो इसे आज के पर्सनल कम्प्यूटर स्क्रीन की तुलना में दस गुणा तक बढ़ाया जाना चाहिए। साथ ही, कम्प्यूटर की गणना शक्ति को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जाना आवश्यक है ताकि किसी भी जटिल अक्षर को यह अविलंब प्रस्तुत कर सके। यद्यपि आज के कम्प्यूटर की गणना शक्ति पर्याप्त है किन्तु उच्च रेज़ोलूशन वाले स्क्रीन केवल प्रयोगशालाओं तक ही सीमित हैं। आज उच्च रेज़ोलूशन वाले स्क्रीन की उत्पादन सुविधा की स्थापना का कार्य 15वीं शताब्दी में मुद्रण प्रेस की स्थापना के कार्य से भी जटिल है।

इस चेतावनी के साथ कि डिजिटल मीडिया शीघ्र ही किसी समय पुस्तक का स्थान ले सकता है, मैं यह कहना चाहूँगा कि डिजिटल माध्यम ने पुस्तक के कई पहलुओं को ऐसा आश्चर्यजनक विस्तार दिया है, जिसके बारे में कुछ

वर्ष पहले तक सोचा नहीं जा सकता था। मैंने वर्ल्ड वाइड वेब पर अपनी दो पुस्तकों को प्रकाशित किया है। अंग्रेज़ी में इन दोनों पुस्तकों का मुद्रित संस्करण बाज़ार से ग़ायब है, ये दोनों पुस्तकें अभी केवल मेरी वेबसाइट पर ही उपलब्ध हैं। मुझे यह भी पता है कि संसार के सैकड़ों कॉलेजों में इसका पाठ्य-पुस्तक के रूप में उपयोग किया जाता है। मैंने अपनी इन पुस्तकों के वेब प्रकाशन के लिए शोध, संदर्भ सूची और दोनों के बीच संबंध स्थापित करने वाले लिंक्स देने के लिए ज़हमत भरा कार्य किया।

मुझे अपनी किताबों को लिखने में इंटरनेट से काफ़ी सहायता मिली। इस संबंध में यह कहना काफ़ी होगा कि यदि इंटरनेट न होता तो यह कार्य मैं वर्षों में भी नहीं कर सकता था। पहले अपने पाठकों से मिलना, उनके विचारों को जानना एक कठिन कार्य था — उनसे सिर्फ़ ऑटोग्राफ़ देने वाले अवसरों पर मुलाक़ात होती थी। लेकिन कम्प्यूटर कॉन्फ्रेंसिंग की सहायता से अब लेखक अपने उन पाठकों का एक वर्चुअल समुदाय बना सकता है जो उसकी पुस्तक पर बातचीत के लिए उत्सुक हों।

मेरे लिए ऑनलाइन पाठकों का समुदाय मेरी लेखन प्रक्रिया का एक अटूट हिस्सा बन गया है। यह समुदाय एक तरह से मेरा अपना गढ़ा हुआ व्यावहारिक थिंक टैंक (think tank) है जिनसे संवाद करते हुए मैं अपने विचारों का परीक्षण करता हूँ। पुस्तकों के इलेक्ट्रॉनिक वितरण ने पाठकों और लेखकों को एक ऐसा मंच प्रदान किया है जहाँ पाठक पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते जब चाहें आसपास चलती बहस में कूद सकते हैं। यह एक नितांत नयी प्रकार की साक्षरता है जिसमें विचार-विमर्श और प्रकाशन दोनों शामिल है।

जिस तरह प्रकाशन कंपनी तेज़ी से बहुराष्ट्रीय मंनोरजन कंपनियों की अनुषंगिक इकाई बन रही है वैसे में पुस्तक व्यवसाय का आर्थिक पहलू पुस्तकों की मुद्रित मात्रा को सीमित कर देगा। परिणामतः मुद्रित संस्करण बहुत अधिक समय तक बाज़ार में उपलब्ध नहीं रह पाएगा। इस परिस्थिति में विश्वव्यापी तथा आसानी से उपलब्ध इलेक्ट्रॉनिक पुस्तक ही एक अच्छा विकल्प रह जाएगा।

लेखकों को अमुद्रित पुस्तकों से रॉयल्टी नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में यदि मैं अपनी पुस्तक को इंटरनेट पर उपलब्ध रखता हूँ तो मुझे कोई ज़्यादा ख़र्च नहीं आता हैं। बतौर संसाधन के पैसे की आवश्यकता मेरे लेखन के लिए हमेशा से रही है लेकिन यह लिखने की वजह कभी नहीं रहा। फिर भी ऐसा हो सकता है कि कुछ लेखक, संपादक और दूसरे लोग जो अपने ज्ञान और मेहनत से बौद्धिक संपदा का निर्माण करते है, अपनी बौद्धिक संपदा के उपयोग के बदले में शुल्क चाहें। किन्तु, शब्दों, चित्रों और ध्वनियों की रचना और वितरण से संबंधित बौद्धिक संपदा अधिकार के मामले का भविष्य में समाधान इस संदर्भ को ध्यान में रख कर करना होगा कि हम लोग एक ऐसी विश्व व्यवस्था में रह रहे हैं जहाँ बिट्स सस्ते हैं, भौतिक चीज़ें मंहगी हैं।

टेक्स्ट का पुनरागमनः शब्दों की शक्ति – उएनो चिज़ुको (जापान)

जब इंटरनेट की लोकप्रियता बढ़ने लगी तो मेरा पहला ख़याल थाः 'अच्छा है! अब टेक्स्ट (Text) का ज़माना एक बार फिर आएगा।'

मैंने इंटरनेट को संचार माध्यम के विकास की हालिया प्रवृत्तियों — मुद्रित पृष्ठ से वायु तरंगों, ऑडियो से वीडियो — के व्यतिक्रम के रूप में देखा। मल्टीमीडिया — यानी आवाज़, छवि और गति के संगम ने उन्हीं वीडियो और वर्चुअल रियालिटी के स्वप्न को साकार करने में हमें समर्थ बनाया है — और इसकी प्रगति अबाध गति से हो रही है। जब वीडियोफ़ोन की दो तरफ़ा संचार के आत्यन्तिक माध्यम के रूप में बड़ाई की गयी तो मेरी प्रतिक्रिया थी, ज़रा ठहरो। मैंने अभी तय नहीं किया है कि मैं इसे अपने दैनिक जीवन का हिस्सा बनाना चाहती हूँ।

उम्बर्तो इको (Umberto Eco) ने एक बार कहा था कि भाषा झूठ बोलने का एक साधन है। अतः यह स्वाभाविक है कि संदेश प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संदेश का चेहरा ही नहीं पढ़ेगा, कुछ तो पैग़ामे ज़बानी और है — यह भी जानने का प्रयास करेगा। व्यक्ति वक़्ता के वचनों तथा उसमें छिपे अतिरिक्त अर्थ को जानने के लिए वक्ता की आवाज़, आवाज़ में उतार-चढ़ाव व हिचकिचाहट, चेहरे पर आते-जाते भाव तथा भाषण के समय की परिस्थिति आदि से भी अवगत होना चाहेगा। किन्तु वीडियोफ़ोन के आगमन से अब दूसरी तरफ की पार्टी आपकी परिस्थिति से परिचित

हो जाएगी। ऐसे में इस बात पर से आपका नियंत्रण समाप्त हो जाएगा कि आप क्या भेजना चाहते है और क्या नहीं। वीडियो से सुसज्जित सेलफ़ोन की कल्पना कीजिए और आप पाऐंगे कि धोख़ेबाज़ प्रेमी के लिए जब यह मुश्किल हो जाएगा: अपनी प्रेमिका के साथ बिस्तर में लेटे हुए यह कहना कि प्रिय, मैं आज देर तक ऑफ़िस में काम कर रहा हूँ।

वाक़ई, मल्टीमीडिया की विजय यात्रा को रोक पाना मुश्किल है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि दृश्य-सूचना शब्दों की तुलना में, संचार और अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। जिन व्यक्तियों के करियर निर्माण का समय प्रिन्ट मीडिया के निम्न तकनीक युग में गुज़रा है उन्हें ऑडियो अथवा विज़ुअल (Visual) मीडिया से अपने को अभिव्यक्त करने में कठिनाई होगी, क्योंकि उनकी कार्यकुशलता का विकास भाषा-आधारित सूचना के माध्यम से हुआ रहता है। मेरी कामना है कि मैं भी उन विद्वानों में शामिल होती जो नाच (Dance) और गा सकते है। ऐसा संभव नहीं है, इसीलिए जब मैं आज के प्रतिभा-संपन्न युवा वर्ग का फ़िल्म, वीडियो, इलेक्ट्रॉनिक संगीत और कम्प्यूटर ग्रैफ़िक्स की तरफ़ झुकाव देखता हूँ, तो मुझे ईर्ष्या होती है किन्तु मैं इस नये मीडिया के दुर्निवार आकर्षण को भी समझती हूँ।

तकनीकी क्रांति नये प्रकार की अभिव्यक्तियों को जन्म दे रही है। जब कोई पीढ़ी एक नयी तकनीक को अपनाती है, और उससे खेलना सीख लेती है तो यह अपने को उसी माध्यम के अनुरूप ढाल कर व्यक्त करने लगती है। विगत कुछ दशकों में हम लोगों ने जापान में ऐसा होते हुए देखा है, जहाँ प्रतिभासंपन्न युवा वर्ग ने एक के बाद दूसरे माध्यम जैसे पहले कॉमिक्स, उसके बाद ऐनिमेटेड फ़िल्म और फिर वीडियो गेम में अपने को डुबो लिया है।

मैं ग़ैर-जापानी पाठकों को बताना चाहूँगी कि जापान में कॉमिक्स और ऐनिमेशन केवल बच्चों अथवा निम्न भ्रू (Lowbrow) वाले पाठकीय बाज़ार के लिए नहीं होता है। युरोप अथवा उत्तरी अमेरिका में कॉमिक्स को वस्तुतः निम्न संस्कृति का पर्याय माना जाता है। किन्तु जापान में वहाँ के विस्तृत पब्लिशिंग बाज़ार ने ऐसे प्रतिभा संपन्न कॉमिक्स कलाकारों को, जो इस दृश्यात्मक माध्यम का दोहन करने में सक्षम हैं, को काफ़ी बढ़ावा दिया है। उन्होंने ऐसी उच्च कोटि के काल्पनिक कॉमिक्स की रचना भी की है जिसमें प्रायः तत्वज्ञानी (Metaphysics) कुशाग्रता दिखती है। इसका एक अच्छा उदाहरण मियाज़की हयाओ (Miyazaki Hayao) हैं। इनकी ऐनिमेटेड फ़िल्में मानवता और प्रकृति के सह-अस्तित्व से संबंधित दार्शनिक मसले उठाती हैं। लड़कियों के कॉमिक्स वर्ग में औरतों की मनःस्थिति और उनकी कामुकता की भावपूर्ण अभिव्यक्ति करने वाले सरोकार लक्ष्य किए जा सकते हैं।

लेकिन साथ ही शाब्दिक सूचना का निम्न-तकनीकी क्षेत्र (जिससे मैं और दूसरे विद्वान जुड़े रहे हैं) अपना आकर्षण खोता प्रतीत हो रहा है। इस क्षेत्र में हुनरमंद व्यक्ति को आकर्षित करना काफ़ी मुश्किल हो गया है और जैसा कि हम जानते हैं कोई भी क्षेत्र जिससे प्रतिभा का पलायन शुरु हो जाता है वह अंततः बंजर में तब्दील हो जाता है।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता हैं कि टीवी ने वायु तरंगो पर प्रभुत्व जमा लिया है, किन्तु रेडियो को अभी भी एक इज़्ज़तदार स्थान प्राप्त है। कॉमिक्स, ऐनिमेशन, और वीडियो का काफ़ी तेज़ी से विकास हुआ है। फिर भी, लोग अभी भी उपन्यास और लघु कहानियों को पढ़ते ही हैं। आधुनिक रिवाज के मुताबिक़ रेडियो को पीछे कहीं चालू रखा जाता है। लोगों की इस आदत ने रेडियो को टेलीविज़न से अलग एक उपयुक्त स्थान प्रदान किया है। रेडियो कार्य स्थल पर, टैक्सी चालकों तथा लम्बी दूरी के ड्राइवरों, जवान व बूढ़े जिन्हें रातों में नींद आने में समस्या होती है, सभी के लिए ईश्वरीय वरदान जैसा है।

उपन्यासों में अक्सर व्युत्पन्न कॉमिक्स अथवा ऐनिमेटेड फ़िल्म का बोलबाला है किन्तु इसकी विपरीत प्रक्रिया भी शुरु हो गयी है, क्योंकि अब कॉमिक्स को उपन्यासों का रूप दिया जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि वे पाठक जिन्हें बडे-बड़े ख़ाली स्थानों से युक्त कॉमिक्स पढ़ने का आदत हो गयी है उन्हें एक रेखीय मुद्रित टेक्स्ट के साथ तादात्म्य बिठाने में काफ़ी समय लगेगा। लेकिन इसके विपरीत, उपन्यास रूपी कॉमिक्स की बिक्री अब लाखों की संख्या में हो रही है। मेरी एक परिचित जो (औरतों के लिए) पोर्नोग्राफ़ी लिखती है, उसका कहना है कि उसकी

पाठिकाएँ वीडियो की तुलना में कॉमिक्स को तथा उपन्यास की तुलना में भी कॉमिक्स को ज़्यादा पसंद करती हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि वे इन्हें ज़्यादा शिद्दत से 'महसूस' कर सकती हैं। मुद्रित शब्दों के बीच में जो 'ख़ाली स्थान' होते हैं वे पाठक को यह अवसर प्रदान करते हैं कि वे इसे अपनी कल्पना से भरें तथा इस रचनात्मक प्रक्रिया में भाग लें। किन्तु कुछ कारणों से पुरुष पाठकों के जवाब कुछ अलग हैं। मतलब यह हुआ कि औरतों की कल्पना शायद ज़्यादा उर्वर हैं।

इंटरनेट चैट रूम बेजान और निर्जीव इबारतों की क़तार से भरा रहता है। कोई तरीक़ा नहीं है जिससे यह बताया जा सके कि किसने और किन परिस्थिति में इन शब्दों का टंकण किया है। 'हैन्डलों' के इस संसार में, सब कुछ ढँका-छिपा रहता है — चाहे वह लिखने वाले का लिंग हो, उम्र हो, व्यवसाय हो, सामाजिक स्थिति हो अथवा शारीरिक सौंदर्य हो। दूसरे शब्दों में, आपके 'हैन्डल' आपको यह पूरा अवसर देते हैं कि आप साइबरस्पेस में किसी भी व्यक्तित्व को अपना सकते हैंः साइबरस्पेस में आप अपने मौलिक व्यक्तित्व के अलावा बहुत सारे व्यक्तित्वों का प्रदर्शन कर सकते हैं, इस पर कोई ऐतराज़ भी नहीं करेगा।

इबारत के मामले में केवल आपकी भाषाई कार्यकुशलता ही मायने रखती है। क्या ऐसा कोई समय रहा है जिसमें टेक्स्ट, अपने सभी बाहरी आवरणों को दरकिनार करते हुए, अपने शुद्ध रूप में, इस तरह मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत हुआ हो? आप अपने ई-मेल सॉफ़्टवेयर के जवाबी बटन को 'क्लिक' करते ही किसी के भी टेक्स्ट को उद्धत करने के लिए मुक्त है। अन्तरपाठ्यता (Intertextualty) यानि बहुत सारे टेक्स्टों को मिलाकर एक टेक्स्ट बनाना

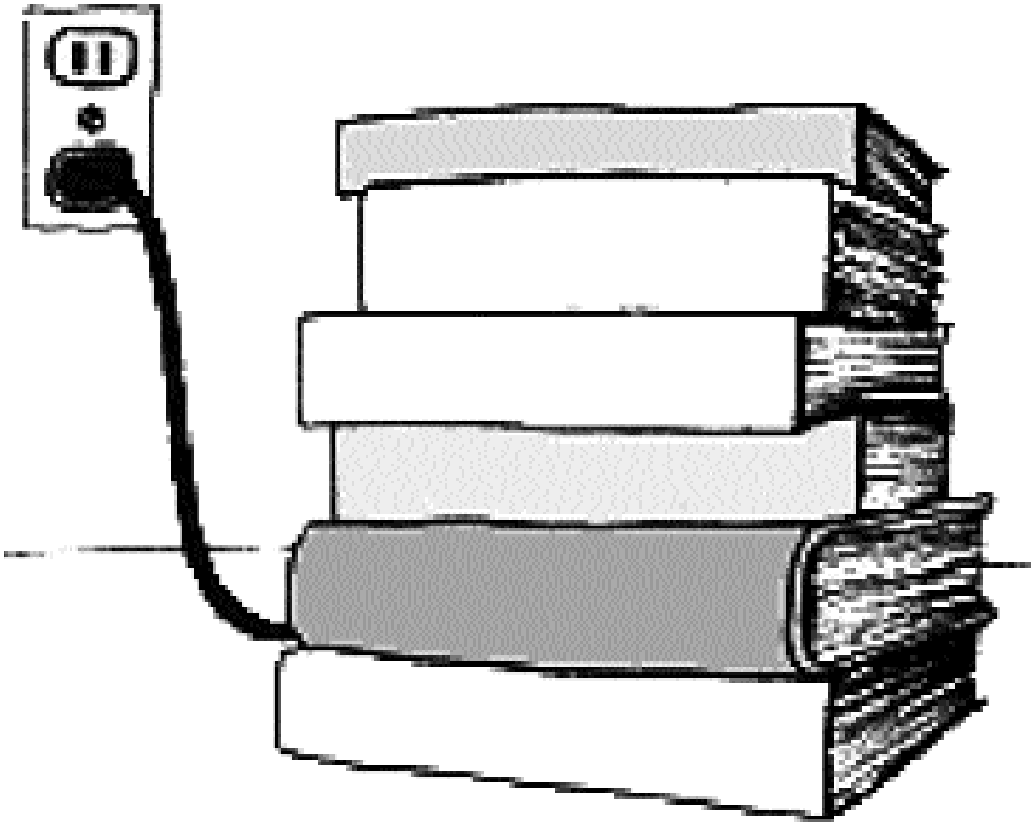

बहुत आसान है। हम लोग टेक्स्ट के आपसी संगम का आनंद उठा सकते हैं, अपना टेक्स्ट बना सकते हैं, उसे बदल सकते है, उसे पुनः बना सकते है, उसकी वैकल्पिक प्रति तैयार कर सकते हैं। साइबरजगत में, लेखकीय अधिकार न तो अब हमेशा के लिए तय है, न ही विशिष्ट।

निश्चय ही इंटरनेट की अनाम दुनिया ने कुछ नकरात्मक चीज़ें, जैसे जालसाज़ी और कुप्रचार को जन्म दिया है। लेकिन अन्ततः ये भी टेक्स्ट की ताक़त को ही प्रमाणित करते हैं। ताक़त चाहे जो भी हो, कभी-कभी उसका दुरुपयोग तो होगा ही।

भाषा से ही मानवीय कुशलता का प्रारंभ और अंत होता है। दृश्य कलाकार भी अपने कार्यों को शब्दों में व्यक्त करते हैं। शब्द उन सारी चीज़ों को व्यक्त करते हैं जो हैं और जो नहीं हैं। शब्द सत्य बोलते हैं और झूठ भी। मैं मल्टीमीडिया युग का स्वागत करती हूँ क्योंकि इसके बहुत सारे तामझाम में से, इंटरनेट ने भाषा की कुदरती ताक़त को आज़ाद कर दिया है।

जब मैं इंटरनेट के नीरस और अपरिष्कृत स्क्रीन को देखती हूँ तो मुझे लगता है कि कहीं टेक्स्ट युग के आगमन पर मैं वक़्त से पहले तो खुश नहीं हो रही हूँ? क्या इंटरनेट पर उपलब्ध टेक्स्ट पर आज जो अत्यधिक ज़ोर दिया जा रहा है वह संक्रमणकालीन लक्षण है और माध्यम की वर्तमान निम्न तकनीकी सीमाओं का परिणाम है? क्या गति और ध्वनि की मल्टीमिडिया शक्ति इंटरनेट पर भी क़ाबिज़ होने के कगार पर है? कब वह समय आएगा जब तकनीकी सुधार हमें ऑडियो और वीडियो पर एक साथ झूठ बोलने में समर्थ बनाएगा? कौन जानता है कि किसी दिन यह आम बात हो जाये कि लोग अपने होम पेज पर खुद की तस्वीर में 20 प्रतिशत माइकल जैक्सन और 30 प्रतिशत मार्लिन मुनरो को जोड़कर दस साल और छोटा दिखें।

डिजिटल युग में मौखिक परंपरा – थेन्स वोन्नायान्नावा (थाइलैण्ड)

एक मौलिक बौद्ध अवधारणा के अनुसार इस संसार रूपी भवसागर में कुछ भी स्थायी नहीं है, सभी कुछ जीवन और मरण के चक्र में फँसा हुआ है। मुद्रित पुस्तक का अस्तित्व भी इसका अपवाद नहीं है। फिर भी, मुद्रित पुस्तक के जीवन और मृत्यु पर वाद-विवाद अक्सर बहिष्कृत मध्य अर्थात् यह/वह, पक्ष/विपक्ष के मार्ग को छोड़कर, शेष के तर्क पर संकल्पित प्रतीत होता है, और यह मानवीय दिमाग़ की संभवतः सबसे बुरी बीमारी है।

भविष्य को तो केवल दिव्य दृष्टि वाला ही देख सकता है। किन्तु अज्ञात भविष्य को पहले जान लेने की इच्छा हमेशा से ही मनुष्यों विशेषतः विद्वानों और भविष्यवक्ताओं में रही है। भविष्य का विचार समय की एकरेखीय अवधारणा पर आधारित है। बेशक, रेखीय सोच-विचार के तरीक़ों के आधार पर ही एक किताब लिखी जाती है। एक पुस्तक की संरचना विचारों के एक पिरामिड के समान होती है जिसमें चिन्तन, शीर्षक, उपशीर्षक, उप-उपशीर्षक की एक तर-तमता होती है। इसका चरम बिन्दु ईश्वर के समान एक अकेले विचार की सर्वोच्चता होता है। यही लिखित संस्कृति है जिसका काफ़ी सुदृढ़ विकास पश्चिम में हुआ है।

मुद्रण तकनीक थाइलैण्ड के राजदरबार में एक अमेरिकी मिशनरी द्वारा 1836 में लायी गयी थी। तभी से, यहाँ पुस्तक के मुद्रण में एक नयी एकरेखीय अवधारणा का सूत्रपात हुआ। यह अवधारणा थाइलैण्ड के लिए बिल्कुल नयी थी। पहले, ताड़ के पत्तों पर लिखा जाता था, और उसे चौकोर आकार में काट लिया जाता था। यह पुरानी पद्धति आधुनिक स्क्रॉल (Scroll) जैसी ही है लेकिन यह घुमावदार नहीं होती बल्कि तह की हुई और पृष्ठांकित होती है। एक ही तह में रखे हुए प्रत्येक पत्ते के बीच तर्कसंगत संबंध हो, ज़रूरी नहीं है। एकरेखीय लेखन पद्धति की तुलना में थाई लेखन पद्धति खंडित होती है।

लेखन की इस भिन्न पद्धति के अलावा, पारंपरिक थाई संस्कृति मुख्यतः मौखिक परंपरा पर आधारित है। जब बौद्ध भिक्षु उपदेश देते हैं, तो वे बौद्ध ग्रंथ (त्रिपिटक) के सूत्रों का शब्दशः उच्चारण नहीं करते। लोकप्रिय और आदरणीय भिक्षु वह नहीं होते हैं जो इबारत के शब्दों को उचारते हैं बल्कि वे जो स्थानीय जनता के अनुरूप कहानी कहने, पहेली बुझाने और रूपक के इस्तेमाल में दक्ष हैं। यानी वे जो संदर्भ और प्रसंग के हिसाब से कुछ नया गढ़ते हैं। इसके अलावा, किसी के लिए मूल त्रिपिटक को पढ़ना भी अनिवार्य नहीं है क्योंकि ये ग्रंथ प्राचीन भारतीय भाषा — पाली और संस्कृत में लिखे हुए हैं — जनभाषा थाई में नहीं।

यद्यपि अनिवार्य शिक्षा यहाँ बारह वर्षों तक दी जाती है, फिर भी थाई संस्कृति लेखन-उन्मुख नहीं है। स्पष्टतः साक्षरता दर और शिक्षित संस्कृति हमेशा साथ-साथ नहीं चलती है। लेखन संस्कृति थाई मानस में अपनी जड़ नहीं जमा पायी है। पश्चिमी शिक्षा प्राप्त अभिजात वर्ग के लोगों के बीच भी लेखन संस्कृति मुश्किल से लोकप्रिय है। उदाहरण के लिए, 1932 में निरंकुश राजतंत्र की समाप्ति के बाद किसी महत्वपूर्ण राजनेता या राजनीतिक व्यक्ति द्वारा लिखी गयी, बहुत कम किताबें, जीवनियाँ या आत्मकथाएँ उपलब्ध हैं।

कम्प्यूटर पर लिखना एक तरह से मौखिक भाषा को लिखित भाषा में बदलने की क्रिया है। इसीलिए लेखन की यह नई पद्धति एक ऐसे नये वर्ग का निर्माण करेगी जो लिखित और मौखिक संस्कृति के बीच का, संकर रूप (हाइब्रिड) होगा। यह मिश्रित संस्कृति विभिन्न शीर्षकों के नेटवर्क को एक साथ दिखाती है न कि कालक्रम के साथ। और इस तरह यह किसी एकल विचार की सर्वोच्चता को अस्वीकार कर देती है। वाणी (Logos) अपने को लेखन में ज़्यादा बेहतर ढंग से प्रकट करने में समर्थ होगी। लेखन तंत्र का एकेश्वरवाद भी बहुत सारे उपलब्ध विकल्पों में अब महज़ एक विकल्प होगा।

इस परिवर्तन का अर्थ यह नहीं है कि आज की तुलना में पुस्तक के चरित्र, आकार और प्रकार में कोई बहुत बड़ा बदलाव आएगा। अभी भी पुस्तकों को बांधने और संगठित करने के लिए लगभग पहले वाले फ़रमा ही चलते हैं। लेकिन, मुद्रित पुस्तकों में तो हाइपरटेक्स्ट संभव नहीं है। अंतर्वस्तु की नवीनता रचनात्मक लेखन की नवीनता के समानुपातिक होगी। जब तक कोई इसे पढ़ नहीं ले, तब तक वह नहीं जान पाएगा कि यह कैसे लिखा जाएगा। इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति (यानी आवाज़ और तस्वीर युक्त मल्टीमीडिया) का विकास बहुत कुछ थाई लोगों की चिन्तन पद्धति से मिलता-जुलता है। लेकिन अभी कम्प्यूटर इतना महंगा उपकरण है कि इसका थाइलैण्ड के घर-घर में उपलब्ध होना संभव नहीं प्रतीत होता है। कंप्यूटरीकृत समाज की संभावना को साकार होने में अभी काफ़ी कसर है। अभी तक मैंने जो कहा है इसका यह मतलब नहीं है कि जो हम कर रहे हैं वही हम भरेंगे। यह मौखिक संस्कृति के पुनर्जन्म की भी चेतावनी नहीं है। और न ही दुनिया के मुकम्मल उलट-पलट की भविष्यवाणी है। यह वह संसार हरगिज़ नहीं है जिसे हमने खो दिया है। अफ़सोस, निराशा या अतीत के मोह की आवश्यकता नहीं है। सच तो यह है कि मौखिक/श्रव्य और दृश्य हमेशा ही हम में, हमारे लिए एवं हमारे साथ रहे हैं।

- यह गोलमेज़ अगस्त 1998 में हुआ था।

अनुवादः अनिल कुमार

सरायः एक तआरुफ़

सराय यानी आश्रय, आसरा, शरण, मुसाफ़िरखाना, धर्मशाला, रैनबसेरा आदि। रास्ते की एक ऐसी जगह जहां आप पनाह लेते हैं। दूरदराज़ के लोगों के साथ वक़्त गुज़ारते हैं।

सराय कार्यक्रम बातचीत, रचना और गति की ज़मीन हैं। संचार की सैद्धांतिक और व्यावहारिक सीमाओं को तोड़ने की ज़िद है।

परिचय

सराय का जन्म विश्वविद्यालय और शहर तथा मीडियाकर्म और उसकी आलोचना के बीच की औपचारिक खाइयों से परेशान विद्वानों और संचारकर्मियों के बीच संवाद से हुआ। साथ ही नए संचार माध्यमों की संभावनाओं, चुनौतियों और हिंदुस्तान जैसे देश में उसकी सीमाओं ने भी हमें कल्पना के स्तर पर झकझोरा। इस संदर्भ में हमारी कोशिश रही है कि दक्षिण एशिया में एक ऐसी आम जगह बनायी जाए जो खुली, जीवंत और प्रयोगधर्मी हो।

सराय संसार के दूसरे सहयोगी समूहों से जुड़कर समकालीन शहरी जनसंस्कृति, रेडियो, मल्टीमीडिया और इंटरनेट पर रचना और चिंतन के मौक़े प्रदान करता है। बतौर जगह और नेटवर्क के, इसका उद्देश्य है कि पुराने और नए संचार माध्यमों और विश्वायन के संदर्भ में शहरी जीवन के बदलते स्वरूप पर शोधकर्ताओं, कलाकारों और जनकर्मियों को साथ जोड़े।

हमारी लगातार कोशिश है कि हम एक ग़ैर-व्यावसायिक और आलोचनाप्रिय कार्यक्रम बनाएं जहाँ नयी गतिविधियों, प्रयोगों और रचनाओं के द्वारा दक्षिण एशिया के इतिहास और समकालीन जीवन पर शोध और कर्म की साझी ज़मीन विकसित हो सके।

यह पहल बड़े लोगों का विशिष्ट अड्डा बनकर न रह जाए इसके लिए हमने अनेक क़दम उठाए हैं। जहाँ एक ओर टैक्टिकल मीडिया में हस्तक्षेप करने के अवसर खोजे हैं, वहीं दूसरी ओर फ़िल्म, सॉफ़्टवेयर, पर्यावरण और अन्य मुद्दों पर नियमित कार्यक्रम चलाए हैं। ये गतिविधियाँ सराय में, सहयोगी संस्थाओं में और सराय द्वारा समर्थित बस्तियों के मीडिया लैब में आयोजित की जाती हैं।

उद्देश्य और लक्ष्य

शहरी संस्कृति तथा मीडिया के सिद्धांत और कर्म की विषयगत हदों के आर-पार शोध को बढ़ावा देना;

दिल्ली शहर की ऐतिहासिक और मौजूदा संस्कृति में हस्तक्षेप कर उसका अटूट हिस्सा बनना;

सोचने वालों और बरतने वालों को मिलकर काम करने के मौक़े प्रदान करना;

मीडिया और संचार के क्षेत्रों में सस्ती पर प्रभावी तकनीक जुटाना और आम शिरकत की प्रतिबद्धता;

सांस्कृतिक प्रयोगों में ग़ैर-मालिकाना (कॉपीलेफ़्ट) और सहयोगी विचार, व्यवहार और आदर्श को प्रोत्साहन देना।

सराय विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) का कार्यक्रम है।

रचनाकार परिचय

अविनाश कुमार : इतिहासकार. हिन्दी और अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में समान रूप से लेखन. जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से 'मेकिंग ऑफ़ द हिन्दी लिट्ररी फ़ील्ड: जर्नल्स, इंस्टीट्यूशंस ऐण्ड पर्सपेक्टिव्ज़ 1900-1940' पर डॉक्टरेट. संप्रति महात्मा गांधी हिन्दी विश्वविद्यालय में कार्यरत. avinash332@rediffmail.com

फ़्रंचेस्का ओरसीनी : इंग्लैंड में बसी इतालवी मूल की इतिहासकार. *द हिन्दी पब्लिक स्फ़ियर: लैंग्वेज ऐण्ड लिट्रेचर इन दि एज ऑफ़ नैशनलिज़्म, 1920-1940* की लेखिका. संप्रति केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापन. fo201@cns.com.ac.uk

चारु गुप्ता : इतिहासकार. सांप्रदायिकता, राष्ट्रवाद और स्त्री-पुरुष संबंधों पर हिन्दी और अंग्रेज़ी में लेखन. *सेक्शुऐलिटी, ऑब्सिनिटी, कम्युनिटी: विमेन, मुस्लिम्स ऐण्ड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया* की लेखिका. संप्रति मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर. charu7@mantraonline.co.in

प्रगति महापात्र : इतिहासकार. सोआस लंदन विश्वविद्यालय से 'द मेकिंग ऑफ़ ए कल्चरल आइडेंटिटी: लैंग्वेज लिट्रेचर ऐण्ड जेंडर इन ओड़िसा इन लेट नाइन्टीन्थ ऐण्ड अर्ली ट्वेन्टीएथ सेंचुरीज़' पर डॉक्टरेट. संप्रति इंद्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर. pragatimohapatra@yahoo.co.in

अभय कुमार दुबे : लेखक, संपादक और अनुवादक. नक्सलवादी आंदोलन, दलित आंदोलन, सांप्रदायिकता, नारी मुक्ति आंदोलन और संस्कृति संबंधी विषयों पर विस्तृत लेखन. कृतियाँ: *क्रांति का आत्मसंघर्ष: नक्सलवादी आंदोलन के बदलते चेहरे का अध्ययन; सांप्रदायिकता के स्रोत* (संपा.); *भारतनामा* (सुनील खिलनानी के *आइडिया ऑफ़ इंडिया* का अनुवाद) और *भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान* (पवन वर्मा के *द ग्रेट इंडियन मिड्ल क्लास* का अनुवाद). संप्रति, विकासशील समाज अध्ययन पीठ में भारतीय भाषा कार्यक्रम में संपादक. abhaydube2001@yahoo.com

मनोहर श्याम जोशी : हिन्दी के हरफ़नमौला गद्यकार. भूतपूर्व *साप्ताहिक हिंदुस्तान* के अभूतपूर्व संपादक. दूरदर्शन के लिए शुरुआती सोप ऑपेरा जैसे *हम लोग* और *बुनियाद* तथा *पापा कहते हैं* और *अप्पू राजा* जैसी फ़िल्मों का लेखन. *कसप* से लेकर *कुरु-कुरु स्वाहा* और *हमज़ाद* तक शिल्प के नित्य नये प्रयोग. हालिया कृतियाँ: *क्याप, इक्कीसवीं सदी* और *लखनऊ मेरा लखनऊ*. mshyamjoshi@yahoo.co.uk

प्रभात रंजन : विविध रुचि संपन्न लेखक. 'उत्तर-आधुनिकतावाद और मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास' पर दिल्ली विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट. कृतियाँ: असग़र वजाहत के साथ *टेलीविज़न लेखन* और पंत की कविताओं पर केन्द्रित *स्वच्छंद* (संपा.). संप्रति महात्मा गाँधी हिन्दी विश्वविद्यालय के पत्र *बहुवचन* के संपादक. prabhatranjan@rediffmail.com

सुधीश पचौरी : मार्क्सवादी उत्तर-संरचनावादी समीक्षक, मीडिया चिंतक और स्तंभकार. मीडिया पर दर्जन भर पुस्तकों के लेखक. हालिया कृतियाँ *नये जन संचार माध्यम और हिन्दी* (सह संपा.), *विभक्ति और विखंडन*. संप्रति ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य), दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक. azdak@hotmail.com

संजय शर्मा : इतिहासकार और रेडियो प्रसारक. हिन्दी और अंग्रेज़ी में लेखन. *फ़ैमिन फ़िलैन्थ्रॉपी ऐण्ड द कोलोनियल स्टेट: नॉर्थ इंडिया इन दि अर्ली नाइन्टीन्थ सेंचुरी* के लेखक. संप्रति ज़ाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर और बीबीसी के लिए स्वतंत्र प्रसारक. sanjay-sharma@mantraonline.com

बाप्सी सिध्वा : पाकिस्तानी मूल की मशहूर अंग्रेज़ी लेखिका. प्रमुख उपन्यासः *आईस कैंडी मैन, द पाकिस्तानी ब्राइड, द क्रो ईटर्स*. संप्रति कोलंबिया विश्वविद्यालय, राइस यूनिवर्सिटी, यूनिवर्सिटी ऑफ़ ह्यूस्टन में अध्यापन. Bsidhwa@aol.com

मॉनिका नरूला : फ़िल्मकर्मी, सिनेमैटॉग्रफ़र, फ़ोटॉग्रफ़र और लेखिका, रक़्स मीडिया कलेक्टिव और सराय की संस्थापक सदस्य. हालिया कृतियाँः शहरी भूदृश्य और मीडियाकर्म का फ़ोटॉग्राफ़ीय विवेचन और मीडिया विनिमय के खुले मंच की संकल्पना. संप्रति सराय मीडिया लैब में नवसंचार और डिजिटल परियोजनाओं पर कार्यरत. monica@sarai.net

जीबेश बागची : फ़िल्मकर्मी, मीडियाकर्मी और लेखक, रक़्स मीडिया कलेक्टिव और सराय के संस्थापक सदस्य. पिछले दो-तीन वर्षों में सायबर मोहल्ला जैसी टैक्टिकल और डिजिटल मीडिया संकल्पनाओं को साकार करने में प्रयासरत. jeebesh@sarai.net

आलोक राय : लेखक, आलोचक और अनुवादक. पहले आईआईटी दिल्ली और अब दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर. कृतियां *जार्ज आर्वेल ऐण्ड द पॉलिटिक्स ऑफ़ डिस्पेयर, हिन्दी नैशनलिज़्म,* 'कल्पना का अंत यहाँ' (अरुंधति रॉय के 'एण्ड ऑफ़ इमैजिनेशन' का अनुवाद), *निर्मला* (प्रेमचंद, हिन्दी से अनुवाद). alokrai@hss.iitd.ernet.in

शाहिद अमीन : दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफ़ेसर. सबॉल्टर्न स्टडीज़ के संस्थापक संपादकों में से एक. हालिया प्रकाशनः *इवेंट, मेटाफ़र मेमरीः चौरी-चौरा (1922-92)*; ज्ञानेंद्र पाण्डेय के साथ *निम्नवर्गीय प्रसंग — भाग 1 और 2* का संपादन. samin@del6.vsnl.net.in

पलाश कृष्ण मेहरोत्रा : वेब पत्रकार. सेंट स्टीफ़ेन्स, डी. स्कूल और ऑक्सफ़र्ड में दर्शनशास्त्र और समाजशास्त्र पढ़ने के बाद संप्रति तहलका.कॉम के साहित्यिक चैनल के साथ कार्यरत.

सदन झा : सांस्कृतिक इतिहासकार. दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधरत, इतिहास और जनसंस्कृति में उभयचर लेखन. संप्रति सराय एवं विकासशील समाज अध्ययन पीठ से संबद्ध. jhasadan@hotmail.com

ब्रूस स्टर्लिंग : *होली फ़ायर* (विलियम गिब्सन के साथ) और *द डिफ़रेंस इंजिन* जैसे विज्ञान उपन्यासों के लेखक. 'द हैकर क्रैकडाउन' सहित हैकिंग और सायबरस्पेस पर विस्तृत लेखन. www.rich.edu/projects/RDA/programs/virtualcity/sterling; bruce@well.com

रवि सुन्दरम : नव मीडिया चिंतक और सराय के संस्थापक सदस्य. भारत में नए मीडिया और आधुनिकता पर अनेक लेख. संप्रति विकासशील समाज अध्ययन पीठ में फ़ेलो. http://www.nettime.org/nettime.w3archive/199611/msg0018.htm; ravis@sarai.net

रविकान्त : इतिहासकार, लेखक और अनुवादक. *ट्रांस्लेटिंग पार्टीशन* के सह संपादक. संप्रति नव संचार के मसलों पर सराय में कार्यरत. ravikant@sarai.net

इयान क्लार्क : स्कॉटलैंड के एडिनबरा विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए फ़्रीनेट का निर्माण. नेट को नया रूप देने में अहम भूमिका. www.sanity.uklinux.net; I.Clarke@strs.co.uk

मृत्युंजय चैटर्जी : डिज़िटल और वेब कलाकार. अन्य कलाकारों मीडिया कर्मियों और छायाकारों के साथ कई साझा प्रॉजेक्ट किए हैं. संप्रति सायबर मोहल्ला प्रॉजेक्ट के लिए टैक्टिकल डिज़ाइन पाठयक्रम के विकास में सन्नद्ध. सराय मीडिया लैब में कार्यरत. www.naksiink.com; joy@sarai.net

रिचर्ड स्टॉलमैन : GNU प्रॉजेक्ट और फ्री सॉफ़्टवेयर फ़ाउंडेशन के संस्थापक. नए मीडिया में आज़ादी के मसलों पर प्रमुख चिंतक. www.gnu.org; rms@stallman.org

जैरोन लैनियर : कम्प्यूटर वैज्ञानिक, कंपोज़र, दृश्य कलाकार और लेखक. 'वर्चुअल रिऐलिटी' (आभासी यथार्थ) इन्हीं के गढ़े शब्द हैं. संप्रति नैशनल टेली-इमर्शन इनिशिएटिव में प्रमुख वैज्ञानिक.
www.well.com/~jaron; jaron@advanced.org

गीयर्ट लोविंक : ऑस्ट्रेलिया में बसे स्वतंत्र मीडिया सिद्धांतकार और नेट-आलोचक. नेट टाइम मेलिंग लिस्ट्स के संस्थापक, Adilkno के सदस्य और ऑनलाइन सामुदायिक सर्वर 'डिजिटल सिटी' के सह-संस्थापक. हालिया प्रकाशनः *डार्क फ़ाइबरः ट्रैकिंग क्रिटिकल इंटरनेट कल्चर* (2002). इनके लेखन का वेब संकलन www.landanum.net/geert पर उपलब्ध है. geert@xs4all.net

भास्कर जुयाल : कविता, अनुवाद और समीक्षा कर्म के अलावा समसामयिक मुद्दों पर लेखन, एक अनूदित पुस्तक प्रकाशित. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के भारत पर केन्द्रित छह खंडों में प्रकाशित हिन्दी संस्करण *भारत ज्ञानकोश* का संपादन. bhaskarjuyal@yahoo.co.in

योगेन्द्र दत्त : आठ-दस साल तक छात्र-युवा राजनीति में सक्रिय हिस्सेदारी. पिछले पाँच साल से स्वतंत्र अनुवाद. प्रकाशनः *नागर समाज राज्य और बाज़ार* (मूल लेखक राजेश टंडन). translation1@rediffmail.com

अनिल कुमार : पटना विश्वविद्यालय से राजनीति शास्त्र में स्नातक. विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेखन.
anil18_singh@rediffmail.com

उएनो चिज़ुको : टोक्यो विश्वविद्यालय के ग्रैज्युएट स्कूल ऑफ़ ह्यूमैनिटीज़ में अध्यापन. पूंजीवादी समाज में सेक्शुऐलिटी और लिंग भेद पर विस्तृत लेखन. कृतियाँः *द राइज़ ऐण्ड फ़ॉल ऑफ़ द मॉडर्न फ़ैमिली* (1994) और *नैशनलिज़्म ऐण्ड जेंडर* (1998).

हॉवर्ड राइनगोल्ड : *"मैं टाइपराइटर के दरवाज़े से कम्प्यूटर के अहाते में घुसा और कम्प्यूटर में टेलीफ़ोन का तार लगते ही नेट ने मुझे अपने आग़ोश में ले लिया।"* 'हॉट वायर्ड' ऑनलाइन पत्रिका के पहले संपादक. सायबर जगत में सामुदायिकता के बुज़ुर्ग हिमायती. राइनगोल्ड उस उफ़क पर जीते हैं जहाँ दिमाग़ मशीन से मिलता है. चुनिंदा कृतियाँः *टूल्स फ़ॉर थॉट* (1985), *वर्चुअल रिऐलिटी, वर्चुअल कम्युनिटी* (1993).
http/www.rheingold.com; hrl@well.com

थेन्स वोन्गयान्नावा : थाइलैंड के थाम्मासात विश्वविद्यालय में राजनीतिक विज्ञान के शिक्षक. दर्शन और सामाजिक इतिहास में भी रुचि. समकालीन संगीत, फ़िल्म और पाककला पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में विस्तृत लेखन.

प्रभात कुमारः इतिहास के विद्यार्थी. संप्रति जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में रामवृक्ष बेनीपुरी के कृतित्व पर शोधरत.

रॉजर शार्तिए : सांस्कृतिक इतिहासकार. इकोल द औत एत्युद आँ स्यांसे सोसाइत्ये, पेरिस के निदेशक. प्रमुख कृतियाँः *ए हिस्ट्री ऑफ़ रीडिंग इन द वेस्ट; कल्चरल हिस्ट्री बिटवीन प्रैक्टिसिस ऐण्ड रेप्रेज़ेंटेशन्स; द कल्चर ऑफ़ प्रिटः पावर ऐण्ड द यूसेज ऑफ़ प्रिंट इन अर्ली मॉडर्न युरोप* (संपा.).

रेणु अय्यर : न्यू मीडिया आर्टिस्ट. एम.एस. युनिवर्सिटी बड़ौदा के ललित कला संकाय से शिक्षा. कला के पारंपरिक खाँचे से आज़ाद होने की तड़प ने सराय लाकर पटका, जहाँ फ़िलवक़्त बतौर इंटरफ़ेस ऐनिमेटर कार्यरत हैं. www.sarai.net; renu@sarai.net

प्रभाष रंजन : दिल्ली विश्वविद्यालय से इतिहास पढ़ने के बाद स्वतंत्र शोध. सराय के साथ 'शहर के निशां' प्रॉजेक्ट पर कार्यरत. nirbhayaprabhas@yahoo.com

श्वेता : पत्रकारिता और सामाजिक कार्य की पढ़ाई. सराय के सायबरमोहल्ला के प्रॉजेक्ट पर कार्यरत. गालियों से/by lanes का सम्पादन. shveta@sarai.net

ज़मरूदा खाण्डे : क़ानून और सामाजिक कार्य की पढ़ाई. सराय के सायबरमोहल्ला के पीपीएचपी प्रॉजेक्ट के अलावा क़ानून और नारी विषयों पर कार्यरत. zamrooda@sarai.net

आभार

हम सीएसडीएस, दिल्ली के आभारी हैं जिन्होंने सदा सराय कार्यक्रम को समर्थन दिया है. भारतीय भाषा कार्यक्रम से जुड़े अभय कुमार दुबे, योगेन्द्र यादव और आदित्य निगम ने लगातार मार्ग दर्शन किया है. संस्था के लाइब्रेरियन सुजीत देब के भी हम शुक्रगुज़ार हैं जिन्होंने हिन्दी की किताबों के लिए अतिरिक्त उत्साह दिखाया है. हम कालूराम जी के भी आभारी हैं जिन्होंने दफ़्तर को काम लायक़ बनाए रखा और अनगिनत कप चाय पिलायी.

इस दीवान की कहानी *हंस* में छपे एक विज्ञापन से शुरु हुई. हम उन सभी लेखकों और छायाकर्मियों के आभारी हैं जिन्होंने इस दीवान में अपनी रचनाएं दी हैं. उनके भी जिनकी रचनाओं का छपना दीवान के बदलते स्वरूप के साथ मुल्तवी हो गया है. कई मित्रों ने हर संभव तरीक़े से मदद की है, खासकर प्रभात रंजन, संजीव कुमार, राजीव कुँवर, पंकज झा, नरेश गोस्वामी, विभास चंद्र वर्मा और प्रभात कुमार झा का हम शुक्रिया अदा करना चाहेंगे.

और सबसे ज़्यादा हम शुक्रगुज़ार हैं सोहन पाल के जिनकी संपादन और टाइपिंग प्रतिभा के बग़ैर यह दीवान संभव ही नहीं होता।

प्रदीप कुमार और सौम्या गुप्ता ने पुरानी पत्र-पत्रिकाओं के संग्रह उपलब्ध कराए जिससे दीवान के डिज़ाइन में बहुत मदद मिली।

इस दीवान में अनेक लेख इंटरनेट से लिये गए हैं. हमने हर संभव कोशिश की है कि इनके लेखकों से इजाज़त ली जाए. हम आशा करते हैं कि वे लेखक जिनसे हम संपर्क नहीं साध पाए, उनको अपनी कृति दीवान में छपने से कोई आपत्ति नहीं होगी.

नीचे हमने उन लेखों/छवियों का विवरण दिया है जो दीवान में छपने से पहले कहीं और प्रकाशित हो चुके हैं या इंटरनेट पर मौजूद हैं.

लेख

मनोहर श्याम जोशी, 'मास मीडिया और साहित्य', *साक्षात्कार*, अक्टूबर 1996.

सुधीश पचौरी, 'इस प्रपंच में सिर्फ़ स्त्री न थी', *उत्तरआधुनिक प्रस्थान बिन्दु*, आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली, 2002.

बाप्सी सिध्वा, 'टेलीविज़न बहिष्कार के वे दिन', *डेली टाइम्स* (लाहौर) में 23 जुलाई 2002 को 'The way it was: The television boycott' के शीर्षक से प्रकाशित और हर्ष कपूर द्वारा सराय रीडर लिस्ट पर प्रसारित.
http://www.mail.sarai.net/pipermail/reader-list/2002/001616.html

'...जो जिगर के पार होता', तहलका.कॉम पर आलोक राय, शाहिद अमीन और पलाश कृष्ण मेहरोत्रा के बीच हुई बातचीत 'The Day Hindi Died' का अनुवाद है. http://www.tehelka.com/channels/literary/2001/Oct/16.

जीबेश बागची, 'भारत में मीडिया और राज्यः कालक्रम', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'A Chronology of Media and the State (in India)' का अनुवाद.

ब्रूस स्टर्लिंग, 'इंटरनेट का संक्षिप्त इतिहास', 'Short History of the Internet' का अनुवाद.
http://www.forthnet.r/forthnet/isoc/short.history.of.internet

रवि सुन्दरम, 'आधुनिकता के पुनर्संस्करणः भारत की दोनंबरी इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'Recycling Modernity: Pirate electronic cultures in India' का अनुवाद.

मृत्युंजय चैटर्जी, 'चारदीवारी के भीतर', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'On the Shopfloor: A personal account of work in the IT industry: India' का अनुवाद.

'कॉपीलेफ़्ट क्या है', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'What is Copyleft' का अनुवाद. www.gnu.org/copyleft/copyleft.html

इयान क्लार्क, 'आग का कॉपीराइट', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'Copyrighting Fire' का अनुवाद. www.gnu.org/philosophy/fire.html

रिचर्ड स्टॉलमैन, 'सॉफ़्टवेयर किसी की मिल्कियत नहीं होनी चाहिएः क्यों?', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'Why software should have no owners' का अनुवाद.
www.gnu.org/philosophy/why-free.html

'कुछ भ्रामक/द्विअर्थी शब्द और जुमले... जिनसे बचना चाहिए', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'Some confusing/Loaded words + Phrases (that are worth avoiding)' का अनुवाद. www.gnu.org

जैरोन लैनियर, 'पायरेसी आपका दोस्त है' *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'Piracy is your friend' का अनुवाद. सर्वप्रथम *न्यूयॉर्क टाइम्स* में 9 मई 1999 में छपा.
www.maui.net/~zen_gtr/zgzineback.html

'हैकर नैतिकता', *Sarai Reader 01: The Public Domain* में छपे 'Hacker's Ethic' का अनुवाद.
http://hoshi.cic.sfu.ca/~guay/Paradigm/Hacker.html

रिचर्ड स्टॉलमैन, 'कॉपीराइट का पूर्नमूल्यांकनः केन्द्र में जनता ही रहे', 'Reevaluating Copyright: The Public Must Prevail' का अनुवाद. http://www.gnu.org/philosophy/reevaluating-copyright.html

गीयर्ट लोविंक, 'टैक्टिकल मीडियाः एक अन्तरंग निर्देशिका', 'An Insider's guide to tactical media', *Dark fibre* (MIT Press, 2002) का अनुवाद.

रॉजर शार्तिए, हॉवर्ड राइनगोल्ड, उएनो चिज़ुको, थेन्स वोन्गयान्नावा, 'डिजिटल युग में पुस्तक का भविष्य' *द बुक ऐण्ड द कम्प्यूटर* नामक ऑनलाइन जर्नल से लिया गया है। http://www.honco.net/archive/rt1.html

उद्धरणः भाषा के बोल भूमिका पृष्ठ

अभय कुमार दुबे, अप्रकाशित लेख 'क़िस्सा हिंदी के "ह्यूमिलिएशन" काः *बैताल पचीसी* की छब्बीसवीं कहानी उर्फ़ अवमानना की इंजीनियरिंग' से.

आदित्य निगम, 'Hindi's Unhappy Consciousness', *Hindi: Language Discourse Writing*, Vol II, No. 1, April-June 2001, pp. 213-21.

मनोहर श्याम जोशी, 'हिंदी की ऐसे तो हिंदी ही हो जाएगी', *21वीं सदी*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2001.
योगेन्द्र यादव, 'हिंदी में समाजविज्ञान का स्वरूप', *समयांतर*, जुलाई 2002.

अचला शर्मा, *नए जन-संचार माध्यम और हिन्दी* (संपा. सुधीश पचौरी, अचला शर्मा), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2002.

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, *भाषाई अस्मिता और हिन्दी*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1996.

रेखाचित्र

1. Sandria B. Freitag (ed), *Culture and Power in Banaras: Community Performance, and Environment, 1800-1980*. Oxford University Press, Delhi, 1989.

2. Charu Gupta, *Sexuality, Obscenity, Community: Women, Muslims, and the Hindu Public in Colonial India.* Permanent Black, Delhi, 2001.

3. Francesca Orsini, *The Hindi Public Sphere 1920-1940: Language and Literature in the Age of Nationalism.* Oxford University Press, Delhi, 2002.

4. पृष्ठ संख्या 2, गंगा प्रवाह-1, तरंग-2 दिसंबर 1930.

5. पृष्ठ संख्या 122, राष्ट्रभाषा संदेश, बुधवार 1 अप्रैल 1970.